जीवन-व्यवस्था

काकासाहब कालेलकर

नवजीवन प्रकाशन मन्दिर
अहमदाबाद – १४

जीवन-व्यवस्था

काकासाहब कालेलकर

अनुवादक
सोमेश्वर पुरोहित

नवजीवन प्रकाशन मन्दिर
अहमदाबाद – १४

मुद्रक और प्रकाशक
जीवणजी डाह्याभाओी देसाओी
नवजीवन मुद्रणालय, अहमदाबाद – १४

© नवजीवन ट्रस्ट, १९६७

पहला संस्करण २०००

रु० ७.००   अगस्त, १९६७

जीवन-व्यवस्थामें विश्व-समन्वय

मेरी गुजराती पुस्तक 'जीवन-व्यवस्था' को अखिल भारतीय साहित्य अकादमीने सन् १९६६ का प्रथम पुरस्कार न दिया होता, तो अुसकी ओर हिन्दीके प्रकाशकोंका ध्यान शायद ही जाता; हालांकि मुझे यह कबूल करना चाहिये कि हिन्दी प्रकाशकोंकी दृष्टि दिन-पर-दिन काफी अखिल भारतीय होती जा रही है। अनेकोंने 'जीवन-व्यवस्था' का हिन्दी अनुवाद करा कर प्रकाशित करना चाहा, किन्तु मैं हमारे नवजीवन प्रकाशन मंदिरके साथ आत्मीयतासे बंधा हूं। अुसीने यह हिन्दी संस्करण प्रकाशित करनेकी तत्परता बताअी।

भारतीय संस्कृति आज तक प्रधानतया धर्म-प्रधान ही रही है। और भारत-भाग्य-विधाताने भी भारतको दुनियाके प्रधान धर्मोंका धाम बना रखा है। चीनके कॉनफ्युशियस और लाओत्सेकी धार्मिक परंपराओंको यदि हम बाजू पर रख दें, तो हम कह सकते हैं कि दुनियाके सबके सब धर्म भारतीय जनताको प्रेरित कर रहे हैं और भारतीय चिन्तनसे पोषण भी प्राप्त कर रहे हैं।

आज हम वैज्ञानिक दृष्टिसे समाज-व्यवस्थाका और मानवीय संस्कृतियोंका स्वतंत्र चिन्तन भले ही करें, मनुष्य-जातिने आज तक धार्मिक प्रेरणासे ही सामाजिक जीवनका विकास किया है। और मनुष्य-जातिकी सब संस्कृतियां अभी अभी तक धर्म-प्रधान ही रही हैं। अथवा हम अैसा भी कह सकते हैं कि मानवी संस्कृतिको जिन जिन सार्वभौम विचारोंने और जीवन-दृष्टियोंने प्रेरणा दी है, अुन विचारों और दृष्टियोंको धर्मके नामसे ही पहचानना चाहिये। हमारे मन पश्चिमके विज्ञानके अुपासकोंने जो जीवन-दृष्टि समस्त जगतको दी है, वह अेक नया धर्म ही है; और अर्थ-व्यवस्थाको तथा राजनैतिक सत्ताको प्रधानता देकर दुनियामें जो साम्यवाद प्रचलित हुआ है, अुसे भी अेक आधुनिक अथवा अद्यतन जड़वादी धर्म ही कहना चाहिये। भारतकी गांधी-प्रणीत सर्वोदय-दृष्टि भी दुनियाका अेक संतोषप्रद नया धर्म बन जाय, तो तनिक भी आश्चर्य नहीं। भले ही धर्मोंने आज तक आत्मा, परमात्मा, अिहलोक और परलोक अेवम् पूर्व-जन्म तथा पुनर्जन्म और मोक्षका ही प्रधानतया चिन्तन किया हो और अीश्वरके अवतारोंको धर्म-संस्थापक माना हो, सब धर्मोंका मूल अुद्देश्य मानवी जीवनको सुव्यवस्थित, अुन्नत और कृतार्थ करना ही है। अिसीलिअे हम आस्तिक, नास्तिक, वैज्ञानिक तथा गूढ़वादी सब धर्मोंको जीवन-व्यवस्थाके रूपमें ही पहचानते हैं, फिर वह जीवन व्यक्तिगत हो, पारिवारिक हो या विशाल रूपमें

सामाजिक हो। और यदि हम गहराअीसे सोचें, तो परलोक और मोक्ष भी जीवनके क्षेत्रका ही काल्पनिक अथवा सच्चा गूढ़ विस्तार है।

मनुष्यके लिअे चिन्तनका और पुरुषार्थकी साधनाका अेकमात्र विषय अथवा क्षेत्र जीवन ही है। केवल मनुष्यगत जीवन नहीं, जीवमात्रके जीवनका चिन्तन करके ही हम अपनी सारी प्रवृत्ति, निवृत्ति और अुसकी साधना चलाते आये हैं।

संकुचित दृष्टिके कारण जिसे हम जड़ सृष्टि कहते हैं, अुसकी अुत्पत्ति, स्थिति, लय और पुनरुत्पत्तिका विचार किये बिना हमारा जीवन-चिन्तन पूर्ण और संतोषप्रद हो ही नहीं सकता। अिसीलिअे जीवनको अुद्दीपित करनेवाले और जीवनके किसी भी अंगकी अुपेक्षा न करनेवाले हमारे पुराण-साहित्यने 'सर्ग और प्रतिसर्ग' के अितिहाससे ही प्रारंभ किया है। अिसलिअे प्राचीन, मध्य-कालीन और अद्यतन सब धर्मोंको जीवन-व्यवस्थाके नामसे ही पहचानना हमने अुचित माना है।

इस व्यापक व्याख्या और दृष्टिसे अगर हम कोअी अेक ग्रंथ लिखनेकी हिम्मत करते, तो वह हमारी हिमाकत ही हो जाती। हमने भारतीय जीवनके विकासका अध्ययन और चिन्तन करते हुए समय-समय पर जो जीवन-व्यवस्था-मूलक कुछ निबंध लिखे, अुन्हींका यह अेक छोटासा संग्रह है। यहां किया हुआ चिन्तन और प्रस्तुत की हुअी जीवन-दृष्टि है तो पारमार्थिक, किन्तु हमारा यह दावा नहीं हो सकता कि हमने जीवनके सब पहलुओं पर प्रकाश डाला है। ये सारे निबंध किसी अेक योजनाको लेकर भी लिखे हुअे नहीं हैं। शिक्षण-क्षेत्रमें और सामाजिक सुधार तथा विकासमें, यथाशक्ति सेवा करते हुअे प्रसंगवशात् जो कुछ हमने लिखा था अुसीका संग्रह यहां किया गया है। अिन निबंधोंके वर्गी-करणकी तरफ पाठक ध्यान न दें। अेक अेक निबंधको वे अेक स्वतंत्र विचारके विवरणके रूपमें ही मान लें और सारे संग्रहको देशके मनीषियोंका अेक नम्र अनुनय ही समझ लें।

हमारे यहां धर्मका नाम लेकर झगड़े बहुत हुअे हैं। यहां तक कि आजके बहुतसे लोग अब धर्मका नाम सुनते ही नाराज हो जाते हैं और सारी चर्चाको दकियानूसी कहकर बाजू पर रखना चाहते हैं।

लेकिन कोअी अैसा न माने कि धर्मके झगड़े केवल भारतमें ही हुअे हैं। दुनियामें अेक भी देश अैसा नहीं है, जिसने धर्मके नाम पर मनुष्यका रक्त न बहाया हो। शायद अधिकसे अधिक धर्मचर्चा करनेवाले भारतने ही मनुष्यका रक्त धर्मके कारण कमसे कम बहाया होगा। भारतमें झगड़ा टालनेकी वृत्ति है ही। यानी झगड़े खड़े हों तो मार-काट चलाकर हिंसाके द्वारा झगड़ा मिटानेका प्रयत्न भारतमें कमसे कम होता है। झगड़े न तो मिटेंगे, न मारामारी तक

पहुंचेंगे। 'जैसा भी चले वैसा चलानेको' भारतीय मानस तैयार होता है। जबरदस्तके सामने झुक जाना किन्तु अुसकी भी पूरी चलने नहीं देना और जो भी नतीजे आयें अुनको मंजूर रखना — यह है भारतीय स्वभावकी नीति।

हिन्दू शब्दकी निरुक्ति भी अिसी मनोवृत्तिको स्पष्ट करती है।

हिंदू शब्द अिंदू परसे आया होगा, अथवा सिंधू नदी परसे आया होगा, अथवा किसी अीरानी शब्दके रूपांतरसे बना होगा। निरुक्ति कभी भी व्युत्पत्तिके बारेमें सोचनेके लिअे बंधी हुअी नहीं है। निरुक्ति कहती है: हिंदू शब्दमें दो अक्षर हैं — 'हिं' और 'दू'। अिन अक्षरोंमें से हम कोअी अैसा अर्थ निकालेंगे, जिससे हिंदू शब्दका सांस्कृतिक भाव सिद्ध हो सके। निरुक्तिने तय किया: 'हिं' माने हिंसा, 'दू' माने दु:ख; और हिंदू शब्दका अर्थ किया: हिंसासे, हिंसाको देखकर जिसके चित्तको दु:ख होता है वह है हिंदू। (हिंसया दूयते चित्तं यस्याऽसौ हिंदुरीरितः।) हम लोग जहां तक हो सकेगा हिंसाको टालेंगे। जबरदस्तकी बात कुछ हद तक मान जायेंगे और जैसा भी हो सकेगा निभायेंगे।

अिस मनोवृत्तिसे भारतका पुरुषार्थ क्षीण हुआ ही है। किसी भी बातमें अुत्तम स्थिति तक हम कभी पहुंचेंगे ही नहीं। जैसा चलता है अुसीसे संतोष मानेंगे। फलत: न तो हमारे जीवनमें प्रसन्नता रहती है; न दूसरे लोगोंके प्रति पूरी पूरी आत्मीयता। और दु:खकी बात तो यह है कि अैसी निष्प्राण शांतिको ही हम चलाते हैं और अुसी हालतको नीरोग स्थिति मानते हैं। जब रोगको रोगके तौर पर आदमी पहचाने तब अुसका अिलाज करनेका अुसे सूझेगा। रोगी हालतको ही मनुष्य जब स्वाभाविक स्थिति मान लेता है तब तो सुधारकी कोअी आशा ही नहीं रहती।

भारतमें अनेक-धर्मी लोग अेकसाथ रहते हैं। अिसी देशके चंद लोगोंने बाहरके धर्मोंका स्वीकार किया। क्यों किया, कैसे किया, अिसके अितिहासमें जाना व्यर्थ है। आज अुन लोगोंको अपने अपने धर्ममें संतोष है अथवा कहिये कि अुन अुन धर्मोंका अुन्हें अभिमान है। अैसी हालतमें अुन लोगोंको हम विदेशी नहीं कह सकते। बुद्धिमानी अिसमें है कि अपने ही स्वदेशी लोगोंने जब बाहरके धर्मोंका स्वीकार किया तब वे धर्म हमारे लिअे विदेशी धर्म नहीं रहे। जिस तरह हम वैष्णव, शैव, शाक्त, लिंगायत आदि लोगोंको अपने ही देशके और अपनी ही संस्कृतिके लोग कहते हैं और जिस तरह हम जैनोंको, सिक्खोंको, ब्राह्मोंको और बौद्धोंको अपने ही धर्मके और संस्कृतिके स्वजन कहते हैं, अुसी तरह हमें अीसाअियोंको, यहूदियोंको, पारसियोंको और मुसलमानोंको भी अपने ही देशके और अपनी ही संस्कृतिके स्वजन मानना चाहिये।

और हिन्दू धर्मका तो यह सिद्धान्त ही है (और स्वभाव भी है) कि किसी भी धर्मके प्रति अनादर और अनास्था नहीं रखनी चाहिये। चंद लोग अपनेको

आग्रहपूर्वक अलग मानते हैं असलिअे हम भी अुन्हें पराये मानें, यह स्वाभाविक होते हुअे भी अिष्ट नहीं है, हितकर नहीं है।

जब भारतमें विदेशी लोगोंका राज्य था तब अुनके धर्मका स्वीकार करनेवाले हमारे लोग अपनेको श्रेष्ठ मानने लगे। सरकार दरबारमें अुनकी प्रतिष्ठा विशेष थी। लेकिन अब तो स्वराज्य और प्रजाराज्य हो चुका है। अैसी हालतमें किसी भी वर्गके अलग रहनेसे किसीको कोअी खास लाभ नहीं रहा। खास अधिकार तो सहानुभूतिके कारण पिछड़े लोगोंको ही दिये जाते हैं; और वे भी थोड़े ही समयके लिअे हैं।

अब तो हमें भेदभावको न बढ़ाते हुअे, अुसे मजबूत न करते हुअे राष्ट्रीय अेकताको ही मजबूत करना चाहिये। यह काम राजनैतिक ढंगसे नहीं हो सकेगा। राजनीति किसीको धमकायेगी, दबायेगी अथवा घूस देकर खुशामद करेगी। अिससे राष्ट्रीय अेकता मजबूत नहीं होती। हमें तो वंशभेद, भाषाभेद, धर्मभेद आदि समस्त भेदोंको गौण बनाकर सब भेदोंको हजम करनेवाली और सबसे अूंची अुठनेवाली भारतीय संस्कृति ही राष्ट्रीय अेकताको मजबूत करेगी अैसा मानना है और हमारी संस्कृतिकी सर्वव्यापी, सर्वोदयी मानवताको परिपुष्ट करना है।

कहते हैं कि जब कोअी संकट आता है तब अुसका अिलाज न ढूंढ़कर शुतुरमुर्ग पक्षी अपनी आंखें मूंद लेता है और मानता है कि संकट या कठिनाअी कहीं है ही नहीं। हम भी अैसा कहने लगे हैं: धर्मभेदको ही भूल जाओ, फिर धर्मका अिलाज करना रहता ही नहीं। असल बात यह है कि धर्मके अच्छे अच्छे तत्त्व आजके जमानेमें गौण या गायब हो गये हैं, किन्तु धर्मोंकी बुराअियां कहीं भी गायब नहीं हुअी हैं। मनुष्य अपने अपने धर्मका अभिमान और दूसरोंके धर्मके प्रति अनादर, अविश्वास और परायापन छोड़ता ही नहीं। धर्मनिष्ठाके कारण अखिल भारतीय राष्ट्रनिष्ठा, भारत-निष्ठा (सब भारतीयोंके प्रति अेकसी आत्मीयता) खतरेमें आ जाती है।

ये सब दोष और यह कमजोरी दूर करनी हो तो रशियाके ढंगसे सब धर्मोंके प्रति अेकसा तिरस्कार रखकर हमें अिसमें सफलता नहीं मिलेगी। केवल संख्याका बल आजमा कर अथवा परदेशी सहायताके आधार पर घरके लोगोंको दबाकर हम भारतको मजबूत नहीं बना सकेंगे।

अिसका अेक ही अिलाज है। भारतमें जो भी धर्म आज प्रचलित हैं अुनका सहानुभूति और आदरके साथ हम अध्ययन करें। हरअेक धर्ममें जो अच्छाअियां हैं अुनको हम बढ़ावा दें। सब धर्मोंके लोगोंके प्रति हम अपनी आत्मीयता बढ़ायें।

अैसे सारे शुभ प्रयत्न प्रारंभमें अेकतरफा ही हो सकते हैं। 'अगर तुम प्रेम करोगे तो मैं भी करूंगा' अैसे बाजारू प्रतियोगी सहकारसे अिसका प्रारंभ

भी नहीं हो सकेगा। जिस किसीके हृदयमें प्रेमधर्मकी आवश्यकता और महत्ता अुगे, वह स्वयं अेकतरफा प्रयत्न करेगा ही। अिसका जवाब न मिला तो भी मायूस या निराश न होते हुअे वह अपने प्रेमका प्रवाह बहता ही रखेगा। प्रेमका सामर्थ्य, आत्मीयताका सामर्थ्य अवश्य जीतेगा। वह अमोघ होता है, अितना विश्वास जो रखेगा वही आस्तिक है।

केवल भारतके लिअे ही नहीं, परन्तु सारी दुनियाके लिअे आजका युगधर्म यही कहता है।

धर्म, समाज-रचना, संस्कृति और अध्यात्मके क्षेत्रमें भारतकी जीवन-व्यवस्थाका अितिहास कैसा है, आजकी हालत क्या है और भविष्यका स्थान किस दिशामें होना चाहिये -- यह अेक विराट् और गंभीर विषय है। अिसका व्यापक विवेचन तो यहां है नहीं, लेकिन अिस गंभीर विषयका चिन्तन करनेमें कुछ न कुछ सहायक हो सके अैसा थोड़ा चिन्तन यहां प्रस्तुत किया गया है। आध्यात्मिक साधना, समाज-सेवा और विश्वहित-चिन्तनके परिपाक-रूप मेरी यह विचार-प्रणाली बनी हुअी है। भारतके हितके लिअे मुझे जो आवश्यक और हितकर लगा वही यहां देनेका मेरा प्रयास है। अिसलिअे पूर्ण भक्तिभावसे और नम्रतासे मैं देशवासियोंके कर-कमलोंमें यह अर्पण करता हूं और आशा रखता हूं कि पाठक अिसी पारमार्थिकतासे अिसका स्वीकार करेंगे।

काका कालेलकर

समन्वय-दिन
१०–७–'६७

जीवन-निष्ठ व्यवस्थाका स्वरूप

[मूल गुजराती पुस्तककी प्रस्तावनासे]

जिस मनुष्यको सच्चे अर्थमें जीवन जीना है, अुसे अपने और अपने आस-पासके लोगोंके जीवनका तथा अुन्नतिका विचार करना ही चाहिये। हमारी भक्ति-का मुख्य विषय ही जीवन है। पुरुषार्थके लिअे हमारी पूंजी भी हमारा अपना जीवन ही है। जिसे हम सेवा कहते हैं वह भी अपने जीवन द्वारा स्वजनोंके जीवनको सुखी और समृद्ध बनानेका प्रयत्न ही होता है। जीवन-शुद्धि, जीवन-वृद्धि, जीवन-समृद्धि, जीवन-विकास तथा जीवनकी कृतार्थता ही हमारे चिन्तन और पुरुषार्थका विषय होता है। हमारे युगके महान कविने जो जो गाया है वह सब अुनके द्वारा की गअी जीवन-देवताकी अुपासना ही है, अैसा अुन्होंने स्वयं अनेक बार कहा है।

प्राचीन संस्कृतिकी भक्ति करनेवाले भारतके जीवन पर चढ़े हुअे जंगको दूर करके अुसमें फिरसे जीवनका संचार करनेके लिअे गांधीजीने जो कुछ लिखा, अुसके लिअे भी अुन्होंने नवजीवन जैसा व्यापक नाम ही अपनाया था। वे भी अुन्नत जीवनके ही अुपासक थे। धर्म, राजनीति, समाज-व्यवस्था, अर्थ-व्यवस्था, स्वास्थ्य, साहित्य, संगीत, कला — ये सब जीवनके संस्कारके लिअे हैं। जब हम जीवन पूरा करके भगवानके सामने खड़े रहेंगे अुस समय भी हमें अिसी प्रश्नका अुत्तर देना पड़ेगा: "अपने जीवनका हमने क्या अुपयोग किया?"

अिस प्रकारके जीवन-परायण वातावरणमें रहकर समय समय पर लिखे गये मेरे लेखोंको प्रकाशित करनेका निर्णय जब नवजीवन ट्रस्टने किया तब मुझे यह बात सुझाअी गअी कि यह अेक जीवन-माला है, अिसलिअे लेखोंके प्रत्येक संग्रहके नामका जीवनके साथ कोअी सम्बन्ध होना चाहिये। यह बात मुझे पसन्द आअी और अिसीलिअे मैंने 'जीवन-व्यवस्था', 'जीवन-भारती', 'जीवनका आनन्द', 'जीवन-चिन्तन', 'जीवन-प्रदीप' आदि नाम अिन संग्रहोंके स्वीकार किये। अैसे नामोंमें अेकसेपनका दोष होता है, यह जानते हुअे भी मैं मूल संकल्प पर दृढ़ रहा हूं और धर्म-चिन्तन, धर्म-रहस्य, विविध धर्मों और अुनके लिअे स्थापित मंदिरों तथा हमारे धर्मग्रन्थोंके बारेमें लिखे गये अिन लेखोंको 'जीवन-व्यवस्था' का व्यापक नाम देकर अिस संग्रहको जनताके समक्ष रखता हूं।

अिस लेख-संग्रहमें मैंने जो धर्म-चिन्तन किया है वह हमारे ऋषि-मुनियों तथा संत-महात्माओंके साहित्यके भक्तिनम्र किन्तु स्वतंत्र अध्ययनसे ही अुत्पन्न हुआ है। वह प्राचीन साहित्य पढ़ते पढ़ते और अुसमें अेक पीढ़ीसे दूसरी पीढ़ीमें संस्कृतिका जो परम्परागत विकास होता गया अुसका चिन्तन करते करते

मुझे वर्तमान कालके हमारे पुरुषार्थकी दिशा प्राप्त हुअी और भविष्यकी भी थोड़ी-बहुत झांकी मिली।

परम्पराका अर्थ यह नहीं है कि केवल पुरानेकी ही रक्षा की जाय, अुसीसे चिपट कर रहा जाय और अुसीको बार-बार दोहराया जाय; परम्पराका अर्थ है पुरानी अिमारत पर नयी नयी मजिलें खड़ी करना और अुन नयी अूंचाअियोंसे दूर दूर तक देखनेकी सुविधा प्राप्त करना। परम्पराका अर्थ है संशोधन और परिवर्धनको स्वीकार करनेवाला अखंड प्रवाह। मुझे जो शरीर मिला है और जो संस्कार मैंने विरासतमें प्राप्त किये हैं, अुनके लिअे मैं अपनी कुल-परम्पराका आभारी हूं। यह कुल-परम्परा क्या है? मेरे कुलके जितने पूर्वजोंने विवाह किया वे सब दूसरे ही अलग अलग कुलोंकी लड़कियां अुनके संस्कारोंके साथ अपने घरमें लाये। अिस प्रकार अुन्होंने भिन्न भिन्न कुलोंके संस्कारोंका समन्वय सिद्ध किया। अिस समन्वयमें नवीनताकी मात्रा काफी होती थी, अिसलिअे पूर्वजोंने यह नियम बना लिया था कि विवाह करना हो तो अपने कुलमें न किया जाय, अपने गोत्रमें भी न किया जाय; अमुक अत्यन्त निकटके सम्बन्धोंसे बचकर ही विवाह किया जाय। अिसमें अितना ही ध्यान रखा जाय कि (१) अपना रहन-सहन अर्थात् अपने संस्कार; (२) अपना आचरण अर्थात् अपने धन्धेसे सम्बन्धित समस्त पुरुषार्थ; और (३) अपनी विचारसरणी अर्थात् अपनी संस्कृतिकी जीवन-दृष्टि — अिन सबके अनुकूल किसी ढंगसे ही पुरुषको स्त्रीका और स्त्रीको पुरुषका चुनाव करना चाहिये। (भोजनमें हम तरह तरहके अनाजों, दालों, साग-भाजियों, मसालों तथा अनेक अचार-मुरब्बोंको अेकसाथ खाते हैं। परन्तु आयुर्वेद कहता है कि अिस मिश्रणमें 'विरुद्ध अशन' न होनेका खास ध्यान रखना चाहिये, वर्ना हिचकियां आती हैं, पेटमें वायु पैदा होती है और स्वास्थ्य बिगड़ता है।)

कुल-परम्परामें जिस प्रकार हम प्रत्येक विवाहके साथ दूसरे कुलके संस्कार आग्रहपूर्वक दाखिल करते हैं, अुसी प्रकार तीर्थयात्रा द्वारा हम विशाल सामाजिक जीवनकी विविधताको देखते हैं और अुसमें जो कुछ भी अच्छा मिलता है अुसे ग्रहण करते हैं तथा आत्मसात् कर लेते हैं। अिसके सिवा, पीढ़ी दर पीढ़ी अिन संस्कारोंमें संशोधन और परिवर्धन तो होते ही रहते हैं।

हमारे पूर्वजोंने मानव-स्वभावकी विशेषताओंको देखा और रुचियोंकी विचित्रताको स्वीकार करके अनेक प्रकारकी अुपासनायें बताअीं। अिस प्रकार शैव, वैष्णव और शाक्त अुपासनाके तीन प्रकार जीवन-संस्कृतिके ही तीन प्रकार हैं। ज्ञान, कर्म और भक्ति ये जीवन-साधनाके अलग अलग प्रस्थान हैं। चार वर्ण जीवन-सिद्धि तथा समाज-सेवाके चार अंग हैं। चार आश्रम जीवन-विकासकी चार मंजिलें ह। अिन सबको मिलाकर विराट् जीवनका विकास होता है।

अैसी विविध व्यवस्थाके कारण जब जीवनमें अेकांगिता आने लगी तब हमारे संस्कृति-धुरीणोंने हमें अिन सबका समन्वय करना सिखाया। पंचायतन पूजामें सभी देवोंकी पूजा अेकसाथ करनी होती है। अिसी परम्पराको यदि आगे बढ़ाना हो तो हम कहेंगे कि हमारी प्रार्थना तभी पूरी होगी जब अुसमें हिन्दू संस्कृतिके सब अंगोंका समावेश तो हो ही, परन्तु अुनके साथ पारसी, यहूदी, अीसाअी और अिस्लामी अुपासनाको भी स्थान दिया जाय। परम्परामें पुराना जो कुछ टिकने योग्य हो अुसकी रक्षा करना और अुसे नया रूप देना होता है तथा अुसमें जो कुछ नया नया मिलाया जा सके अुसे जोड़ना और अेकरूप बनाना होता है। जिस प्रकार पौधा अुगकर वृक्ष बनता है, छोटे बालकका पुरुषार्थी योद्धाके रूपमें विकास होता है, अुसी प्रकार प्रत्येक समाज और प्रत्येक देशकी संस्कृति पुरानेमें परिवर्तन करके तथा नयेको आत्मसात् करके नवजीवन सिद्ध करती है।

सांप जब अपनी केंचुली अुतारता है तब वह अपने शरीरके प्रति बेवफा नहीं होता। परन्तु जो कुछ जीर्ण हो गया है, जो कुछ प्रगतिमें बाधक सिद्ध हुआ है, अुतनेको ही पीछे छोड़कर वह तेजीसे आगे बढ़ जाता है। अभी अभी केंचुली अुतार कर जवान बने हुअे सांपको आपने कभी देखा है? कैसी अुसकी कांति! कैसी अुसकी दीप्ति! और कैसी अुसकी स्फूर्ति होती है! कुछ देर पहले जिसकी आंखें निस्तेज दिखाअी देती थीं और बुढ़ापेके कारण जो जैसे तैसे शरीरको घसीटता चलता था, वही सांप अितने वेगसे दौड़ने लगता है मानो हवाका स्पर्श भी अुसे असह्य मालूम होता हो! अैसा दृश्य जब मैंने अपनी आंखोंसे देखा तब मैंने यह समझ लिया कि संस्कृति-निष्ठाका अर्थ केंचुली-निष्ठा नहीं है।

शैव, वैष्णव, शाक्त आदि अुपासनाओंकी विविधताका विकास होनेके बाद हमारे देशमें बौद्ध और जैन जीवन-दृष्टियोंका विकास हुआ। अिस पुरुषार्थने कुछ सदियों तक मानो सारे राष्ट्रको व्याप्त कर लिया। अिसमें भी बौद्ध धर्मके महायान सम्प्रदायने शाक्त और बौद्ध दृष्टियोंको मिलाकर तरह तरहकी मिश्र अुपासनाओंको जन्म दिया। अिससे जैनोंको भी शक्ति-अुपासनाके साथ समझौता करनेकी जरूरत मालूम हुअी। हिन्दू समाजने निगम, आगम और तंत्रोंका मिश्रण कर दिया। लोकरुचिको संतुष्ट करनेके लिअे पागल बनकर हमने तरह तरहके न जाने कितने व्रतों, अुत्सवों और त्योहारोंको जन्म दे डाला। हमारे देव-देवियोंकी संख्या भारतकी लोकसंख्यासे कम तो नहीं ही होगी!

विविधता हमें अितनी प्रिय है कि हम नया नया तो जोड़ते ही जाते हैं और पुराना कुछ छोड़ते नहीं। सांपकी केंचुली तो क्या, मरा हुआ सांप भी कामका है, अैसा मानकर अुसका संग्रह करनेमें हम विश्वास रखते हैं!

अुपासनाका यह सारा विस्तार आखिरमें सहन तो करना पड़ता था बेचारे भगवानको ही। अिसलिअे भगवानने घबरा कर हमारे यहां अिस्लामको भेजा — वह अिस्लाम जिसकी स्थापना ही तीन सौ साठ ताकोंमें से तीन सौ साठ देवी-देवताओंको नीचे गिराकर हुअी थी। अिस्लामकी मूर्ति-भंजक अेकेश्वरी पूजासे प्रभावित होकर हमने सिक्ख पंथ, ब्राह्म-समाज, प्रार्थना-समाज और आर्य-समाज जैसे समाजोंकी स्थापना की और अपने घरकी अेकेश्वरी पूजाको आगे बढ़ाया। परन्तु भारतीय मानस अैसा है कि सुधारक हो या अुद्धारक — जो भी आये अुसे वह नमस्कार करता है और अुसके लिअे अेक नया ताक तैयार कर देता है। वह कहता है: "आपके लिअे भी हमारे यहां आदरका स्थान होगा। लेकिन आपको 'सबमें से अेक' बनकर रहना होगा।" 'सबके स्थान पर अेक' यह सूत्र हमारे यहां कभी चला ही नहीं; और आगे भी कभी चलेगा अैसा नहीं लगता। हमारी संस्कृति वृक्षरूपी संस्कृति है। अुसमें शाखाओं, प्रशाखाओं, डालियों और पत्तोंका विस्तार बढ़ता ही रहेगा। अिसलिअे यदि हम समझदार हों तो सबको पोषण देनेवाले वृक्षके तनेका भी समय समय पर विचार करेंगे और यह तना बड़ा और विशाल बने अिसके लिअे हर बार कुदरती तौर पर फट जानेवाली अुसकी छालका भी विचार करेंगे; और जितनी शाखायें नअी फूटें और बढ़ें अुन सबका हम स्वागत भी करेंगे।

हमारे मंदिरोंका अर्थ है हमारे धार्मिक जीवनके विकासके लिअे तथा अुससे आनंद प्राप्त करनेके लिअे खड़ी की गअी अेक समयकी जीवंत संस्थायें। अुत्साह और अुत्सवको बढ़ानेके लिअे स्थापित किये गये अिन मंदिरोंमें भी दम घोंटनेवाली रूढ़िनिष्ठाके कारण हमारा अुत्साह समा न सका। वह मंदिरोंकी चारदीवारीसे बाहर निकल गया और अुसने नये नये रूप खोज निकाले। हमारे मंदिरोंसे प्राप्त होनेवाला मुख्य बोध यही है कि धर्म, धर्म-विकास और धर्मानन्द मंदिरोंकी चारदीवारीके भीतर समा नहीं सकता, कैद नहीं रह सकता। जीवनकी व्यवस्थाके साथ हमें अपने मंदिरोंकी व्यवस्था भी बदलनी चाहिये। अेक ही मंदिरमें अथवा अुसके प्रांगणमें अनेक देवी-देवताओंको बैठानेकी हद तक तो हम गये ही हैं।

अभी अभी हमने अपनी प्रार्थनामें सब धर्मोंकी अुपासनाको स्थान दिया है। अुसके बादका कदम तो यही हो सकता है कि अपने अुत्सवोंमें हम सब धर्मके लोगोंको बुलायें और अुनके अुत्सवोंमें हम परायोंकी तरह नहीं परन्तु अुनके स्वजन बनकर सम्मिलित हों। हम अैसा कर सकेंगे, और भारतमें यह चीज खूब जमेगी।

जैसे जैसे जीवनका विकास होता जाय वैसे वैसे अुसकी व्यवस्था भी बदलनी चाहिये, विशाल और अुदार बननी चाहिये। अिस आदर्शको मनमें रखकर

ही मैं आरंभसे आज तक धर्मोंका चिन्तन करता आया हूं। गांधीजीकी प्रवृत्ति मेरी अिस वृत्तिके अनुकूल थी, अिसीलिअे मैंने अुनका आमंत्रण स्वीकार कर लिया। आश्रम-जीवनमें मुझे अपने विकासके लिअे पूरा पूरा मौका मिला। वहां रहते हुअे मैंने देखा कि गांधीजी अेक अैसे पुरुष हैं, जो जरूरत पड़ने पर आश्रमको व्यापक बनानेके लिअे अुसकी दीवालें भी तोड़ सकते हैं। गांधीजीकी जीवन-निष्ठाने किसी भी समय व्यक्तिके या समाजके विकासको रोका नहीं। वे सदा भविष्यके अुपासक रहे। अुनकी अभिलाषा यह थी: 'भूतकालकी विरासतको वर्तमान कालके पुरुषार्थमें अिस प्रकार बोया जाय कि भविष्य कालको समृद्धसे समृद्ध फसल मिले।' गांधीजीका धर्म भारतका भविष्य निर्माण करनेवाला धर्म है। वह धर्म नित्य वर्धमान धर्म है। अुसे प्रसंगके अनुसार नअी नअी व्यवस्था सूझती है। वह जानता है कि व्यवस्थाको यदि समय समय पर बदला न जाय, तो जीवनमें अव्यवस्था ही बढ़ेगी; और फिर तो सारा जीवन-विकास रुक जायगा। यह सच है कि व्यवस्थाके बिना जीवन टिक नहीं सकता, अुसका विकास नहीं हो सकता। किन्तु व्यवस्थाको सदा जीवनके प्रति वफादार रहकर समयोचित परिवर्तन स्वीकार करने चाहिये।

*

धर्म स्वभावत: आदरणीय वस्तु है, अिसलिअे अुसके चिन्तनके प्रति भी लेखकके मनमें आदरका भाव होना चाहिये। अत: आदर और नम्रता दोनोंके मिश्रणके साथ अिस अवसर पर मैं 'जीवन-व्यवस्था' को पाठकोंके हाथमें रखना चाहता हूं।

आजके नये लोगोंमें कभी कभी धर्मके प्रति अनास्था दिखाअी पड़ती है। परन्तु मैंने देखा है कि अुनकी जीवन-निष्ठा अिस अनास्थाको टिकने नहीं देती। अिसीलिअे मेरा यह विश्वास है कि नया जमाना भी अिस चिन्तनमें हाथ बंटानेको तैयार होगा।

काका कालेलकर

गांधी सन्निधि, नअी दिल्ली,
गांधी जयंती, १९६३

अनुक्रमणिका

जीवन-व्यवस्थामें विश्व-समन्वय ३
जीवन-निष्ठ व्यवस्थाका स्वरूप ९

पहला खण्ड : धर्म और संस्कृति

१. भारतवर्षके धर्म ३
२. भारतीय संस्कृति ८
३. धर्मोंका धर्म १२
४. सार्वभौम जीवन-दर्शन २३
५. धर्माचार्य अथवा साहित्याचार्य ३५
६. समीक्षा ४१
७. महाभारत ५२
८. महाभारतका आस्वाद ५४
९. भगवद्गीता ६२
१०. प्रस्थानत्रयी किसलिअे ? ६४
११. अुपनिषदोंकी शिक्षा ६७
१२. नये जीवन-दर्शन ६९
१३. मूलभूत मनन ७२
१४. ॐ – प्रणवोपासना ७४
१५. संतवाणीका कार्य ७६
१६. सत्य-नारायणका व्रत ७९
१७. गजेन्द्र-मोक्ष ८७
१८. स्वाद-संयम ९१
१९. सप्तपदी ९६
२०. शास्त्रोंका अुपयोग ९९
२१. अवतारवाद १०२

दूसरा खण्ड : विविध धर्म

२२. हिन्दू धर्म बनाम हिन्दू समाजशास्त्र १११
२३. आर्य संस्कृतिका आधार ११२
२४. हिन्दू धर्म-संस्कार ११४

२५. बुद्धका समय और बुद्धका कार्य — ११६
२६. जीता-जागता संघ — ११८
२७. प्रार्थना-समाजकी सेवा — १२८
२८. दोनों धर्म अनादि — १३८
२९. सुधारक धर्ममें सुधार — १३९
३०. धर्म-संस्करण : १ — १४९
३१. धर्म-संस्करण : २ — १५२
३२. जैन समाजके साथ मेरा परिचय — १५८
३३. 'प्रबुद्ध जैन' — १६४
३४. महावीरका जीवन-सन्देश — १६६
३५. जैनेतर — १६९
३६. गायके साथ मधुमक्खी — १७२
३७. जैन धर्म और अहिंसा — १७४
३८. राजचन्द्र-जयंती — १७८

तीसरा खण्ड : आस्तिक्य

३९. ओश्वरकी कृपा — १८७
४०. आस्तिक कौन है? — १८८
४१. ओश्वरकी आस्तिकता — १८९
४२. नास्तिकता — १९१
४३. हमारे ओश्वरका स्वरूप — १९६
४४. 'प्रभु जागत है तू सोवत है' — २००
४५. जीवनका शास्त्र — २०२
४६. अंधभक्ति — २०६
४७. अंधविश्वास और श्रद्धा — २०९
४८. चिट्ठीका निर्णय? — २१२
४९. धर्म-संकटमें क्या किया जाय? — २१६
५०. मरणोत्तर जीवनकी स्पष्ट कल्पना — २१८
५१. सृष्टिकी संहार-लीलाका बोध — २२४
५२. कालकी महिमा — २२९

चौथा खण्ड : मन्दिर-भावना

५३. हमारे मन्दिर — २३७
५४. देव-मन्दिर : सार्वजनिक जीवनका केन्द्र — २४५
५५. मूर्तिपूजा — २५०

५६. नये मन्दिर २५७
५७. प्राण-प्रतिष्ठा २६३
५८. मूर्तिका जन्म २७१
५९. प्रेमके अधिकारी २७४
६०. कनकदास २७६
६१. भारत-शक्ति २८०
६२. धर्म-विकास २८१
६३. सर्वोदयकी तैयारी २८३
६४. भावनाका खतरा २८५
६५. भक्तिका प्रसाद २८७

पांचवां खण्ड : हृदय-धर्म

६६. संस्कृतियोंका जीवन-क्रम २९३
६७. प्राणदायी हवा २९४
६८. धर्म बनाम धार्मिकता २९५
६९. हृदयकी शक्ति २९५
७०. हृदय-धर्मकी दीक्षा २९६
७१. हृदय-शुद्धिकी याचना २९७
७२. पवित्र संकल्प २९८
७३. कौनसा मार्ग स्वीकार करेंगे? २९८
७४. 'समाना हृदयानि वः' ३००
७५. तत्त्व और व्यवहार ३०१
७६. यथार्थवाद बनाम ध्येयवाद ३०२
७७. बुद्धि और अुसका विकास ३०३
७८. मित्रता क्या है? ३०४
७९. आत्माकी कल्पना ३०८

पहला खण्ड

धर्म और संस्कृति

१

भारतवर्षके धर्म *

कौन जाने किस तरह, किन्तु दुनियाके सभी धर्म हमारे देशमें आ पहुंचे हैं और वे किसीको सुखसे रहने नहीं देते। अब अिन धर्मोंका हम करेंगे क्या? — यह प्रश्न अनेक लोगोंके मनमें समय समय पर अुठता रहता है। कुछ लोग कहते हैं कि जिस प्रकार अरबस्तानमें सिर्फ अिस्लामके अनुयायी ही रह सकते हैं, अमेरिकामें अंग्रेजी भाषा ही चल सकती है, अुसी प्रकार यदि भारतमें धर्मके बारेमें हो सका होता तो कितना अच्छा होता? भारतमें अेकमात्र हिन्दू धर्म ही होता और दूसरे सब धर्मोंको यहां रहनेकी मनाही कर दी गअी होती, तो कितना अच्छा होता? दूसरे कुछ लोग पूछते हैं कि धर्मकी बला ही क्यों रहनी चाहिये? सभी धर्म समान रूपसे फेंक देने जैसे हैं। अिनमें से अेकको रखने और बाकी सबको निकाल देनेका क्या अर्थ है?

यह भी पूछा जा सकता है कि भिन्नधर्मी लोगोंके बाहरसे आने पर आप शायद रोक लगा सकें; किन्तु सनातन कालसे अिसी देशमें रहनेवाले लोगोंमें से कुछ यदि अपनी धार्मिक मान्यताको बदल डालें या बाहरके किसी धर्मको स्वीकार करें, तो आप अुन्हें कैसे रोक सकेंगे? मनुष्य पर जबरन् सत्ता भोगनेका अधिकार किसी धर्मको हो ही कैसे सकता है? अिस प्रकार हमारे देशमें धर्म-विषयक चर्चा चलती रहती है। कुछ अूंघते रहनेवाले धर्मोंके कान तक अभी यह चर्चा पहुंची ही नहीं है। कुछ भाग्यवादी धर्म 'जो होना होगा वह होगा, हमारे हाथमें क्या है? हम तो पड़े रहेंगे और जो होगा अुसे सहन करेंगे' अैसा कहकर जमुहाअी लेते रहते हैं। कुछ धर्म हक्के-बक्के होकर अपनी योग्यता और अपना अधिकार सिद्ध करनेके लिअे प्रमाण और दलीलें अेकत्र करते हैं; और कुछ धर्मोंको लगता है कि 'राज्यसत्ताके बिना धर्म टिक ही नहीं सकता, अिसलिअे राज्यसत्ताकी शरण हमें लेनी ही पड़ेगी।'

अेक जमाना अैसा था जब धर्म सर्वोच्च सत्ता भोगते थे। राजाको गद्दीसे अुतार देनेकी सत्ता भी धर्माचार्योंके हाथमें रहती थी। राज्याभिषेकके समय धर्मगुरु ही राजाको राजत्व प्रदान करता था। अिंग्लैण्डके अेक राजाको अपना मुकुट पोपके चरणोंमें रखकर अुसे साष्टांग प्रणाम करना पड़ा था। और रोमका पोप अपने शिष्य-राजाओंके बीच सारी दुनियाका बंटवारा कर सकता था।

* संवत् १९९३ के पर्युषण-पर्व पर बम्बअीमें दिया हुआ भाषण।

परन्तु आगे चलकर धर्मसंस्थाकी यह प्रतिष्ठा नहीं रही। राजा सर्वोपरि बन गया और धर्म अंतमें राजाका आश्रित हो गया। व्यक्तियोंके जीवनमें भी धर्मकी सर्वोपरिता घट गअी और सत्ता तथा संपत्तिकी प्रतिष्ठा बढ़ी।

धर्मका यह अधःपतन किसलिअे हुआ? कारण स्पष्ट है। धर्मोंने राज्य-व्यवस्थाका अनुसरण और अनुकरण किया, राज्यसंस्थाको आदर्श मानकर धर्म-संस्थाका तंत्र रचा और सत्ता तथा अधिकारकी परम्परा खड़ी की। यूरोपमें पोपकी जो सत्ता थी, अिस्लामी दुनियामें खलीफाकी जो सत्ता थी, वैसी सत्ता हमारे देशमें धर्माचार्यों, शंकराचार्यों तथा राज-पुरोहितोंकी कभी नहीं रही। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि हमारे यहां धर्मसंस्थाने राज्यसंस्थाका अनुकरण नहीं किया। जातियोंका संगठन, गुरु-शिष्य-सम्बन्ध विषयक नियम, मंदिरोंकी व्यवस्था — अिन सबके पीछे राज्यतंत्रके जैसी ही योजना है। नतीजा यह हुआ कि धर्मकी जड़में ही सड़न पैठ गअी। लेकिन जिस समय राज्यसत्ताका अनुकरण शुरू हुआ अुस समय तो लोगोंको यही लगता था कि अब धर्मकी विजय हुअी है; अब धर्मकी सच्ची स्थापना हुअी है।

परन्तु धर्माचार्योंकी सत्ता बढ़ी अुसी समयसे सच्चा धर्म क्षीण होने लगा और सच्ची धार्मिक प्रेरणा आचार्योंके हाथसे निकल कर संतोंके हाथमें चली गअी। भारतके संत अधिकतर तंत्र-विमुख ही रहे; और जहां अुन्होंने तंत्र खड़ा किया वहां राज्यतंत्रके नमूने पर नहीं, परन्तु लोक-जीवनके अनुकूल ही तंत्र रचा। यूरोपमें क्या और हमारे देशमें क्या, तंत्र-विमुख संतोंकी वजहसे जितना धर्म टिक सका अुतना ही टिका है।

अेक पुरानी कहावत है: 'अेक कंबल पर बारह फकीर सो सकते हैं, लेकिन अेक बड़े साम्राज्यमें दो बादशाहोंका निर्वाह नहीं हो सकता।' जहां राज्यतंत्रका अनुकरण किया जायगा वहां अेक स्थान पर अेक ही धर्म निभ सकता है। भारतमें सारी दुनियाके धर्म अिकट्ठे हो गये हैं, क्योंकि भारत वास्तवमें बारह फकीरोंका कंबल है — आज अैसा न हो तो भी वह फकीरोंका कंबल बननेके लिअे ही पैदा किया गया है।

जो मनुष्य बाहरसे भारतको देखने आता है, अुसका पहला ही अुद्‌गार यह होता है: 'भारत अेक विशाल धर्म-परिवार है।' यह बात सच है, परन्तु यह परिवार मिल-जुलकर रहनेवाला नहीं है। अधिकतर हिन्दू परिवारोंमें जिस प्रकार भाअी-भाअी अेक-दूसरेसे अलग भी नहीं रहते और मिल-जुलकर भी नहीं रह पाते, हमेशा परस्पर झगड़ते रहते हैं; अुसी प्रकार भारतके धर्मोंका है। शायद अैसा हो कि हिन्दू परिवारको जब हम सुधार सकेंगे और आपसमें प्रेम तथा आदरकी भावना रखकर मेल-जोलसे रहना सीखेंगे तभी धर्मोंका प्रश्न भी हल

होगा; और आज जहां धर्मके क्षेत्रमें केवल कोलाहल ही सुनाअी पड़ता है वहां समन्वयका विश्व-समृद्ध संगीत गंगन-मण्डलको भर देगा।

बात यह है कि राजा और अुनकी सरकारें मनुष्यके बाहरी जीवन पर ही अधिकार भोग सकते हैं, और अिसीलिअे वे दुनियावी तंत्र खड़ा करके अुसके द्वारा अपना ध्येय सिद्ध कर सकते हैं, जब कि धर्मका प्रभाव मूलतः आंतरिक होता है। धर्म जानता है कि भीतरका प्रभाव अपने आप बाहर आये यही शुभ और वांछनीय है। राज्यसत्ताके वातावरणमें धर्मोंने जीवनकी अपेक्षा मान्यता पर अधिक भार दिया। मनुष्यका धार्मिक जीवन कैसा भी हो, यदि वह धार्मिक मान्यतासे सहमत हो तो अितना काफी है — अैसा वातावरण खड़ा करके हमने धार्मिकताका गला घोंट दिया है। धर्मका रहस्य अुसके पालनमें, अुसके आचारमें और धर्म-परायण चित्तवृत्तिमें है। अिसके विपरीत, धार्मिक मान्यता धर्माभिमान और परमत-असहिष्णुताको जन्म देती है। धार्मिक जीवनसे धर्म-परायणता अुत्पन्न होती है और धर्म-परायणतासे ही सर्व-धर्म-समभावका विकास होता है।

धार्मिक मान्यताओंमें सर्व-समानता बनाये रखनेके लिअे यूरोपमें जी-तोड़ प्रयत्न किये गये और भारी झगड़े खड़े किये गये। हमारे देशमें मान्यताओंके विषयमें तो छूट थी, परन्तु आचार-धर्मके विषयमें सारे समाजको यांत्रिक शिकंजेमें पकड़ कर रखा जाता था। अिसके फलस्वरूप यहां बौद्धिक स्वतंत्रताका तो विकास हुआ, किन्तु बुद्धिके अनुसार कर्म करनेकी छूट न होनेसे — विचारोंके अनुसार आचरणका विकास न होनेसे — बुद्धिका तेज क्षीण हो गया और धर्माधर्म तथा द्वैताद्वैतकी चर्चा केवल 'डिबेटिंग क्लब' जैसी हो गअी। धर्म हमेशा पारमार्थिक (Serious) वस्तु होना चाहिये। जैसी मान्यता हो वैसा जीवन बन जाय तभी मनुष्यकी बुद्धि शुद्ध और शुभ रहती है और अुसका आचार मानवतापूर्ण, अविकृत और संस्कार-संपन्न बनता है।

'Live what you believe' — यही बड़ेसे बड़ा धर्मसूत्र और जीवन-सूत्र है। जैसा विश्वास हो वैसा ही आचरण रखो।

परन्तु धार्मिक आदर्श सर्वोच्च कोटि तक पहुंचा हुआ होनेके कारण अुसके आचरणमें ढीले और दृढ़ लोगोंके वर्ग तो पड़ेंगे ही — श्रावक और साधु, संन्यासी और गृहस्थ, श्रमण और श्रमणेतरके भेद अुत्पन्न होनेके बाद 'मान्यताओंसे पूरी तरह चिपटे रहो और आचरणकी शिथिलताकी अुपेक्षा करो' का वातावरण पैदा हुअे बिना रह ही नहीं सकता। और अिसमें — अितनेमें — दोष नहीं पैदा होते। परंतु अिंग्लैंडमें प्रोटेस्टेन्ट व्यापारियोंने अेक दूसरा सूत्र खोज निकाला। धर्म जीवनका केवल अेक अंग है। धर्मके स्थान पर ही धर्म शोभा देता है। व्यवहारमें हर जगह हम धर्मको ले आयेंगे, तो व्यवहार भी बिगड़ेगा और धर्म भी बिगड़ेगा, अैसा कहकर अिन लोगोंने धर्मको जीवनकी सामान्य चीज बना डाला है।

अब लोग अितने गंभीर भी नहीं रह गये हैं और धर्मकी कल्पना भी अितनी छिछली नहीं रही है। 'धर्मका अर्थ है जीवनका परिष्करण, जीवनका परिवर्तन' — अितनी बात लोगोंने समझ ली है। अब यदि धार्मिकताकी रक्षा करनी हो तो धर्मोंके बीचके झगड़ोंको भूल जाना चाहिये और सारे धर्मोंमें जो लोग सच्चे धर्मनिष्ठ हैं अुन्हें निरे सैद्धान्तिक भेदोंको भूलकर तथा धर्मोंमें रही हार्दिक अेकताको पहचानकर आपसमें संगठित होना चाहिये। हर धर्ममें धर्म-परायण लोग भी होते हैं और धर्माभिमानी लोग भी होते हैं। धर्म-परायण लोग धार्मिक जीवनमें गहरे अुतरते हैं, अपने आपको सुधारनेका सतत प्रयत्न करते हैं और अिस प्रकार अपनी धार्मिकताकी सुगंध चारों तरफ फैलाते हैं। लेकिन आजके जमानेमें समाजका नेतृत्व करते हैं धर्माभिमानी लोग ही। अुन्हें धार्मिक आचरणकी बिलकुल परवाह नहीं होती। अुन्हें तो धर्मके नाम पर अेक दुनियावी संगठन ही खड़ा करना होता है। अैसे लोग ही अपने धर्मके अनुयायियोंको अुत्तेजित करके धार्मिक झगड़े शुरू करते हैं अथवा अुन्हें चलाते हैं।

और जब धर्म-धर्मके बीच अैसे झगड़े चलते हैं अुस समय धर्मशुद्धिका काम शिथिल पड़ ही जाता है। धर्म-सुधारक यदि आत्मशुद्धिके लिअे अपने समाजके दोषोंको प्रकट करते हैं, तो 'शत्रुओंके सामने हमारी पोल खुल जायगी' अिस भयसे अैसे सुधारकोंकी आवाजको दबा दिया जाता है। जनताको यह बात समझानी चाहिये कि भिन्न-भिन्न धर्मोंके लोग अेक-दूसरेके शत्रु नहीं हैं; सच्चे शत्रु तो अधर्मी अर्थात् धर्म-विरोधी लोग ही हैं।

अेक बात हमें स्पष्ट रूपसे समझ लेनी चाहिये कि आजके सामाजिक जीवनके लिअे प्रत्येक मनुष्यको सब धर्मोंका ज्ञान — समभावपूर्वक प्राप्त किया हुआ थोड़ा-बहुत ज्ञान — अवश्य होना चाहिये। प्रत्येक मानवको अिस बातका ज्ञान होना चाहिये कि हरअेक धर्मकी मान्यतायें क्या हैं, अुसका समाजशास्त्र क्या है तथा अुसे कितनी जीवन-सिद्धि मिली है और किस ढंगसे मिली है।

मैं अपना सब कुछ संभाल कर बैठा रहूंगा, दूसरोंसे मेरा क्या संबंध? अैसा कहनेसे अब काम नहीं चलेगा। मैं सबकी बातको समझूंगा, सबको अपनी बात समझाअूंगा, सबकी बात सहन करूंगा, सबको सहन करूंगा और सबके साथ ओतप्रोत हो जाअूंगा — यही अब धर्मका युगधर्म है। अब आगे सब मनुष्योंको अेक-दूसरेका रंग लगेगा और फिर भी प्रत्येक मनुष्य अपनी स्वतंत्रताकी रक्षा करेगा।

अब हमें अेक अत्यंत महत्त्वकी बात प्रचलित करनी होगी। आज तक हम यह मानते और कहते आये हैं कि 'प्रत्येक मनुष्यके लिअे अुसका अपना धर्म अच्छा है। सभी धर्म अच्छे हैं, अिसलिअे न तो कोअी अपने धर्मका त्याग करे और न दूसरोंके धर्मकी निन्दा करे।' यहां तक तो सब ठीक ही है। लेकिन

अितनेसे ही अब हमारा काम नहीं चलेगा। स्वधर्मका सूत्र अब अेकांगी लगता है। 'सब धर्मोंके साथ परिचय बढ़ाकर, अुन्हें पहचान कर, अुस व्यवस्थामें दिखाअी पड़नेवाले अपने स्वधर्मका मैं पालन करूंगा'—यही आजका पूर्ण धर्म है। सब धर्मोंका अध्ययन करनेके बाद ही स्वधर्मका रहस्य पूर्णतया हमारी समझमें आयेगा और अैसा करके ही हम सबके साथ शांति और मेलजोलसे रह सकेंगे।

श्री शंकराचार्यने अिस तत्त्वको समझ लिया था। अुन्होंने देखा कि भारतमें असंख्य देवी-देवताओंकी पूजा होती है। भारतके लोगोंकी शायद गिनती हो सकती है, लेकिन भारतके देवी-देवताओंकी नहीं हो सकती। अिसलिअे अुन्होंने पांच देवोंको मुख्य मानकर बाकी सबको अिन पांच देवोंके ही अवतार बना दिया। महादेव, विष्णु, गणपति, देवी और सूर्य अिन पांच देवोंको अुन्होंने हिन्दू धर्मके मुख्य देवोंके रूपमें प्रस्तुत किया और कहा कि अिनमें से जो देव तुम्हारा अिष्ट हो अुसीकी पूजा करो; परन्तु अुसके आसपास बाकी चार देवोंको अनिवार्य रूपसे रखना चाहिये, क्योंकि अिनके साथ ही अिष्ट देवकी पूजा हो सकती है। पूजा जब भी की जाय तब पंचायतनकी ही करनी चाहिये। अैसा करके श्री शंकराचार्यने सब देवी-देवताओंके संबंधमें भक्तोंके बीच चलनेवाले झगड़ोंको खतम कर दिया। सभी धर्म अच्छे हैं, सब धर्मोंके प्रति हमारा सद्भाव होना चाहिये, सब धर्मोंकी अुपासना हमें समझ लेनी चाहिये—अुसमें किसी हद तक हम भाग भी ले सकते हैं, परन्तु दृढ़ तो हमें अपने धर्म पर ही रहना चाहिये। जब सभी धर्म सच्चे हैं तो धर्म-परिवर्तनके लिअे गुंजाअिश ही नहीं रह जाती। सभी धर्म सच्चे हैं और सभी धर्म किसी हद तक अेकांगी और अपूर्ण हैं, यह बात स्याद्वाद और सप्तभंगी न्यायको समझनेवाले जैनोंकी समझमें तुरन्त आ जानी चाहिये। सब धर्मोंका ज्ञान होने पर ही स्वधर्मका रहस्य समझमें आता है। वास्तवमें जितने धर्म हैं अुतनी ही जीवन-पद्धतियां हैं। अिन सब पद्धतियों द्वारा मनुष्यको जीवनका दर्शन होना चाहिये। अिसीलिअे अिन सब धर्मोंकी आवश्यकता है। कहा जाता है कि रामकृष्ण परमहंसने अलग अलग समय पर अिन सब धर्मोंकी साधना करके देख लिया और अुसके बाद वे अिसी निर्णय पर पहुंचे कि ये सब मार्ग अेक ही प्राप्तव्य—लक्ष्य—की ओर ले जाते हैं।

अैसे साक्षात्कार, प्रत्यक्ष अनुभव, के लिअे बौद्धिक अहिंसा यानी स्याद्वाद और तपकी आवश्यकता है।

प्रत्येक धर्मका आधार है आत्मा पर विश्वास। जिन लोगोंका आत्मामें विश्वास नहीं है, अुन्हें गीताने आसुरी संपत्तिवाले कहा है। अिसलिअे सच पूछा जाय तो मनुष्य-जातिके दो ही विभाग किये जा सकते हैं: (१) दैवी संपत्तिवाले; और (२) आसुरी संपत्तिवाले। और अिन दोनोंके बीच कोअी सम-

झौता हो ही नहीं सकता। प्रत्येक मनुष्यके हृदयमें कम या अधिक मात्रामें दैवी और आसुरी वृत्तियां होती हैं, अिसलिअे अिन दोनोंके बीच सनातन संघर्ष चलता ही रहता है। अिस युद्धमें यदि हमारी जीत हुअी, तो समाजमें धर्मोंके बीच चलनेवाला झगड़ा अपने आप शांत हो जायगा।

प्रत्येक हृदयमें जब दैवी और आसुरी संपत्तिके बीच झगड़ा चलता है तब अनेक बार परवश बनी हुअी दैवी वृत्ति बाहरसे मददकी आशा रखती है। अिसीमें से ओश्वर-शरणकी वृत्ति अुत्पन्न हुअी है। 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' अैसा जब भगवान श्रीकृष्णने कहा तब अुनकी नजरके सामने आर्य-धर्म, अिस्लाम, बौद्ध अथवा जैन धर्म, सिक्ख या ओसाअी धर्म जैसे धर्म नहीं थे; ज्ञान, भक्ति, कर्म और अुपासना जैसे मार्गभेदोंका भी अुन्होंने कोअी संकेत नहीं किया था; किन्तु देशधर्म और कुलधर्म, जातिधर्म और वयोधर्म, गुणधर्म और शरीर-धर्म, कलाधर्म और आपद्-धर्म -- अैसे अैसे अुस समयके चर्चित संकुचित और अेकांगी धर्मोंका विचार करके ही भगवानने अर्जुनसे कहा था कि अिन सब धर्मोंको तू छोड़ दे, पूरी तरह छोड़ दे और अेकमात्र आत्मतत्त्वकी ही शरणमें जा! अुसके बाद ही स्वधर्म और स्वधर्मका रहस्य खुलेगा और अुसका मार्ग मिलेगा।

२

भारतीय संस्कृति

भारतीय संस्कृति केवल आर्य संस्कृति या केवल हिन्दू संस्कृति ही नहीं है। भारतीय संस्कृति केवल प्राचीन कालका ही खयाल नहीं करती। भारतीय संस्कृतिका केन्द्र है हिन्दुस्तान, किन्तु अुसका वर्तुल अथवा परिधि हिन्दुस्तानसे सीमित नहीं है।

भारतीय संस्कृति हिन्दुस्तानके अितिहाससे भी बड़ी है, क्योंकि अितिहास केवल भूतकालका ही खयाल रखता है। संस्कृतिका संबंध भूत, वर्तमान और भविष्यसे है। अितिहास अपना भविष्य नहीं जानता। संस्कृति अपने भविष्यके ध्रुवतारे पर निगाह रखकर चलती है।

हिन्दुस्तानमें अनेक धर्म हैं, अनेक भाषायें हैं, अनेक देशोंसे आकर बसे हुअे लोग हैं। सम्पत्ति, बुद्धिशक्ति, कौशल, अुदारता और शालीनता, हरअेक दृष्टिसे भिन्न-भिन्न कोटिके लोग यहां पर बसते हैं। तो भी हम कहते हैं कि हिन्दुस्तानकी संस्कृति अेक है, अखण्ड है और अविभाज्य है। बहुतसे लोग अिस चीजको नहीं समझ सकते कि भिन्न धर्मावलम्बी लोग भी अेक संस्कृतिमें कैसे आ सकते हैं।

अेक अुदाहरण लेकर हम अिस बातको स्पष्ट करेंगे। अीसा मसीह यहूदी थे। अुन्होंने यहूदी मतमें कुछ दोष और अपूर्णता देखी। अुसे दूर करनेके लिअे अुन्होंने अपना अुपदेश अपने शिष्योंको दिया। अीसाके शिष्य अीसाअी हो गये, पर अुनका यहूदीपन मिट नहीं गया। अुसके बाद सेंट पॉल अीसाअी बन गये। वे यहूदी न थे, वे ग्रीक यवन थे। अुन्होंने अीसाके अुपदेशको तो ग्रहण किया, किन्तु अुनकी संस्कृति ग्रीक थी। अुसमें अीसाका अुपदेश मिलाकर अुन्होंने अपनी ग्रीक संस्कृति परिपुष्ट की। बादमें जो रोमन लोग अीसाअी हुअे वे धर्मसे तो अीसाअी हो गये, रोमन धर्म अुन्होंने छोड़ दिया, किन्तु रोमन संस्कृतिसे वे परे न हो सके।

हिन्दुस्तानमें शक, हूण आदि बाहरके कितने ही लोग आ गये। अुन्होंने न केवल यहांका धर्म ही अपनाया, किन्तु वे संस्कृतिसे भी अिसी देशके हो गये। हिन्दुस्तानके बाहर अुनके लिअे कोअी स्वदेश नहीं रहा। अगर वे वहांसे कुछ संस्कृति लेकर आये तो अुसे पूरी तरह यहांके लोगोंने अपनाया और यहांकी भली-बुरी सब बातें अुन लोगोंने अपनायीं और वे पूरे-पूरे यहांके हो गये।

जब मुसलमान अिस देशमें आये तो यहांके लोगोंसे वे तुरन्त घुलमिल नहीं गये। अुनके गोमांसाहारको यहांके लोग सहन न कर सके और यहांकी मूर्ति-पूजाको वे भी सहन न कर सके। जब और प्राणियोंका मांस खाया जाता है तब गायका मांस खानेमें क्या हर्ज हो सकता है, यह अुनके ध्यानमें नहीं आ सका। भारतकी कृषि-प्रधान संस्कृतिमें गायका क्या महत्त्व है, यह किसीने भी अुन्हें नहीं बताया; और न कलाप्रिय भारतवासी मुसलमानोंके मूर्ति-विरोधको समझ सके। अन्य देशोंके जड़ लोगोंने मूर्तिके नाम पर क्या क्या अनाचार चलाये थे, अिसका खयाल तक हमारे लोगोंको न था।

किन्तु भारतीय संस्कृतिमें अेक बहुत बड़ी चीज थी, जो अन्य देशोंमें बहुत कम पाअी जाती है। भारतके लोग पहलेसे यह मानते आये हैं कि अीश्वरके पास पहुंचनेके मार्ग अनेक हैं। मनुष्य अज्ञानी है, यह कोअी अुसका गुनाह नहीं है। अीश्वर सर्वज्ञ है। वह हर मनुष्यके हृदयकी बात जानता है। अगर मनुष्यमें दुष्टता न हो तो अुसके अज्ञानको क्षमा तो अीश्वर पहलेसे ही कर देता है। अीश्वरके सामने छोटे और बड़े, पंडित और मुल्ला, विद्वान और जंगली — सबके सब अज्ञानी ही हैं। अेकका अज्ञान काजलके जैसा होगा, तो दूसरेका अज्ञान कोयलेके समान होगा। अुनमें से किसे सजा करे और किसे माफी दे?

जो मुसलमान बाहरसे हिन्दुस्तानमें आये अुन्होंने अिसी देशको अपना स्वदेश बनाया, अपनी स्वभाषा छोड़कर यहांकी भाषाको ही स्वभाषा बनाया। बुल-बुलोंके साथ कोयलका गाना सुनकर भी अुनका हृदय अुछलने लगा। तरबूजके प्रति जो भक्ति थी वह अुन्होंने यहांके आमको अर्पण की। और वे हिन्दुस्तानी

बन गये। यह बात हुअी बाहरसे आये हुअे मुसलमानोंकी। किन्तु आज हिन्दुस्तानमें जो मुसलमान हैं, अुनमें बाहरसे आये हुअे कितने हैं? फी सदी बीस भी नहीं होंगे। बाकीके सब अनादि कालसे अिसी देशके रहनेवाले हैं। अुनके लिअे हिन्दुस्तानी बननेका सवाल ही नहीं था। वे कभी गैर-हिन्दुस्तानी थे ही नहीं। वे तो व्यास, वाल्मीकि, बुद्ध और शंकराचार्यके ही वंशज हैं। जिन भारतवासियोंने किसी भी कारणसे अिस्लामका स्वीकार किया, अुन्होंने कालिदास और भवभूति, आर्यभट्ट और भास्कराचार्य, वाग्भट्ट और तानसेनकी अपनी विरासत छोड़ी नहीं है। मुसलमान होनेसे अुन्होंने फारसी और अरबीको अपनाया जरूर, किन्तु बंगाली और मराठी, तामिल और तेलगू आदि अपनी मातृभाषाओंको अुन्होंने छोड़ नहीं दिया। मातृभाषाका द्रोह करके किसीने अपना सामर्थ्य बढ़ाया नहीं है, अपना अुद्धार नहीं किया है। संस्कृत भाषा जितनी ब्राह्मणोंकी है अुतनी ही दूसरे सब वर्णोंकी है। अितना ही नहीं, संस्कृत भाषा जितनी हिन्दुओंकी है अुतनी ही हिन्दुस्तानके मुसलमान और अीसाअियोंकी है। संस्कृतमें लिखे हुअे भव्य साहित्यका सत्कार हिन्दू, मुसलमान और अीसाअी तीनों समान भावसे कर सकते हैं। अगर कोअी अिस विरासतसे मुंह मोड़ेंगे, तो वे अपनेको संस्कारकी दृष्टिसे दरिद्री ही बनायेंगे।

जिन लोगोंने अिस्लाम या अीसाअी धर्मको स्वीकार किया है वे हिन्दू धर्मग्रंथोंको हिन्दुओंकी तरह प्रमाण नहीं मान सकते, तो भी अुनके प्रति अुनके मनमें आदर-भाव अवश्य रहेगा। नया धर्म ग्रहण करनेसे वे अपनी विरासतको छोड़ नहीं देंगे। किन्तु अुसे अपनी नअी दृष्टिसे शुद्ध करके अपने नये धर्मके द्वारा समृद्ध ही करेंगे। भारतीय संस्कृतिकी चमक मिलनेसे अुनका धर्म अधिक तेजस्वी बन जायगा।

और जो लोग हिन्दू हैं वे भी अीसाअी और अिस्लामी धर्मग्रंथोंका प्रामाण्य न स्वीकारते हुअे भी अुनकी अिज्जत तो अवश्य करेंगे और अुनसे अुतना ही लाभ अुठायेंगे जितना वे अपने धर्मग्रंथोंसे अुठाते हैं।

संसारमें अितने सारे धर्म हैं, किन्तु अुन सब धर्मोंका अेक विशाल धर्म-कुटुम्ब बनानेकी शक्ति भारतीय संस्कृतिमें ही है। भारतीय संस्कृतिने कबका कह दिया है कि मानव-कुलमें प्रचलित सब प्रधान धर्म सच्चे हैं। सभीकी प्रेरणा अीश्वरसे मिली है। और सबके सब मनुष्योंके बीच प्रचलित होनेके कारण मनुष्योंकी अपूर्णता भी अुनमें आ गअी है। गंगा गंगोत्रीसे निकली है, लेकिन वहीं ठहरी नहीं है। जब तक वह विशाल सागरमें विलीन न हो जाय तब तक अुसे आगे बढ़ना ही है। अुसमें यमुना आकर मिलेगी, चर्मण्वती और शोण आकर मिलेगी, सरयू और गंडकी भी आकर मिलेगी, और सागरमें पहुंचते पहुंचते हिमालयके अुस पारसे आनेवाली ब्रह्मपुत्राके साथ भी अुसका संगम हो जायगा। भारतीय

संस्कृतिकी भी अैसी ही बात है। वैदिक संस्कृतिसे अुसका अुद्गम हुआ होगा। अुसके पहलेकी बात हम नहीं जानते, किन्तु अुसमें दुनिया भरकी संस्कृतियोंने अपना-अपना कर-भार डाल दिया है। भारतीय संस्कृतिमें अिस्लामी और ओसाअी संस्कृति मिल गअी है। अिसलिअे हिन्दुस्तानके अिस्लामकी खूबी अरबस्तान, अीरान या मिस्रके अिस्लामसे कुछ अलग होगी, कुछ अधिक होगी। भारतका अीसाअी धर्म अिटली, फ्रांस, जर्मनी, अिंग्लैंड और रूसके अीसाअी धर्मसे कुछ अलग सुगंध बतायेगा। अीसाअी धर्मकी खूबी जब हिन्दुस्तानके अीसाअी लोग बताने लगेंगे, तो अीसाअी धर्ममें अेक नअी ही समृद्धि आ जायगी।

और, अिस्लाम तथा अीसाअी धर्मके हिन्दुस्तानमें आनेसे हिन्दू धर्मकी खूबी भी अधिक अच्छी तरहसे स्पष्ट होने लगी है। सूफी मत और कबीर मत, ब्राह्म-समाज और आगाखानी सम्प्रदाय, सबमें हम भारतीय संस्कृतिकी समन्वय-कारी शक्ति देख सकते हैं।

और जो लोग अीश्वरको नहीं मानते, किसी भी धर्मके प्रति आदर रखना पसन्द नहीं करते, किसी शास्त्रको नहीं मानते, बुद्धिसे श्रेष्ठ किसी भी चीजको स्वीकार नहीं करते, वे भी भारतीय संस्कृतिसे बहिष्कृत नहीं हैं। अुनकी भी परम्परा अिस देशमें प्राचीन कालसे चली आअी है।

नदीमें रोज नया पानी आता रहता है। अेक प्रान्तसे दूसरे प्रान्तमें वह बहती है, तो भी अुसका रंग, रूप, व्यक्तित्व और सौंदर्य अक्षुण्ण रहता है। संस्कृतिकी भी यही बात है। भारतीय संस्कृतिमें दुनिया भरकी सब संस्कृतियोंका असर दीख पड़ता है, लेकिन वह भारतीय ही रही है। भारतीय शब्दमें आर्य प्रारंभका सूचन अवश्य है, किन्तु वैदिक या महाभारत कालसे वह सीमित नहीं हो सकती। कअी लोग भारतीय शब्द पर आपत्ति अुठाते हैं। वे भारतीय संस्कृतिका स्वभाव ही नहीं जानते। भारतीय संस्कृति एक जीवित चैतन्यमय और वर्द्धमान संस्कृति है। मानवताका अन्तिम कल्याण ही अुसका आदर्श है। भारत-वर्ष अुसका केन्द्र है, मध्यबिन्दु है; और अुसका कार्यक्षेत्र अखिल विश्व है।

मअी, १९३९

३

धर्मोंका धर्म*

[सर्व-धर्म-परिषद्]

सर्व-धर्म-परिषद्के विचारको भारतमें प्रस्तुत करनेका श्रेय स्वामी विवेकानन्दको मिलना चाहिये । अुन्होंने जगतको यह समझाया कि जिस सर्व-धर्म-परिषद्में हिन्दू धर्मका समान साझेदारके रूपमें प्रतिनिधित्व न हो, वह परिषद् अधूरी ही मानी जायगी। सन् १८९३ में भारतके शिक्षित वर्गको यह लगा कि जगतमें हिन्दू धर्मकी श्रेष्ठता सिद्ध हुअी है। और अुस दिनसे स्वामी विवेकानन्दका नाम हमारे लिअे अेक घरेलू शब्द बन गया । मैं अुस समय छोटा था, परन्तु अिस समाचारकी चर्चा करनेवाले अपने बड़े भाअियोंके ज्वलंत अुत्साह और हिन्दू धर्मके भविष्यके विषयमें अुनकी असंख्य आशाओंका आज भी मुझे पूरा स्मरण है। कुछ ही समयमें स्वामी विवेकानन्दके भाषणोंका अनुवाद मेरी मातृ-भाषा मराठीमें हो गया और लोग अुन भाषणोंको बड़ी अुत्सुकतासे पढ़ने लगे। केवल विषयकी दृष्टिसे तो वेदांतका ज्ञान रखनेवाले वर्गके लिअे अुन भाषणोंमें नया कुछ नहीं था; परन्तु अुनका अेक अेक शब्द प्राणसे परिपूर्ण और आशा तथा आत्म-विश्वाससे भरा हुआ था । अुन भाषणोंमें स्वामीजीने हिन्दू धर्मको जिस तरह प्रस्तुत किया था अुसकी अपूर्वता अुनके अर्वाचीन दृष्टिकोणमें तथा आधुनिक युगके सामाजिक और शैक्षणिक प्रश्न हल करनेके लिअे अुनके द्वारा किये गये वेदान्तके सिद्धान्तोंके अुपयोगमें निहित थी। जैसे जैसे मैं अुमरमें बढ़ता गया वैसे वैसे मेरी दृष्टिमें अुनके अुपदेशोंका महत्त्व बढ़ता गया और मैं स्वामीजीको भारतीय संस्कृतिके चरमोत्कर्षके रूपमें मानने लगा।

कुछ वर्ष बाद स्वामीजी द्वारा 'मेरे गुरु' के नामसे गुरु महाराज रामकृष्ण परमहंसको अर्पित श्रद्धांजलि मेरे हाथमें अचानक आअी। अुसका मुझ पर अद्भुत प्रभाव पड़ा । अुस छोटेसे जीवन-चरित्रके द्वारा स्वामीजीने मुझे आध्यात्मिक जीवनकी वास्तविकता और महत्तामें श्रद्धा रखनेवाला बना दिया। मैं समझ ही नहीं पाया कि अंग्रेजी और संस्कृत भाषाके ज्ञानसे सर्वथा अनभिज्ञ अेक निरक्षर व्यक्ति स्वामी विवेकानंद जैसे दार्शनिक और तेजस्वी प्रज्ञावाले मनुष्यमें शिष्य-भाव कैसे प्रेरित कर सका होगा। लेकिन मुझे तो पहलेसे ही स्वामीजीने मंत्र-

* ता० ३–३–'३७ को कलकत्तेमें हुअी सर्व-धर्म-परिषद् (पार्लमेन्ट ऑफ रिलीजन्स) के अवसर पर दिये गये अंग्रेजी भाषण 'The task before religions' का अनुवाद।

मुग्ध कर लिया था; वे जो कुछ लिखते अुस पर मैं आंतरिक श्रद्धा रखता था। अुस संक्षिप्त जीवन-चरित्रने मेरे मानसिक दृष्टिकोणमें क्रांति अुत्पन्न कर दी। कॉलेज-जीवनके आरंभके फलस्वरूप मुझे जो संशय-वृत्ति और तर्कवृत्ति प्राप्त हुअी थी, अुसमें भारी खलबली मच गअी; और आध्यात्मिक जीवनके जिस दर्शनको मैं बहुत दिनोंसे खो बैठा था वह मुझे फिरसे प्राप्त हो गया। मैं यह कहूं तो अतिशयोक्ति नहीं होगी कि अिस जीवन-चरित्रका पठन मेरे लिअे नया जन्म सिद्ध हुआ।

मैंने यह समझा कि भारतकी सच्ची आवश्यकता तो अेक अैसे शिक्षा-शास्त्री और समाजशास्त्रीकी थी, जो वेदांतके मूर्तिमंत प्राचीन ध्येयके समान अेक सच्चे धार्मिक पुरुषके जीवंत अनुभवोंका लोगोंको नये सिरेसे अर्थ कर दिखाये। विवेकानन्दको लगा कि यदि मुझे भारतके लोगोंको अपनी बात सुनानी हो, तो पहले सुदूर अमेरिकाकी अुच्च भूमि पर मुझे पहुंचना चाहिये। अिसलिअे जगतके धर्मोंकी परिषद्में हिन्दू धर्मका स्वयं-नियुक्त प्रतिनिधि बनकर अुन्होंने अपना यह अधिकार प्राप्त किया।

आज मैं अिस सर्व-धर्म-परिषद्में रामकृष्ण और विवेकानंदकी अभिन्न मूर्तिको अपनी भक्ति अर्पण करने आया हूं; और यह लिखते लिखते ही त्रिमूर्तिके अेक तीसरे अंगके रूपमें मुझे भगिनी निवेदिताका स्मरण होता है। अुनकी 'Web of Indian life' नामक पुस्तकने, 'The Master as I saw him' नामक काव्यचित्रमें अुनके द्वारा चित्रित अद्भुत जीवन-रेखाने, 'The Footfalls of Indian History' नामक निबन्धने तथा अन्य विविध निबन्धोंने मेरे लिअे युनिवर्सिटी शिक्षणका काम किया है; नहीं, मुझे कहना चाहिये कि भगिनी निवेदिताकी पुस्तकें और निबन्ध मेरे युनिवर्सिटी शिक्षणके दोषोंको सुधारनेवाले सिद्ध हुअे हैं। रामकृष्ण, विवेकानन्द और निवेदिताको मिलाकर अेक अखण्ड प्रवाह बनता है। वे पृथ्वी पर आध्यात्मिकताके अवतार जैसे हैं; विशाल वटवृक्षके रूपमें अेक ही बीजके अुद्भव और विस्तार हैं।

यहां मेरी स्मृति रामकृष्ण-परिवारके दूसरे सदस्योंकी ओर पीछे लौटती है। सन् १९११ में जब मैं अिस परिवारकी यात्राके लिअे कलकत्ता आया था तब मैं श्री श्रीमां, मास्टर महाशय, स्वामी ब्रह्मानंद तथा रामकृष्ण-मिशनका संचालन करनेवाले स्वामीजी महाराजके अन्य गुरुबन्धुओंके भाग्यशाली मण्डलसे मिला था। वहां सबसे पहले जिन संन्यासीसे मेरी भेंट हुअी वे थे स्वामी प्रेमानन्द। अुस समय वे बेलूर मठके अध्यक्ष थे। वे सच्चे भक्त और मूक सेवक थे। वे अंग्रेजी बहुत कम जानते थे; हिन्दी शायद बिलकुल नहीं जानते थे। अुनसे किसी प्रश्नका अुत्तर पाना बहुत कठिन था। जब मैंने गुरु महाराजके बारेमें अुनसे पूछा तो वे केवल ध्यानकी दशामें पहुंच गये और मूक बन गये। किन्तु

अुनकी सजल आंखोंने ही वाणीसे कहीं अधिक असरकारक अुत्तर मुझे अपने प्रश्नका दे दिया। अेक दूसरे मौके पर मैंने बनारसमें अुन्हें बंगलामें भाषण करते सुना था। निष्ठा और भक्ति पर यह अुनका अेक तेजस्वी, प्राणवान भाषण था।

अुस समय और अुसके बाद मैंने ब्रह्मानन्द, तुरीयानन्द, शिवानन्द, कल्याणानन्द और निश्चयानन्द स्वामियोंसे जो ज्ञान प्राप्त किया, अुसका विस्तृत वर्णन करनेका यह स्थान नहीं है। स्वामी शारदानन्दके तो मैंने केवल दर्शन ही किये थे। रामकृष्ण-मिशन अपनी अुपयोगिता और सेवामें प्रगति करे, अिसके लिअे ये सब लगन और निष्ठावाले संन्यासी प्राणपणसे प्रयत्न करते रहते थे। परन्तु मेरा सबसे अधिक परिचय तो मास्टर महाशयके साथ था। अुन्होंने मुझ पर गुरुकी विवेक-दृष्टिसे युक्त पिताका वात्सल्य खूब बरसाया था।

बादकी जवान पीढ़ीमें से स्वामी पूर्णानंद और माधवानंद तो हिमालयकी तलहटीके निवास-कालमें मेरे पड़ोसी ही थे। अिसलिअे आज मैं अिस संस्थामें अेक बाहरी व्यक्तिकी तरह नहीं आया हूं। गृहस्थ दशामें रहे हुअे आपके अेक बन्धुके नाते मुझमें अधूरापन जरूर है, फिर भी आप मुझे यह कहनेकी अिजाजत दीजिये कि मैं आपके अपने ही आदमीके रूपमें यहां आया हूं।

*

आज किस चीजने यहां अेक स्थान पर हमें अेकत्र किया है? मुझे लगता है कि वह चीज है विश्वके पीछे रही हुअी सब कुछ सहन करनेवाली प्रेम-शक्तिकी वास्तविकताका अनुभव करनेके लिअे यथासंभव सब प्रकारकी साधनाओंमें निर्भयतासे विचरनेवाले अेक आध्यात्मिक कोलंबसके अनुभवकी सत्यता, तीव्रता और सर्व-संग्राहिता। आध्यात्मिक क्षेत्रमें प्रयोग करनेवाले रामकृष्ण जैसे महान प्रयोग-वीरके सामने न्यूटन, फेराडे, अेडिंग्टन, जीन्स और रमण अित्यादि तो केवल बालकोंकी तरह हैं। आध्यात्मिक प्रयोग-वीरोंको स्वयं अपने पर प्रयोग करने पड़ते हैं; संशय और निराशाका समय बिताना पड़ता है; और अपने लक्ष्य पर पहुंचनेके बाद भी अुन्हें अपने प्राप्त परिणामोंकी यथार्थताका बार-बार निश्चय करते रहना पड़ता है। रामकृष्ण अुन ब्रह्मज्ञानियोंकी अखण्ड पंक्तिमें प्रथम कोटिके तारे थे, जिन्होंने भारतको अुसकी आजकी प्रतिष्ठाके अुच्च स्थान पर स्थापित किया है। रामकृष्ण परमहंसकी साधनाकी विशेषता अिस बातमें थी कि अुन्होंने विभिन्न धर्मों द्वारा बताअी हुअी साधनाअें अपने जीवनमें की थीं, जिससे प्रत्येक मार्गके अंतिम रहस्यको वे स्वयं अनुभवसे पा सकें। अिसी कारणसे वे दृढ़ विश्वासके साथ कह सकते थे कि सब धर्म हमें अेक ही स्थान पर पहुंचाते हैं। यह वस्तु अुनके लिअे तर्कका विषय नहीं थी; अुन्होंने अिसका प्रत्यक्ष अनुभव किया था। अिसीलिअे रामकृष्ण अिस युगके मार्गदर्शक बन गये हैं। अुनके अुस

अनुभवको बौद्धिक भूमिका पर यत्किंचित् अभिव्यक्ति देनेका प्रयत्न आज हम यहां कर रहे हैं।

रामकृष्ण परमहंसने भारतके सब मुख्य धर्मोंका सच्चा अध्ययन करनेकी आवश्यकताको प्रत्यक्ष सिद्ध कर दिखाया है । संसारकी विविध प्रजायें यदि आपसकी गलतफहमियोंको दूर करनेका और सुमेल साधकर जीनेका कोअी मार्ग नहीं निकालेंगी, तो अुनके बीचका झगड़ा लगभग अनिवार्य बनता जायगा। अिस तरहकी परिषदें केवल बौद्धिक क्षेत्रमें ही कार्य करना छोड़ दें, तो वे यह काम पूरा कर सकती हैं। धर्म अनुभवकी चीज है। अुसे प्रेम और श्रद्धासे ही प्राप्त किया जा सकता है । व्यावहारिक आदर्शवाद ही सारी प्रजाओंके बीच तथा अुनके द्वारा विकसित किये हुअे जीवन-मार्गोंके बीच मेल साधनेका मार्ग दिखा सकता है।

सब धर्मोंका तथा अुनके बताये हुअे जागतिक प्रश्नोंका अध्ययन अब केवल संस्कृतिके विद्वान अभ्यासियोंका विलास ही नहीं रहा है। वह अब अधिकाधिक सुसंगठित सामाजिक जीवनकी प्राथमिक आवश्यकताका रूप लेता जा रहा है। अितनी सावधानी अवश्य रखी जानी चाहिये कि यह अध्ययन मानसिक गगन-विहार न बन जाय। अुसे जीवन-स्पर्शी बनना चाहिये और प्रश्नोंके अुचित हल प्राप्त करनेके लिअे प्रयोग भी करने चाहियें। लोग सेवाकी ही भावनासे अेक स्थान पर अेकत्र हो सकते हैं और हृदयका मेल साध सकते हैं। बुद्धि अधिकसे अधिक आपसमें अुनकी समझको बढ़ा सकती है अथवा पहलेसे ही अुनके बीच यदि सद्भाव हो तो किसी हद तक अुसे सहारा दे सकती है। परन्तु हृदयोंको अेकसाथ बांधनेवाली और हम सबको अेक मानव-जातिमें अेकत्र करनेवाली शक्ति तो सेवा ही हो सकती है। स्वार्थत्याग तथा स्वार्पणकी सीमा तक जा सकनेवाली सेवा ही वह शक्ति है, जो सर्वत्र सुमेल स्थापित कर सकती है और हम सबका अेक परिवार बना सकती है। अलग अलग संगठन अिस क्रियामें किसी हद तक सहायक तो हो सकते हैं, परन्तु संगठन आत्माका साधन नहीं है। पृथ्वीके सभी संगठन पार्थिव हैं; और इस तरह वे आध्यात्मिक विकासमें अनेक बार विघ्न-कारक सिद्ध होते हैं। बहुत बार तो जो परिणाम सिद्ध करना अुन संगठनोंके स्वभावमें ही नहीं होता अुन परिणामोंकी आशा अुनसे रखकर हम अुनकी अुपयोगिताको नष्ट कर देते हैं। सच्चे सेवक अेक-दूसरेको स्वभावतः ही पहचान सकते हैं और स्वयं स्वतंत्र रहकर ही अेक-दूसरेकी मदद करते हैं। हमें सब धर्मोंका अेक व्यवस्थित फेडरेशन (संघ) नहीं बनाना है, परन्तु अेक ही क्षेत्रमें काम करती आत्माओंका सहज और स्वतंत्र सहयोग प्राप्त करना है। जगतके महान धर्म आज जो अेक-दूसरेके प्रतिस्पर्धी बन गये हैं अुसका कारण अुनके सिद्धान्तोंमें रहनेवाले भेद नहीं हैं, परन्तु वह बड़ा संगठन है जो प्रत्येक धर्मके

पीछे रहकर अुसका नियंत्रण करता है। अिस दुःखद स्थितिसे हम सब भली-भांति परिचित हैं।

आज संगठन और स्वोत्कर्षका सिद्धान्त कानून और जबरदस्तीके सिद्धान्तका वफादार मित्र बन गया है। अुससे केवल अंधी और दुःखपूर्ण मानव-प्रवृत्तिका क्षेत्र बढ़ानेमें ही मदद मिलती है। संख्याबल, संगठनकी विशालता और सत्ताके केन्द्रीकरणने न्याय और भलाअीके स्वाभाविक सामर्थ्यमें रही मनुष्योंकी श्रद्धाको नष्ट कर दिया है। आज मानव-जाति संख्या, संगठन और केन्द्रित सत्ताके तीन जीवंत देवताओंको ही अपनी भक्ति अर्पण कर रही है। अेक ओर प्रचलित धर्म आपसमें लड़ते रहते हैं, जब कि दूसरी ओर वे लज्जाजनक ढंगसे अिस युगकी अुपरोक्त त्रिमूर्तिके ही वश होते जा रहे हैं।

हमारे जीवनमें देखी जानेवाली अेक छोटीसी घटना मैं आपके सामने रखूं तो आप मुझे क्षमा करेंगे। लंकामें केन्डीना विहारके अेक बौद्ध साधुके साथ मैं बौद्ध धर्मके सिद्धान्तोंकी चर्चा कर रहा था। वह साधु अपनी विद्वत्ता और धर्मनिष्ठाके लिअे प्रसिद्ध था। बौद्ध धर्मके प्रति मेरा पक्षपात अुसे बहुत अच्छा लगा। अुसने मुझसे सीधा प्रश्न किया: "तो फिर तुम बौद्ध क्यों नहीं बने?" अुसकी सरलताको देखकर मुझे खुशी हुअी। अिसलिअे मैंने विनोदमें अुससे पूछा: "मैं यदि 'बुद्ध' और 'धर्म'को स्वीकार करूं और 'संघ'को स्वीकार करनेसे अिनकार कर दूं, तो आप मुझे बौद्ध दीक्षा देंगे?"

साधुने कहा: "यह असंभव है।" मेरे प्रस्तावको मान ले अैसा शास्त्र-विमुख, लोभी और नास्तिक वह नहीं था। अुसने तुरन्त अनेक शास्त्र-वचन अुद्धृत करके कहा कि यदि तीनों रत्नोंको अेकसाथ स्वीकार न किया जाय, तो निर्वाण संभव नहीं हो सकता।

मैं सम्प्रदाय जैसे संगठनकी अुपयोगिताकी अुपेक्षा नहीं करता। सम्प्रदाय लोगोंमें अैसा अनुशासन स्थापित कर सकता है, जिसके द्वारा कोअी भी सिद्धान्त जीवंत धर्मका रूप ले लेता है। परन्तु सम्प्रदायको वृक्षकी छालकी तरह रहना चाहिये, जो वृक्षके भीतरके गर्भकी रक्षा करती है। अितना ही नहीं, वृक्षका पूरा विकास हो अिसके लिअे छाल प्रत्येक शीतऋतुमें स्वयं फट जाती है, लेकिन वृक्षके विकासको नहीं रोकती। परन्तु दुर्भाग्यसे मनुष्यके संगठन कुछ समय बाद अुसीकी आत्माको रूंधनेवाले बन जाते हैं, जीवन-रसके स्वतंत्र अुन्मुक्त प्रवाहको रोकनेवाले बन जाते हैं।

*

मुझे हमेशा यह लगा है कि सत्का विरोधी असत् नहीं, किन्तु सत्ता है। असत्को हमेशा सत्के सामने झुकते रहना पड़ता है, क्योंकि अुसका सारा बल सत्के ही दंभसे प्राप्त होता है। सत्का सच्चा विरोधी तत्त्व सत्ता है, जो सत्की

रक्षा करने अथवा अुसका आचरण करनेमें प्रवृत्त होते समय भी सत्का गला घोंटने, अुसे लज्जित करने या निर्बल बनानेका ही काम करती है। संसारके धर्मोंने मध्ययुगकी राज्यसत्ताओंके नमूने पर अपना संगठन जमानेका प्रयत्न किया और अैसा मान लिया कि सत्यके पीछे यदि सत्ताका बल हो तो अुसका जल्दी प्रचार हो सकता है। मैं नहीं मानता कि नास्तिकता भी अिससे अधिक बुराअी अथवा अधिक हानि कर सकती है। जिस प्रकार अीश्वरकी और धन-दौलतकी अेकसाथ पूजा नहीं की जा सकती, अुसी प्रकार सत्य और सत्ताकी भी अेकसाथ पूजा नहीं की जा सकती। हां, सत्ताका बल सत्यका ही आंतरिक बल हो तो बात अलग है। अिसलिअे धर्मोंने अपने आसपास सत्ताकी जो दृष्टि और विचारसरणी खड़ी कर दी है, अुससे बाहर निकलनेका प्रयत्न अुन्हें करना ही चाहिये। अहिंसा सत्यका ही अेक विशिष्ट पहलू है। खूब गहराअीमें अुतर कर हम जांच करें तो पता चलेगा कि सब धर्मोंका रहस्य सत्य तथा अहिंसाके प्रति अनन्य भक्तिमें ही निहित है। जैसा कि आयरिश कवि 'अे॰ अी॰' ने अुपयुक्त शब्दोंमें कहा है, सत्य स्वयं ही अपना अुचित बल है।

सब धर्मोंके बीच चलनेवाले तमाम झगड़ोंकी जड़में अिस महान सत्यका अस्वीकार ही है। सारे धर्म अपने सत्यसे विमुख होकर अैसा मानने लगे हैं कि अुनका संगठन, अुनका संख्याबल, थोड़ेमें कहा जाय तो अुनकी सत्ता ही वास्तवमें अुनका सत्य है। वर्ना अपने सम्प्रदायके लोगोंकी संख्या बढ़ानेके लिअे अितनी अुत्सुकता कैसे हो सकती है? अथवा बड़े बड़े समुदायोंमें लोगोंका धर्म-परिवर्तन करनेका अहंकारपूर्ण दावा कैसे संभव हो सकता है? सच्चेसे सच्चा अेकमात्र धर्म-परिवर्तन तो असत्यसे सत्यमें, अंधकारसे प्रकाशमें, बुराअीसे भलाअीमें और अन्यायसे न्यायमें ही हो सकता है। और अैसा धर्म-परिवर्तन जगतके सभी धर्मोंके अनुयायियोंमें होना अभी बाकी है।

प्रत्येक धर्मके दो अंग होते हैं: अेक, अुसके सिद्धान्त अर्थात् सत्य; दूसरा, अुसकी आचार-विधि अर्थात् साधना। और हिन्दू धर्मकी यह बलिहारी है कि अुसने अिस बातको पहलेसे ही समझ लिया था। अुसने यह भी समझ लिया था कि अिन दो अंगोंमें से केवल आचार-विधिको ही तंत्रबद्ध किया जा सकता है, सिद्धान्तोंसे सम्बन्धित भागको नहीं। अिसलिअे हिन्दू धर्मने मनुष्यके विचारों, कल्पनाओं और ध्येयोंको पूर्णतया मुक्त रहने दिया। अिसी कारणसे हमें हिन्दू धर्ममें अूंचेसे अूंचा वेदान्त-दर्शन तथा विविध दर्शनोंकी समृद्धि देखनेको मिलती है। किन्तु केवल बौद्धिक शोध हमें कभी सन्तुष्ट नहीं कर सकती। अिसलिअे हमने जीवनके प्रयोग किये और अिसके फलस्वरूप अपने अपने निश्चित जीवन-मार्ग तथा अचल आचार-विधियोंवाले असंख्य संप्रदाय खड़े हुअे। ये आचार-विधियां ही मनुष्यकी साम्प्रदायिक मान्यताओंको वास्तविक रूप प्रदान करती हैं। परंतु

बादमें हमारे लोगोंकी बुद्धिशक्ति और प्राणशक्ति पर कोअी विचित्र निष्क्रियता छा गअी और अुन्होंने धर्मके सिद्धान्तोंमें परिवर्तन हो जाने पर भी अपनी आचार-विधियोंमें परिवर्तन करना छोड़ दिया। कदाचित् सत्ताने सत्यको पद-भ्रष्ट कर दिया और साथ ही धर्मको भी सत्त्वभ्रष्ट कर दिया।

परम तत्त्वकी कल्पनाके विषयमें अद्वैती और द्वैतीमें अुत्तर और दक्षिण ध्रुवोंके जितना अंतर है। परन्तु आप यदि अुनके जीवनकी जांच करें, तो अुनके आचारमें आपको कोअी अंतर नहीं मालूम होगा। द्वैती कदाचित् अद्वैती बन जाय तो भी अुसके अनुसार जीवनके प्रति अुसके दृष्टिबिन्दुमें अथवा अुसकी आचार-विचारकी विधियोंमें कोअी परिवर्तन नहीं होगा। हमारे तत्त्वज्ञानियोंने जीवनमें व्यावहारिक और पारमार्थिक पक्षका सुविधापूर्ण भेद खोज निकाला है। अिसलिअे जब स्वामी विवेकानन्दके समक्ष पंडित लोग अपनी अकर्तव्यशीलताके बचावमें यह भेद रखते, तो स्वामीजी अपना धीरज खो बैठते थे और खूब चिढ़ जाते थे।

प्रत्येक दर्शनकी अपने अनुरूप अेक स्मृति होनी चाहिये। परन्तु जैनोंके पास अुनकी अहिंसा और अनेकान्त-वादके अनुरूप कोअी स्मृति नहीं मिलती। अुनकी 'अर्हन्नीति' अेक साधारण कोटिकी पुस्तक है। वेदान्तियोंने निष्ठुरतासे अेक तर्क-शुद्ध स्मृतिकी रचना कर डाली; किन्तु अुसके अनुसार जीवन जीनेकी जिम्मेदारी यतियों अथवा संन्यासियोंके लिअे सुरक्षित कर दी। अद्वैतवादको स्वीकार करने-वाले गृहस्थी वेदान्तीने अपनी जीवन-पद्धतिमें जरा भी परिवर्तन नहीं किया। अिस कारणसे दर्शनोंकी संपूर्ण चर्चा चर्चा-परिषद्के निरे वाद-विवादका रूप ले लेती है।

प्राचीन कालके भाष्यकारोंने विभिन्न दर्शनोंकी तर्कशुद्धता तथा अुनमें निहित सैद्धान्तिक मान्यताओंकी अेकवाक्यता प्रकट कर दिखाअी है। परन्तु अब विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों तथा विविध साम्प्रदायिक मान्यताओंसे फलित होनेवाले सामाजिक आचार बतानेका समय अर्वाचीन विचारकोंके लिअे कभीका पक चुका है। अिस नूतन दृष्टिसे यदि हमारे आस्तिक और नास्तिक दर्शनोंका अभ्यास किया जाय, तो अुनमें से अेक नया और अुपयोगी अर्थ प्रकट होगा और हमारा समाज पुनर्जीवन प्राप्त करेगा।

जैन और सिक्ख धर्मके साथ हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म, जरतुश्ती धर्म, यहूदी धर्म, अीसाअी धर्म तथा अिस्लामका और दूसरे सब धर्मोंका यदि सामाजिक दृष्टि-कोणसे अध्ययन किया जाय, तो आज जो प्रश्न मानव-समाजको परेशान कर रहे हैं अुनका हल जरूर मिल सकता है।

ये प्रश्न कौनसे हैं?

मैं धर्म-परिवर्तनके प्रश्नका अिससे पहले अुल्लेख कर ही चुका हूं; परन्तु वह धर्म-परिवर्तन अेक धर्मसे दूसरे धर्मका नहीं बल्कि असत्से सत्का, अन्यायसे न्यायका है। अैसा धर्म-परिवर्तन क्या हमने सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक

क्षेत्रमें किया है? अिन सब क्षेत्रोंमें आज जो बखेड़ा मचा हुआ है, अुसका कारण अिन क्षेत्रोंमें न्यायवृत्तिका सर्वथा अभाव है। यह वचन अीसा मसीहका कहा माना जाता है कि: 'राजाका जो है वह राजाको दो; और अीश्वरका जो है वह अीश्वरको दो।' अेक हिन्दू शास्त्र-वचन तो सीधा ही कह देता है कि राज्य चलानेके बाद राजाको नरकमें ही जाना पड़ता है। जो मनुष्य राजा बनकर दूसरोंके जीवनको नियंत्रित करनेका प्रयत्न करता है, वह नरकमें जाता है; सत्ताके बल पर भरी गअी राजाकी तिजोरीमें से दानके रूपमें प्राप्त किया हुआ सारा धन अपवित्र है। कोअी भी धर्मात्मा पुरुष अुसे स्वीकार करने पर भ्रष्ट हुअे बिना नहीं रहता।

तो फिर जगतकी आर्थिक परिस्थितिके विषयमें अिस सर्व-धर्म-परिषद्का क्या निर्णय है?

जगतके महान शांतिस्थापक आन्दोलन सब प्रकारके युद्धोंका आज भी विरोध कर रहे हैं, लेकिन अुसका कोअी असर नहीं होता। दूसरी ओर सब देशोंमें विनाशक शस्त्रास्त्र और साधन-सामग्री तेजीसे बढ़ाअी जा रही है। यह सर्व-धर्म-परिषद् अपनी आवाजको असरकारक भले ही न बना सके, परन्तु अिसे अितना तो घोषित करना ही चाहिये कि युद्ध आजकी शोषण-पद्धतिके रूपमें सारे संसारमें फैले हुअे रोगका ही समय समय पर होनेवाला आक्रमण है; और यह रोग स्वयं नैतिक जीवन-स्तरको हानि पहुंचा कर सिद्ध किये जानेवाले महंगे भौतिक जीवनका परिणाम है। हमें यह घोषणा करनी चाहिये कि अीश्वर और मनुष्यमें श्रद्धा रखनेवाले लोग अिन दोनों जीवन-स्तरोंकी नये सिरेसे जांच करें। आज समाज-में सर्वत्र रूढ़ बने हुअे शील-सदाचार, अव्यभिचार तथा समाज-हितके आदर्शोंको चुनौती दी जाती है। प्राचीन व्यवस्थाका बचाव यदि हम आप्त-वचनोंसे या शास्त्रोंके तदनुकूल अर्थ निकाल कर करने जायेंगे, तो आज अिससे हमारा काम नहीं चल सकेगा। आज हमें सामाजिक आदर्शोंकी नअी व्याख्या करके धार्मिक आदर्शोंको लोगोंके मनमें सजीव करना होगा। अिस कार्यमें भी संगठित विचार और संगठित संकल्प अवश्य हमारी सहायता कर सकते हैं। काम-वासना, जो विवाहका और अिसलिअे सामाजिक जीवनका मुख्य आधार है, भावनाओंके चक्रका अेक बलवान अंग है; साथ ही वह आध्यात्मिक शक्ति अुत्पन्न करनेका विशेष साधन भी बन सकती है। अिसका आजकी तरह भौतिक दृष्टिबिन्दुसे नहीं किन्तु आध्यात्मिक दृष्टिबिन्दुसे अध्ययन करना चाहिये और अुसके विषयमें जिम्मेदारीसे प्रयोग किये जाने चाहिये। आजके भौतिक और गैर-जिम्मेदार रवैयेके प्रति हम अुदासीन नहीं रह सकते।

जगतके विविध धर्मोंके अिस प्रकार अेक स्थान पर अेकत्र होनेका दूसरा परिणाम यह आना चाहिये कि लगभग सभी धर्मोंमें — यहां तक कि गूढ़ता-

रहित होनेका दावा करनेवाले विज्ञानके धर्ममें भी — अंतिमता तथा सत्यके ठेकेदार होनेकी जो भावना बनी हुअी है अुसमें परिवर्तन हो। अिस परिषद्के प्रयत्नोंके फलस्वरूप सभी धर्मोंमें अुदारताकी भावना व्याप्त होनी चाहिये — जिस प्रकार धर्मशास्त्रके कारण कानूनकी पद्धतियां अुदार बनी हैं। यह कार्य अीसाअी पादरियों पर अथवा बुद्धिवादी मंडलों पर ही न छोड़ दिया जाय।

धार्मिक जीवनकी कल्पनाके विषयमें भी हमारी परिषद् यदि अेक कदम आगे बढ़ा सके, तो कितना अच्छा हो? धीरजसे मनुष्य-जातिकी सेवा करनेवाले लाखों पालित पशु भी अिस महान परिषद्के निर्णयोंकी ओर आशासे कान लगाये बैठे हैं, अैसी मैं कल्पना कर सकता हूं। यदि धर्मका अर्थ प्रेम, दयालुता और कृतज्ञता, बंधुभाव तथा सब प्राणियोंके प्रति — जिनके अन्योन्याश्रयसे समग्र जीवन बनता है — कुटुम्ब-भाव होता हो, तो जिन पालित पशुओंने हमारे जीवनको अितना सुरक्षित और सरल बनाया है अुनके प्रति हमारा व्यवहार कैसा होना चाहिये, यह घोषित करनेका समय भी क्या आ नहीं गया है? गायका, जिसे महात्मा गांधीने करुणाका काव्य कहा है, सब देशोंके धार्मिक मनुष्योंसे सहानुभूति मांगनेका विशेष अधिकार है। वह मानव-जातिकी दूसरी माता है। अुसे संरक्षण देना और अुमर पूरी हो जाने पर अुसे शांतिसे मरने देना — यह मनुष्यके लिअे क्या बहुत कठिन है? यह निर्विवाद है कि अन्नका प्रश्न सबसे महत्त्वपूर्ण है। जमीन तथा पानीकी अुपजका अुपयोग प्रतिदिन बढ़नेवाली मानवकी भूखको शांत करनेमें किया जाता है। रासायनिक खाद्य-पदार्थोंकी खोज भी की जा रही है। धरतीकी सतह परसे भुखमरीको दूर करनेमें मानव-जाति लगभग सफल हो गअी है। अैसी स्थितिमें क्या अब हमें मानव-परिवारका अेक अंग बने हुअे प्राणीको — गायको — सुरक्षित बनानेका काम हाथमें नहीं लेना चाहिये? गाय माता न्याय और दयाकी अपनी अरजी यदि सब देशोंके धार्मिक पुरुषोंकी अिस परिषद्के सामने पेश न करे तो और कहां करे?

लेकिन केवल बेचारी गायकी ही बात क्यों की जाय? हम गुलामोंकी मुक्तिकी बातें करते हैं, किन्तु क्या गुलामोंको सचमुच मुक्त किया गया है? गुलामीकी प्रथाके रूपमें शायद गुलामीका अंत हुआ होगा, लेकिन सामाजिक और आर्थिक शोषण तो सर्वत्र चल ही रहा है। और शोषित मनुष्य यदि गुलाम नहीं है तो और क्या है? अेक तथाकथित अीसाअी राष्ट्रने दूसरे अीसाअी राष्ट्र पर स्वार्थ, शोषण और साम्राज्यके लिअे सीधा आक्रमण किया, लेकिन राष्ट्र-संघ अुसे रोक नहीं सका। क्या धर्मका संघ अैसे युद्धोंको रोक सकेगा?

धर्मवीरोंके लिअे, जो स्वार्थत्याग और स्वार्पणमें ही आनंद मानते हैं, तो अुनका अन्तर-नाद ही मार्गदर्शक होता है।

अिन सब प्रश्नोंका अेकमात्र हल समाजवाद है। आज समाजवाद भविष्यका धर्म बन जानेकी तैयारी कर रहा है। जगतके प्रचलित धर्मोंका रुख अिस नयी शक्ति और नये आदर्शके प्रति कैसा होगा? मुझे तो लगता है कि हम अवश्य ही समाजवादको अपना सकते हैं और समाजवादको धार्मिक पद्धतिसे प्रस्थापित करनेका अपना स्वतंत्र मार्ग विकसित कर सकते हैं। जिसे वैज्ञानिक समाजवाद कहा जाता है अुसने अैसी अपरिपक्व विचार-पद्धति और वर्ग-विग्रहकी अैसी निष्ठुर कार्य-पद्धति खड़ी कर ली है, जो अंतमें भयंकर सिद्ध हो सकती है। वह सब धर्मोंके लिअे अेक बड़ी चुनौती है। यदि सभी धर्म समाजवादको साहसके साथ स्वीकार करके जीवनको नया मार्ग नहीं दिखायेंगे, तो अुन सबको संग्रह-स्थानके सामाजिक विभागमें प्राचीन अवशेषोंकी दशासे ही संतोष मानना पड़ेगा। प्राचीन आदर्श तो विद्यमान है; अितना ही नहीं, आजकी आवश्यकताओंके लिअे जितना आवश्यक है अुससे अधिक वह पर्याप्त है। परन्तु अुसके पीछेका प्राचीन अुत्साह — अगर वह कभी था — अब नहीं रह गया है; और धार्मिक पुरुषोंने गरीबोंकी असहाय और निराशापूर्ण स्थितिकी परवाह करना भी छोड़ दिया है। सद्भावनाकी निरी बातें, अन्योन्य प्रशंसा तथा धर्म-विषयक सैद्धान्तिक या दार्शनिक चर्चायें अपने आपमें चाहे जितनी अच्छी हों, परन्तु धर्मोंकी परिषद्के लिअे अितना कार्यक्रम कभी पर्याप्त नहीं कहा जा सकता।

प्रत्येक धर्ममें प्राचीन शास्त्रोंका नये ढंगसे अर्थ करनेका प्रयत्न किया जाता है। अिस कारण प्रत्येक धर्म धीरे-धीरे अर्थ और व्याख्याकी अपनी नअी पद्धतियां विकसित करता जाता है। परन्तु शास्त्रवाक्योंकी व्याख्या पर तथा शास्त्र-वाक्योंके अर्थ पर ही आधार रखनेके बदले हमें मानवशास्त्र, समाजविद्या, कला तथा विकासवादकी और अिन सबसे अधिक आध्यात्मिक अनुभवकी सहायता स्वीकार करनी चाहिये और आजके धर्मोंके सिद्धान्तों तथा आचार-विधियों पर प्रकाश डालना चाहिये।

*

जब हम 'धर्मों' जैसे बहुवचनका प्रयोग करते हैं तब हिन्दू धर्म, अिस्लाम, अीसाअी धर्म आदि प्रचलित धर्मोंका ही विचार करते हैं। परन्तु अिन प्रचलित धर्मोंके आवरणके नीचे बिलकुल अलग बुनियादों पर सर्वथा नये धर्मोंका विकास होता जा रहा है। मानवताका धर्म जीवनके सभी प्रश्नोंका संतोषकारक हल प्रस्तुत करनेका दावा करनेवाली अेक संपूर्ण योजना है। कला अेक दूसरा धर्म है, जो जीवनमें संगति — सुमेल स्थापित करने तथा मानव-विकासके प्रश्नोंका निराकरण प्रस्तुत करनेका दावा करती है। कानून शायद आधुनिक युगका सबसे अधिक लोकप्रिय और शक्तिशाली धर्म है। मनुष्यको विरासतमें जो दुःख मिले हैं और जो दुःख अुसने स्वयं अपने लिअे अुत्पन्न किये हैं, अुन सबका अिलाज

अुचित कानूनों द्वारा करनेकी बात सोची जाती है। रोज नये बननेवाले कानूनों द्वारा मनुष्यके संपूर्ण जीवनको नियंत्रित करनेकी अिच्छा रखी जाती है। मनुष्यसे सम्बन्धित किसी भी बात या हरअेक बातके लिअे धारासभा ही प्रत्येक देशमें अेक बड़ी सत्ता बन बैठी है। हम प्रतिदिन कानूनोंकी निष्फलताका अनुभव करते हैं, फिर भी अपनी सर्वोत्तम शक्ति हम कानूनकी पद्धतिका विकास करने और अुसे नियंत्रणमें लानेमें खर्च करते हैं।

हममें यह मान्यता दृढ़ होती जाती है कि अंधविश्वास अब शीघ्रतासे नष्ट होते जा रहे हैं। परन्तु हम नये अंधविश्वासोंको स्थान देनेके लिअे ही पुराने अंधविश्वासोंको दूर करनेमें सफल होते हैं और अंधविश्वासोंका साम्राज्य हमेशाकी तरह विजयी ही सिद्ध होता है।

मेरी अपनी अेकमात्र आशा तो शिक्षा-धर्मके क्रमिक प्रचार और प्रसारमें निहित है। परन्तु यह शिक्षा कोअी शिक्षा-विभागके मंत्रियोंके हाथमें रहनेवाली शिक्षा नहीं है; मेरा आशय अुस शिक्षासे है जिसे अधिक अच्छे जीवनका — आध्यात्मिक जीवनका — संदेश देनेवाले थोड़ेसे पैगम्बरोंने फैलाया है। यह शिक्षा वैयक्तिक और सामाजिक तथा राष्ट्रीय और आंतर-राष्ट्रीय — अिस प्रकार समग्र मनुष्यको शिक्षित करनेका अिरादा रखती है।

अिस दृष्टिकोणसे यदि देखें तो ज्ञान, भक्ति और कर्म ये आत्मोन्नतिके वैकल्पिक मार्ग नहीं हैं, परन्तु आत्म-विकासके हमारे साधनारूपी रत्नके अलग अलग पहलू ही हैं।

'सत्य और अहिंसामें निष्ठा' ये कोअी बौद्धिक सिद्धान्त नहीं हैं। ये तो मनुष्य-जातिके जाने हुअे अमोघ आचार हैं। ये सब प्रकारके धार्मिक जीवन और आचारोंकी कसौटी करनेवाले हैं। और व्यक्ति तथा समुदायके जीवनमें अिन आचारोंको अुतारनेका अेकमात्र साधन शिक्षा ही है।

अैसा लगता है कि मनुष्य-जाति धर्म-भावनाको पुनरुज्जीवित करनेके लिअे नअी शिक्षा और नअी अिन्द्रियकी प्रतीक्षा कर रही है। प्राचीन लोग बलशाली साहजिक वृत्तियों तथा बिजलीकी तरह चमक अुठनेवाले स्फुरणोंके युगकी छायामें रहते थे। वे तीव्र ध्यानके द्वारा अनंतके रहस्यमें गोते लगानेका प्रयत्न करते थे। अैसी ध्यानशक्ति अुत्साहपूर्ण प्रारंभिक कालका लक्षण होती है। अुन लोगोंने किसी गूढ़ रीतिसे अंतःस्फुरणकी अिन्द्रिय प्राप्त कर ली थी, जिसे हम लोग खो बैठे हैं। सॉक्रेटीस, जरतुश्त, बुद्ध और अुपनिषद्-कालके बादके ॠषियोंके समयसे मनुष्य-जातिने तर्क-प्रधान युगमें प्रवेश किया है। अैसा कहा जा सकता है कि अिस युगके पीछे पीछे अेक ओर संगठनका जमाना आया और दूसरी ओर कलात्मक आविष्कारका जमाना आया। अुसके बाद विकासवादके सिद्धान्तका प्रचार हुआ और अुसने हमें अैतिहासिक दृष्टिकोण प्रदान किया, जिससे प्राचीन लोग बहुत

परिचित नहीं थे। कलात्मक दृष्टि और आंतर-राष्ट्रीय दृष्टिकोण —— ये आजकी मानव-जातिके मुख्य लक्षण हैं। धर्मोंको यदि फूलना-फलना हो और मानव-जातिको नया जीवन प्रदान करना हो, तो अुन्हें अिस जमानेके रुझान और प्रवाहको समझकर जीवनका नया मार्ग दिखाना चाहिये। अिस बातको अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि आजके अधिकांश मानव-समुदायमें, और मुख्यतः अुसका मार्गदर्शन करनेकी अिच्छा रखनेवाले शिक्षितोंमें, धर्मका महत्त्व बहुत घट गया है। संसारके धर्म बहुत लम्बे समय तक अपनी नाव चलाना बंद करके निष्क्रिय बैठे रहे हैं; अिसीलिअे आज अुन्हें मालूम होता जा रहा है कि अुनके पास कीमती माल होने पर भी प्रवाहमें आगे बढ़नेके बजाय वे पीछे हटते जा रहे हैं। अिस बीच मनुष्य-जातिने विज्ञान, राजनीति और प्रचुर धन-दौलतको ही अपनी प्रवृत्तिका मुख्य क्षेत्र बना लिया है। अिसलिअे अब तो धर्म मनुष्य-जातिकी अिन मुख्य प्रवृत्तियोंको अर्थ प्रदान करें, अिनके बीच सुमेल स्थापित करें और अिन्हें अपने नियंत्रणमें ला सकें, तो ही अुन्हें अपना मुख्य स्थान फिरसे प्राप्त हो सकता है।

४

सार्वभौम जीवन-दर्शन*

१

दर्शन-परिषद्के अध्यक्ष-पद पर अपने आपको देखकर मुझे जितना आश्चर्य होता है अुतना आप लोगोंको भी शायद नहीं होता होगा। कॉलेज छोड़नेके बाद न तो मैंने अिस विषयका अधिक अभ्यास किया है, न मैंने अिस विषयमें कोअी साहित्य लिखा है। जो मनुष्य जीवनके अलग अलग अंगोंका महत्त्व समझता है, अुसके अभ्यास और चिंतनमें दर्शनशास्त्र भी आ ही जाता है। अिस तरह मेरा भी दर्शनशास्त्रसे संबंध रहा है। परंतु यहां मैं अपनी योग्यता या अयोग्यताकी चर्चा करना जरूरी नहीं मानता। अध्यक्ष दो प्रकारके होते हैं: कुछ अग्रमान्य होते हैं, तो कुछ भीड़-भंजक होते हैं। मैं मानता हूं कि यहां मैं दूसरे प्रकारका अध्यक्ष हूं। और अिसलिअे मैं अपना कर्तव्य अितना ही मानता हूं कि परिस्थिति-प्राप्त कर्तव्यको अपना धर्म समझ कर अुसके सामने सिर झुकाअूं और यथाशक्ति अुसे पूरा करूं।

---

* सितम्बर १९३८ में शिमलामें हुअे हिन्दी साहित्य सम्मेलनके दर्शन-विभागके अध्यक्ष-पदसे दिया गया भाषण।

अभी अभी मेरा संबंध तीन साहित्य-परिषदोंसे जुड़ा है: हिन्दी, मराठी और गुजराती साहित्य-परिषद्। प्रत्येक मुख्य परिषद्के साथ अैसी विभागीय परिषद्का भी आयोजन किया जाता है। अिन परिषदोंके लिअे सामान्य लोगोंमें जितना अुत्साह होता है अुसे देखकर मैंने अिन परिषदोंका नाम अभागी परिषद् रख दिया है। कुछ स्थानोंसे तो अैसी परिषदें बंद कर देनेका सुझाव भी आया है। परंतु मैं अिस सुझावको पसन्द नहीं करता।

अिस सम्बन्धमें मेरा आदर्श यह है कि प्रत्येक विभागकी परिषद् हो जानेके बाद अुसका अेक अलग मंत्री नियुक्त किया जाय। वह मंत्री हिन्दी भाषामें अुस विषयके साहित्यकी पूरे वर्षमें कैसी और कितनी प्रगति हुअी है, अुस विषयमें क्या क्या लिखा गया है तथा अुस विषय पर अन्य प्रान्तोंमें और विदेशोंमें कैसी मौलिक कृतियां प्रकाशित हुअी हैं, अिसकी अेक ब्योरेवार सूची तैयार करे और अुसे दूसरे वर्षकी परिषद्के समक्ष रखे।

विज्ञान, दर्शन, अितिहास, साहित्य, समाजशास्त्र, नृवंशशास्त्र (Anthropology), राजनीति आदि विषयोंमें जिन लोगोंकी दिलचस्पी है अुन पुराने और नये साहित्यसेवकोंका अलग अलग संगठन करनेके लिअे विभिन्न परिषदोंके अैसे कुछ विशेष सदस्य बनाये जायं, जिनसे कोअी फीस न ली जाय — अुन्हें सदस्य बनानेके लिअे किसी गण्य-मान्य व्यक्तिकी सिफारिश ही पर्याप्त मानी जाय। मंत्री अैसे सदस्योंके साथ सम्बन्ध स्थापित करे और यदि अुन सदस्योंसे वह कुछ लिखवा सके तो लिखवा कर संमेलन-पत्रिकामें प्रकाशित करे।

अिन सब विभागोंके मंत्रियोंका मंडल संमेलन-पत्रिकाका संपादक-मंडल बने।

अिस प्रकार यदि कार्य किया जाय तो राष्ट्रभाषा हिन्दीके सभी अंगोंकी अुन्नति होगी, परीक्षा-विभागका काम भी परिपुष्ट होगा और 'प्रचारको अधिक महत्त्व दिया जाय या साहित्यको?' जैसे आत्मघाती प्रश्न भी अपने आप शांत हो जायंगे। जो विभाग मंद गतिसे चलता हो अुसे विशेष प्रोत्साहन देकर आगे बढ़ाया जाय।

जब हिन्दी साहित्य सम्मेलन अिस प्रकार हिन्दी साहित्यके अंग-प्रत्यंगकी रक्षा करेगा, तब वह 'लिटररी ऑर्गेनाअिज़र' अथवा इंजीनियर बन जायगा। ('ऑर्गेनाअिज़र' को हम हिन्दी या गुजरातीमें क्या कहेंगे — व्यास या पूषा?)

२

मेरे आदर्शके अनुसार यदि अिस परिषद्का आयोजन किया गया होता, तो भीड़से बचनेकी दृष्टिसे भी मैं अिस स्थानको कभी स्वीकार न करता। परंतु हमारे संमेलनकी अभी आरंभिक दशा है, अिसलिअे मेरे कुछ विचार और सुझाव हिन्दी-भाषी जनताके समक्ष रखनेका मुझे जो अवसर मिला है, अुसका लाभ अुठानेकी दृष्टिसे ही मैं अिस स्थान पर खड़ा रहनेकी धृष्टता करता हूं।

दर्शनशास्त्रका गहरा अभ्यास न करनेके कारण ही शायद दर्शन-संबंधी मेरी कल्पना कुछ अलग हो गअी है। मैं नहीं जानता कि विद्वान दार्शनिक अुसे कहां तक स्वीकार करेंगे। परंतु अिस विषयमें यदि थोड़ी भी चर्चा होगी, तो अुससे मुझे संतोष होगा; यह भी संभव है कि अुससे मेरे दर्शन-संबंधी ज्ञानमें थोड़ा सुधार अथवा वृद्धि हो।

दर्शन शब्द आया कहांसे? अिसके स्थान पर तत्त्वज्ञान-शास्त्र अथवा तत्त्व-विज्ञान क्यों नहीं कहा गया? आर्ष वचन है कि: 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः।'

अुपनिषद्के अिस वचनमें आत्मज्ञानकी जो साधना बताअी गअी है, अुसके आरंभिक विभागको (द्रष्टव्य विभागको) ही दर्शन कहा जाता है।

आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिअे जो तत्त्व-चिन्तन किया जाता है, अुसीको दर्शन कहा जाता है। तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिअे जो शास्त्र-विचार होता है, वही दर्शन है। नैयायिकोंके मतानुसार बारह तत्त्व अथवा प्रमेय हैं, जिनका तात्त्विक ज्ञान होना आवश्यक माना जाता है। वह ज्ञान अुन्नतिकारक और समस्त ग्रंथियोंका छेदन करनेवाला है। हम अिन बारह तत्त्वोंको ही दर्शनशास्त्रके मुख्य विषय मानें — आत्मा, शरीर, अिन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग। अिनमें से द्रव्य-गुण-कर्मरूपी 'अर्थ' बाह्य सृष्टिसे संबंध रखता है। बाकी शरीरसे आत्मा तथा अपवर्ग तकके सभी तत्त्व मनुष्य-जीवनसे सम्बन्ध रखते हैं।

प्राचीन कालमें दर्शनके दो मुख्य भाग किये गये थे: आस्तिक और नास्तिक। अिस भेदको समझ लेना ठीक होगा। आज तो जो लोग अीश्वर और धर्म पर (और शायद रूढ़ि पर) श्रद्धा रखते हैं अथवा श्रद्धा होनेकी बात कहते हैं, वे आस्तिक कहे जाते हैं। और जो लोग अीश्वर तथा धर्मके प्रति अविश्वास प्रकट करते हैं, वे नास्तिक कहे जाते हैं। लेकिन अिन शब्दोंका मूल अर्थ अैसा नहीं था। वेदों तथा वैदिक शास्त्रों पर विश्वास न होना ही नास्तिकताका लक्षण माना जाता था। जो मनुष्य अीश्वरमें तो विश्वास रखता था, परन्तु वेदोंमें विश्वास नहीं रखता था, अुसे भी नास्तिक ही कहा जाता था। अिसके विपरीत, जिस मनुष्यका वेदोंमें विश्वास होता वह यदि अीश्वरके अस्तित्वका अिनकार करता, तो भी अुसे शुद्ध आस्तिक माना जाता था। 'नास्तिको वेदनिन्दकः।' जो मनुष्य वेदोंकी समस्त आज्ञाओंके अुत्तम और ग्राह्य होनेकी बात स्वीकार करता, परन्तु वेदोंके अपौरुषेयत्वको स्वीकार नहीं करता था, अुसे भी नास्तिककी ही अुपाधि मिलती थी।

आस्तिक और नास्तिककी व्याख्यायें सदा अेकसी नहीं थीं, नहीं हो सकतीं। अेक अैसी व्याख्या भी प्राचीन कालसे चली आअी है कि परलोकमें जिस

मनुष्यका विश्वास हो वह आस्तिक है और परलोकमें जिसका विश्वास न हो वह नास्तिक है। मेरे विचारसे अिस व्याख्यामें बहुत तथ्य है। परलोककी रूढ़ कल्पनाका त्याग करके यदि हम अुसकी तर्कशुद्ध और युक्तिमान्य व्याख्या करें, तो जो मनुष्य आत्माके अमरत्वको स्वीकार करता है अुसे मरणोत्तर जीवन, साम्पराय अथवा परलोकको भी स्वीकार करना पड़ता है। परन्तु अिस संबंधमें हम आगे विचार करेंगे।

मेरी दृष्टिसे तो जिसका आत्मामें विश्वास है वह आस्तिक ही है और जो जड़वादी होनेके कारण आत्मामें विश्वास नहीं करता वही नास्तिक है।

पहले हम शास्त्र-प्रामाण्यसे संबंध रखनेवाली व्याख्याकी चर्चा करेंगे। मैं शास्त्र-प्रामाण्य और ग्रन्थ-प्रामाण्यमें भेद करता हूं। आज रूढ़ अर्थमें जिसे ग्रन्थ-प्रामाण्य कहा जाता है, अुसे तो सच्चे दार्शनिकोंमें से विरले ही स्वीकार करेंगे। जितने भी ग्रंथ हैं वे सब मनुष्यके बनाये हुअे हैं। जिस ग्रंथके कर्ताको हम नहीं जानते अुसे हम 'अेनॉनिमस' अथवा अपौरुषेय कह सकते हैं, परन्तु अिसमें कोअी शंका नहीं कि प्रत्येक ग्रंथ मनुष्य-कृत है। अैसे ग्रंथोंमें जो अुच्च कोटिके पुरुषों द्वारा रचे गये ग्रंथ हैं, अुनमें अीश्वर-प्रणीत तत्त्वज्ञान अवश्य भरा हो सकता है। परन्तु अीश्वरका दिया हुआ ज्ञान मनुष्यने ग्रहण किया तभीसे अुसमें दोष, अज्ञान और अपूर्णता मिल गये हैं। वर्षाके शुद्ध जलकणोंके हवामें आते ही अुनमें हवाके रजकण मिल जाते हैं और जब वे जलकण जमीन पर गिरते हैं तब तो जमीनके गुण-धर्म भी अुनमें प्रवेश करते हैं। फिर अुस पानीको हम पूर्णतया शुद्ध नहीं कह सकते। अिसी प्रकार अीश्वर-दत्त ज्ञान भी जब मनुष्यकी वाणीमें व्यक्त हुआ तब मनुष्यकी बुद्धि और श्रद्धाके साथ अुसका संबंध बंधा। तब अुसमें अपूर्णता आ ही गअी समझिये। अीश्वर-प्रणीत वेदोंको और शास्त्रोंको भी मनुष्य धीरे-धीरे विकसित होनेवाली अपनी श्रद्धा और बुद्धिके द्वारा ही तो ग्रहण कर सकता है न? अिसलिअे दर्शनशास्त्रके अध्ययनमें ग्रंथका प्रामाण्य हमारी कोअी सहायता नहीं कर सकता।

प्रस्थानत्रयीके आदर्शमें तो अुपनिषदों, ब्रह्मसूत्रों और गीताको ही वेदान्त-दर्शनके लिअे प्रमाण माना गया है। मैं अिसका यह अर्थ करता हूं कि अुपनिषदोंके ॠषियोंके धर्मानुभवको ही हम प्रमाण मानते हैं। वे सीधी-सादी आर्ष भाषामें अपना अनुभव कह देते हैं। और कभी-कभी तो वे यह भी कहते हैं कि हमने अनुभवसे जो कुछ कहा है वही अमुक वैदिक ॠचामें भी कहा गया है— 'तच्च अेतत् ॠचा अभ्युक्तम्।'

अुपनिषदोंमें जो कुछ कहा गया है वह अनुभव-सिद्ध है, और अिसीलिअे वह प्रमाण है। भगवान बादरायणने अुपनिषदोंके अर्थको अच्छी तरह समझ लिया था। अुपनिषदोंके तत्त्वज्ञानको अुन्होंने ब्रह्मसूत्रोंमें शास्त्रीय पद्धतिसे संकलित

किया है; अिसलिअे अुन्हें भी हम प्रमाण मानते हैं। और अिन्हीं अुपनिषदोंके दोहनके रूपमें तथा ब्रह्मसूत्रों द्वारा निश्चित किये हुअे निर्णयके आधार पर श्रीकृष्णके समान जगद्-गुरुने गीता द्वारा जिस जीवन-कला अथवा योगशास्त्रकी रचना की, अुसे भी प्रमाण माना जाता है। अिन तीनोंके अनुकूल जो ज्ञान दिया जायगा वह अनुभव-मूलक ज्ञान होगा; अिसलिअे यह मर्यादा बांध दी गअी कि जो पुरुष प्रस्थानत्रयीका समन्वय करेगा वही आचार्य हो सकेगा। आचार्यका केवल बुद्धिशाली होना ही पर्याप्त नहीं माना जाता था।

आचिनोति हि शास्त्रार्थं आचारे स्थापयत्युत।
स्वयमाचरते यस्तु स आचार्यः प्रचक्षते॥

अिसका अर्थ यह हुआ कि जो पुरुष धर्मानुभवी लोगोंके वचनोंको बादरायण तथा श्रीकृष्ण जैसे सर्वमान्य आचार्योंके कथनानुसार समझता है, अुन सिद्धान्तोंके अनुसार जन-समाजका जीवन-क्रम बना देता है और स्वयं भी अुसका अनुसरण करता है, वह तत्त्वज्ञ, धर्मकार, समाजशास्त्री लोकगुरु ही आचार्य-पद प्राप्त कर सकता है।

ग्रंथ कभी आगे नहीं बढ़ सकता। शास्त्र सदा ही प्रगतिशील होता है। मनुष्यकी बुद्धि, अनुभव, कल्पना, तुलना तथा श्रद्धाके विकासके साथ शास्त्रका भी दिन-प्रतिदिन विकास होता जाता है। मनुष्यकी ये सब शक्तियां अीश्वर-दत्त होती हैं। अिस कारण प्रत्येक शास्त्र मनुष्य-कृत होते हुअे भी अीश्वर-प्रणीत कहा जा सकता है। अिस सिद्धान्तके अनुसार यदि देखा जाय तो जो साहित्य अथवा धर्मग्रन्थ विभूतिमत्, श्रीमत् और भव्य दिखाअी दे, अुसे अीश्वर-संभूत ही समझना चाहिये। परन्तु कोअी ग्रन्थ-विशेष अीश्वरका निःश्वासरूप है अिसलिअे वह भ्रांतिरहित ही होना चाहिये, अिस भूमिकाको सनातनी होते हुअे भी मैं स्वीकार नहीं कर सकता। जितने भी धर्मग्रन्थ और शास्त्रग्रन्थ हैं, अुनके प्रति मेरे मनमें बड़ा सम्मान है। मैं शिष्यभावसे ही अुन्हें देखता हूं। अुनसे मैं जो कुछ ग्रहण कर सकता हूं, सीख सकता हूं, अुसे मैं कृतज्ञतापूर्वक ले लेता हूं। और जो कुछ मेरी समझमें नहीं आता अुसके बारेमें मैं अपना निर्णय स्थगित रखता हूं — अर्थात् न तो मैं अुसे स्वीकार करता हूं, न अुसका विरोध करता हूं। मैं तो यह मानता हूं कि प्रत्येक दार्शनिककी यही दृष्टि और यही भूमिका होनी चाहिये।

परमात्मा पर विश्वास रखना या न रखना यह प्रत्येक मनुष्यकी अपनी निष्ठा, वृत्ति और अभिरुचि पर आधार रखता है। परमात्माको केवल 'माननेसे' न तो विशेष सात्त्विकता प्रकट होती है और न अुसे न माननेसे कोअी खास बहादुरी प्रकट होती है। जो जिज्ञासु 'हृदि संस्फुरद् आत्मतत्त्व' को मानता है और पूर्ण प्रयत्न करने पर भी 'परमात्म-तत्त्व' पर विश्वास नहीं कर सकता, अुसे

मैं तो नास्तिक नहीं कहूंगा। जिस आत्मतत्त्वका कम या अधिक, स्पष्ट या अस्पष्ट अनुभव प्रत्येक मनुष्यको होता है, अुससे जो अिनकार करता है अुसे मैं अवश्य नास्तिक कहूंगा। अैसे मनुष्यकी प्रतिष्ठा, अुसकी श्रद्धा और जीवनके प्रति अुसकी दृष्टि ही अलग होती है। मेरी व्याख्याके अनुसार जैनोंको नास्तिक नहीं कहा जा सकता। स्वयंको अनात्मवादी कहनेवाले बौद्धोंको भी मैं नास्तिक नहीं मानता। मैं तो यह मानता हूं कि जब वे आत्मासे अिनकार करते हैं तब वे केवल अहं-प्रत्ययसे ही अिनकार करते हैं। अुनकी शून्यकी अुपासना वस्तुतः अचिन्त्य, अतर्क्य और अव्याख्येय आत्मतत्त्वकी ही अुपासना है। मेरी यह भूमिका भदन्त आनन्द कोशल्यायनको मान्य नहीं है, परन्तु मैं अभी तक अुसे छोड़ नहीं सका हूं।

आत्मा और परलोकका मैं जैसा संबंध मानता हूं अुसकी दृष्टिसे, जो मनुष्य परलोकमें विश्वास नहीं करता वह नास्तिक ही है। 'अयं लोकः नास्ति परः' अैसा जिसका विश्वास है और साम्परायके बारेमें, 'लाइफ आफ्टर डेथ' के बारेमें, मृत्युके बादके अस्तित्वमें जिसकी श्रद्धा नहीं है, वह मनुष्य नास्तिक है। जिस मनुष्यका अिस बातमें विश्वास नहीं कि मृत्युका अंतराय होते हुअे भी अेक प्रकारका अखण्ड, अनुस्यूत, धारावाहिक जीवन चलता है, वह धर्म और अधर्मका विवेक नहीं कर सकता। अुसके आचरणमें और जीवनमें दुराचार आसानीसे प्रवेश कर सकता है, क्योंकि अुसकी नास्तिकता अुसे हर प्रकारके मोहसे घेर लेती है, और अुसकी बुद्धि क्षीण हो सकती है।

प्रज्ञा और आस्तिकताका अविच्छिन्न संबंध है।

> प्रज्ञानाशात्मको मोहः तथा धर्मार्थनाशकः।
> तस्मान्नास्तिकता चैव दुराचारश्च जायते।।

हमारी सर्वमान्य और रूढ़ कल्पना यह है कि मनुष्यकी मृत्युके पश्चात् जो भी अवशेष रहता है — फिर वह जीव हो, संस्कार-पुंज हो, वासना-ग्रंथि हो या कर्म-समुच्चय हो — वह नया शरीर धारण करके अपना कर्तृत्व, ज्ञातृत्व तथा भोक्तृत्व बढ़ानेके लिअे अिस दुनियामें फिरसे आता है। अिसीको हम पुन-र्जन्म कहते हैं और हमारा यह विश्वास है कि पुनर्जन्मकी यह परंपरा अपवर्ग अथवा मोक्ष तक वैसी ही चला करती है। यह कल्पना अशास्त्रीय अथवा अवै-ज्ञानिक नहीं है। बुद्धिसे भी अिसे समझा जा सकता है। लेकिन कोअी मनुष्य अिसका अनुभव नहीं करा सकता। अतः अिसे अेक 'हाअिपोथेसिस' — वाद अथवा अभ्युपगम ही कहना चाहिये।

मनुष्य अपनी मृत्युके पश्चात् अपनी संततिमें जीता है और अपने कार्यका विस्तार करता है — अिसे भी अुसका अेक प्रकारका साम्पराय कहा जा सकता है। वृक्ष जिस प्रकार अपने बीज द्वारा अपनी संतति-परंपराको बनाये रखता

है और अपनी जातिको नित्यजीवी बनाता है, अुसी प्रकार मनुष्य भी अपनी संततिके द्वारा अजर-अमर होकर अपने साम्परायको सिद्ध करता है।

हमारी जिज्ञासाका विषय यह नहीं है कि शरीरके छूटनेके बाद अुसके श्वासोच्छ्वासका क्या होता है। "शरीरके निश्चेष्ट हो जानेके बाद अुसके भीतरकी प्राणशक्ति कहां जाती है?" यह विज्ञानका विषय माना जा सकता है। दर्शनको अिस विषयमें शोध नहीं करनी है। मृत्युके बाद मनुष्यके शरीरका क्या होता है अथवा हम अुसका क्या करते हैं, यह हम सब जानते हैं। "वायुः अनिलम्, भस्मान्तम् शरीरम्" — अितना तो स्पष्ट ही है। अिसके सिवा जो भी स्वभाव, अध्यात्म अथवा 'पर्सनेलिटी' बाकी रहती है अुसका क्या होता है, यही मुख्य प्रश्न है। मुख्य विषय यही है कि मनुष्यने अपने समस्त जीवनमें जो जो संस्कार प्राप्त किये हों, जिन जिन धर्मोंका अनुशीलन किया हो, अुन सबके समूह अथवा ग्रन्थिका क्या होता है। आत्मा विभु है। अुसके आने-जानेका, होने अथवा न होनेका प्रश्न ही नहीं अुठता। परमात्मा भी — यदि वह हो तो — विभु है। अुसके विषयमें प्रश्न ही क्या हो सकता है? परंतु मनुष्य-जातिके लिअे सबसे महत्त्व-पूर्ण प्रश्न यही है कि मृत्युके बाद जो व्यक्तित्व (पर्सनेलिटी) रहता है और जो सारे संस्कार-समूहका आधार है, अुसका मनुष्यके मरनेके बाद क्या होता है।

मनुष्य यदि यह समझ ले कि अुसके व्यक्तित्वका केन्द्र भले ही अुसका शरीर हो, परन्तु वह शरीरसे मर्यादित नहीं है, अुसके व्यक्तित्वका बड़ा भाग अुसके साथियोंमें, अुसके समाज और अुसकी परिस्थितियोंमें तथा जिन जिन तत्त्वोंके साथ अुसका संबंध रहता है अुन तत्त्वोंमें होता है, तो वह अिस बातको भी समझने लगेगा कि मृत्युसे अुसका बहुत ही थोड़ा अंश नष्ट होता है। शरीरके छूटने पर अुसका कर्म-स्वातंत्र्य शायद नष्ट होता होगा — कदाचित् अुसके सूक्ष्म बन जानेके कारण यह स्वातंत्र्य बढ़ भी जाता हो — परंतु मृत्युसे अुसके व्यक्तित्वका नाश तो नहीं ही होता।

राजाका राजत्व अुसके राज्य, अुसके प्रजाजनों और राज्यके कानून-कायदों तथा अुनके तंत्र तक विस्तृत होता है। अितना ही नहीं, संधि-विग्रहके द्वारा राजा जिन पड़ोसी राज्योंके संपर्कमें आता है अुनमें भी अुसका राजत्व अवश्य व्यक्त होता है। अिस राजत्वको अेक प्रकारका प्रवाह ही मानना चाहिये। अिसका अुद्गम अनादि अितिहाससे हुआ होगा और न जाने कौनसे शक्ति-सागरमें — पुरुषार्थ-सागरमें — वह विलीन होनेवाला है! राजाकी मृत्युसे राजत्वका नाश नहीं होता। अुसे केवल अपना केंद्र बदलना पड़ता है। अिसीलिअे अिंग्लैंडमें लोग राजाकी मृत्युके अवसर पर कहते हैं: "The king is dead, long live the king!"

प्रत्येक व्यक्तिके व्यक्तित्वकी सच्ची स्थिति अैसी ही है। हम जितने अपने शरीरमें रहते हैं अुससे कहीं अधिक अपनी परिस्थितियोंमें, समाजमें, कार्योंमें,

सहयोगोंमें, वासनाओंमें, साथियोंमें, विरोधियोंमें, अपनी संततिमें तथा धारावाही सनातन और अनंत कालमें रहते हैं। अंतमें जब हम कृतार्थ होकर अनन्तमें विलीन हो जाते हैं, स्मृतिशेष बन जाते हैं, तभी हम निर्वाण अथवा मोक्ष प्राप्त करते हैं। हरएक मनुष्यके जीवनकी समृद्धि या विस्तार अेकसा नहीं होता। कितने ही लोग अपने अदम्य संकल्पके कारण अपने जीवनका कल्पनातीत विस्तार कर लेते हैं। यदि अेक कल्पना अेक कल्प तक विकसित होती रहे, तो कोअी आश्चर्य नहीं। परन्तु अुसके कृतार्थ हो जाने पर, ज्ञानमें अुसकी परिसमाप्ति हो जाने पर, मनुष्यको मोक्ष मिलना ही चाहिये।

मेरी दृष्टिसे साम्परायका यही सच्चा अर्थ है। मनुष्यका शारीरिक, मानसिक तथा संकल्पात्मक कार्य ही अुसके व्यक्तित्वका सच्चा रहस्य है। 'यथाकर्म यथाश्रुतम्' अिस व्यक्तित्वका प्रवाह चलता रहता है। जरत्कारव आर्तभागने याज्ञवल्क्यसे पूछा कि शरीर, आत्मा आदि समस्त तत्त्व जब विलीन हो जाते हैं तब पुरुषका क्या होता है? तब याज्ञवल्क्यने अुसे अेक ओर ले जाकर जो गूढ़ रहस्य बताया अुसमें भी अिसी कर्मतत्त्वका अुल्लेख था, अैसा अुपनिषद्कालके अृषिने कहा है।

जिस मनुष्यका अिस साम्परायके बारेमें विश्वास है, वही मेरी रायमें ज्ञानपूर्वक त्रिकालाबाधित रह सकता है। अुसकी दृष्टि भी व्यापक और दीर्घ बनती है। अुसकी सत्ता सार्वभौम होती है। वही अजर-अमर होता है। अिस सृष्टिमें जो विराट् तत्त्व सर्वत्र व्याप्त (अनुस्यूत) है वही आत्मा है। अुससे भिन्न कोअी पदार्थ आत्मा नहीं है। जिस प्रकार अेकका गुणक सब संख्याओंमें सदैव रहता है, अुसी प्रकार आत्माका भी सर्वत्र और सबमें अस्तित्व है। अुसके अभावकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। अुसके आसपास ही हमारा व्यक्तित्व और हमारा जगत प्रकट होता है और हम अपने व्यक्तित्वका अनुभव कर सकते हैं।

जो लोग आत्मामें विश्वास नहीं करते, अुन्हें भी आत्मा छोड़ तो नहीं ही देती। अिसलिअे अुनका भी अश्रेय, अकल्याण नहीं होगा। जिनका आत्मामें विश्वास नहीं है, वे आत्माकी अेक विशिष्ट व्याख्या करके ही अुससे अिनकार करते हैं। अुन्हें शायद अिसकी कल्पना नहीं होगी कि अपने अिस अिनकारसे ही वे आत्माको स्वीकार करते हैं, भले ही वे अिसे समझ न पायें।

और, हम किसीसे आत्मामें विश्वास करवानेका प्रयत्न भी किसलिअे करें? अीश्वर और आत्माके 'चैम्पियन'—त्राता—बननेका व्यर्थ प्रयत्न हम क्यों करें? क्या यौवनका ज्ञान और भान समय आने पर भीतरसे ही मनुष्यमें अपने आप अुत्पन्न नहीं होता? यह आत्मा सब कुछ ग्रहण करती है, प्राप्त करती है, सबका अुपभोग करती है तथा अखंड और अनंत रूपमें निरंतर रहती है। अिसीलिअे वह आत्मा है। श्री शंकराचार्यने आत्माकी व्युत्पत्ति आप्, आ + दा,

आ + अद् और आ + अत् धातुओंसे की है। आप् का अर्थ है प्राप्त करना, आ + दा का अर्थ है ग्रहण करना, आ + अद् का अर्थ है अुपभोग करना और आ + अत् का अर्थ है निरन्तर चलते रहना।

यह कहना कठिन है कि आत्माके साक्षात्कारमें सुख है या नहीं। परन्तु आत्माकी प्राप्तिमें हमें अपना केन्द्र मिल जाता है। अुसके बाद ही सारा विश्व हमें यथास्थित प्रतीत होने लगता है। हमारे जीवनके समस्त मूल्य (Values) यथार्थ बन जाते हैं। अैसे मूल्य-परिवर्तनमें ही जीवनका परिवर्तन — जीवनकी सिद्धि निहित है। अिसके बाद कोअी ग्रन्थि नहीं रहती, किसी तरहकी शंका नहीं रह जाती। आत्म-साक्षात्कार ही अेक अद्भुत सामर्थ्य है, परम शांति है। अेक बार प्राप्त हो जाने पर अिसका कभी ह्रास नहीं होता। अिसीलिअे हमें अन्य सारी बातोंका त्याग करके आत्मप्राप्तिके लिअे अखंड और अथक प्रयत्न करना चाहिये। 'तमेवैकम् जानीथ आत्मानम् अन्या वाचो विमुञ्चथ; अमृतस्यैष सेतुः।'

अिस आत्माको ही अन्तरात्मा कहते हैं, परमात्मा कहते हैं, परब्रह्म कहते हैं, आत्माराम कहते हैं और पुरुषोत्तम भी कहते हैं; मनुष्य-मात्रके हृदयमें अुसका निवास होनेसे अुसे नारायण भी कहते हैं। वर्तमान, भूत और भविष्यके नर-नारी समूहको नार या 'Humanity' कहा जाता है। यह नार ही जिसका अयन है, प्रतिष्ठाका स्थान है, वही नारायण है — 'God of Humanity' है। मनुष्य-जीवनके सर्वोत्कृष्ट सामाजिक आदर्शके विचारसे अुसे पुरुषोत्तम कहा जाता है और अुसकी व्यापकताके कारण अुसे नारायण कहा जाता है। संपूर्ण समाजके साथ, समष्टिके साथ, अपने 'नार' के साथ अेकरूप हो जाने पर हमारा मर्यादित व्यक्तित्व नष्ट हो जाता है, हमारी 'पर्सनेलिटी' विलीन हो जाती है और नारायणके साथ हमारा सायुज्य — तादात्म्य — हो जाता है। यही सब व्यक्तियोंका चिर साम्पराय है। जो लोग अिसमें विश्वास नहीं करते, अुनके जीवनमें भव्यता, दृढ़ता और पूर्णता नहीं आ सकती। वे सर्वव्यापी वैष्णवी शक्तिसे वंचित रहते हैं। मेरे आगेके विवेचनकी दृष्टिसे आस्तिक-नास्तिकका यह भेद स्पष्ट करना आवश्यक था, क्योंकि आगे चलकर मुझे यह सिद्ध करना है कि 'जैसा हमारा दर्शन होगा वैसा ही हमारा धर्म होगा, और हमारा समाजशास्त्र भी अुसके अनुकूल ही रहेगा।'

मैं तो यह मानता हूं कि हमने अभी तक अपने दर्शनोंका पूरा लाभ नहीं अुठाया है। प्रत्येक दर्शन जीवनकी अेक पृथक् दृष्टि (View of life) है। और जैसी दृष्टि हो वैसा ही जीवन-क्रम (Scheme of life) भी होना चाहिये। अपनी सामाजिक रचना (Social structure) भी हमें अुसके अनुकूल ही खड़ी करनी होगी।

जैसा कि मैं अूपर कह चुका हूं, हमारे अुपनिषदोंमें आत्मवीर अृषियोंकी तात्त्विक शोधें और धर्मानुभव दिये गये हैं। मनुष्यने सोचा कि सारे अनुभव अेकरूप होने ही चाहिये — फिर वे चाहे जैसे शब्दोंमें व्यक्त किये गये हों, अुनकी अभिव्यक्ति चाहे जितनी भिन्न हो। अिस अेक ही विचारसे भगवान बादरायणने ब्रह्मसूत्रोंमें अुपनिषदोंके आधार पर अेक अखण्ड तत्त्वविद्याको ग्रथित किया है।

अब प्रत्येक अनुभवका विज्ञान अथवा शास्त्र — Science — बनना चाहिये और प्रत्येक विज्ञान या शास्त्रके साथ अुसकी जीवन-प्रेरक और जीवन-व्यापक कला, 'Art of life' भी होनी चाहिये। अुपनिषदोंमें जो अनुभव और विचार पाये जाते हैं, अुन्हींका ब्रह्मसूत्रोंने विज्ञान या शास्त्र बनाया और अिन दोनोंके आधार पर भगवान श्रीकृष्णने अेक सर्वांग-परिपूर्ण जीवन-कला अर्थात् योगशास्त्र अद्भुत रूपमें रचकर हमें दिया। अुसे हम भगवद्गीता कहते हैं।

परन्तु यदि हमारे समाज-व्यवस्थापकोंने अपने अपने दर्शनके साथ अुसके अनुकूल स्मृति भी दी होती, तो हमारा व्यक्तिगत जीवन तथा सामाजिक जीवन कृतार्थ हो जाता।

हमारे प्रत्येक दर्शनके साथ अुसकी अपनी कोअी न कोअी साधना भी होती ही है। परन्तु प्रत्येक दर्शनके साथ अुसके आधार पर विकसित तर्कशुद्ध तथा ध्येयसिद्धिके लिअे शक्तिशाली समाज-व्यवस्था अथवा स्मृति हमारे पास नहीं है।

जैनोंकी 'अर्हन्नीति' मैंने देखी है। अुसमें मुझे जैन-दर्शनका तर्कशुद्ध विनियोग कहीं भी दिखाअी नहीं दिया। द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि भिन्न भिन्न दृष्टिवाले वेदान्तियोंने अपनी अपनी स्वतंत्र स्मृतियां निर्माण करनेका कहीं भी प्रयत्न किया हो अैसा दिखाअी नहीं देता। जो अद्वैतवादी है वह समाजमें प्रचलित अूंच-नीच-भावको कैसे बरदाश्त कर सकता है? जो अद्वैतवादी है वह वर्ण-व्यवस्थाको स्वीकार कर सकता है या नहीं? अैसे प्रश्न न तो किसीने किये और न किसीने अिन प्रश्नोंके अुत्तर दिये। अद्वैतके साथ अधिकार-भेदके सिद्धान्तका मेल सधता है या नहीं, अिसका भी किसीने निर्णय नहीं किया। नतीजा यह हुआ कि हमारी दर्शन-चर्चा कभी भी जीवन-चर्चा नहीं बन सकी, और हमारी स्मृतियां भी दर्शन-शुद्ध नहीं बनीं।

प्राचीन कालमें अैसे ही पुरुषको दर्शनाचार्य माना जाता था, जो प्रस्थान-त्रयीकी अेकवाक्यता सिद्ध कर दिखाये। यह आदर्श अवश्य ही सच्चा था। परन्तु आज तो हम अुसीको आचार्य कहेंगे जो हमारे सभी दर्शनोंका महत् समन्वय करे, अुन समन्वित दर्शनोंका अनुसरण करके अेक श्रेणीबद्ध साधना-क्रम तैयार करे और अुसके साथ अेक सार्वभौम स्मृतिका भी सूचन करे। अैसे व्यक्तिको हम दर्शनाचार्य न कहकर जीवनाचार्य कहेंगे।

दूसरी दृष्टिसे सोचें तो जो पुरुष धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष अिन चारों पुरुषार्थोंकी व्यवस्था बताये, अिन चारोंका तारतम्य और अधिकार निश्चित करके जीवन-समन्वयका मार्ग दिखाये, वही जीवनाचार्य बन सकता है। हमारी दर्शन-विद्या और जीवन-कला अिसीमें सार्थक होगी। आत्मविद्याका, ब्रह्मविद्याका, अनुसरण करनेवाला योगशास्त्र, जीवन-साधना और सामाजिक स्मृति प्राप्त होनेसे व्यक्तिगत तथा सामाजिक मनुष्य-जीवन सुसंस्कारी और सशास्त्र बनेगा।

हमारे तत्त्वज्ञानने समाजको शायद मायारूप माना होगा। परन्तु समाज और जाति तत्त्वके रूपमें तो अेक ही हैं। यदि जाति नित्य है, तो व्यावहारिक दृष्टिसे समाज भी नित्य है। अुसे भी तत्त्वज्ञानका प्रमेय बनाना होगा। अुसकी अुपेक्षा करना सर्वथा आत्मघाती माना जाना चाहिये।

जब कार्ल मार्क्सने अपना साम्यवादी समाजशास्त्र दुनियाको दिया तब अुसे संपूर्ण बनानेके लिअे अुन्होंने यह भी बताया कि अुसकी नींव किस दर्शन पर आधार रखती है। यदि वे आत्माको स्वीकार कर सके होते, तो वर्ग-विग्रह पर वे अितना अधिक भार नहीं ही दे पाते। अुनका दर्शन सच्चा हो या झूठा, परन्तु अुन्होंने दर्शनशास्त्रको सैद्धान्तिक चर्चाकी मरुभूमिसे बाहर निकाल कर अुसे सामाजिक जीवनका आधार बनानेका जो मार्ग दिखाया, वह अुनकी बड़ीसे बड़ी सेवा है। गांधीजीने सत्य अथवा आत्माको अपनी जीवन-व्यवस्थाका केन्द्र मान लिया और अिस सिद्धान्तके फलस्वरूप अहिंसाको जीवन-साधनाके रूपमें स्वीकार किया, अिसलिअे अुनके जीवन-दर्शनमें सर्व-सद्भाव, सर्व-समन्वय और सर्वोदयकी ही बात आ सकती थी। अुन्होंने जगतको यह बताया कि सर्वत्र विविधता होते हुअे भी अुसमें अेकता कैसे स्थापित की जा सकती है।

अब हमें अपने दर्शनशास्त्रको भी सामाजिक रूप देना पड़ेगा। अैसी कोअी भी विचार-व्यवस्था और तत्त्वज्ञान सच्चा दर्शन है, जो सार्वभौम होनेके कारण व्यक्तिगत और सामाजिक जीवनके सब अंग-प्रत्यंगों पर और अुनके प्रत्येक पहलू पर प्रकाश डाल सकता है, जो सबकी सन्तोषजनक अुपपत्ति और समन्वय करता है तथा राजनीति, धर्मनीति और अर्थनीतिको शास्त्रशुद्ध बनाता है।

अिस दृष्टिसे सोचें तो व्यक्तिवाद भी अेक दर्शन ही है। अिससे अुलटा समाजवाद अेक दूसरा दर्शन है। साम्यवाद अथवा समष्टिवाद अुसीका अेक बदला हुआ रूप है।

गांधीजीने सत्य, अहिंसा, शरीर-श्रम और स्वदेशी आदिके आधार पर जो सत्याग्रही व्यवस्था दुनियाके सामने रखी है, वह भी अेक सार्वभौम दर्शन ही है। अुसे हम सत्याग्रह-दर्शन कह सकते हैं। सर्वोदय-दर्शन भी अुसे कहा जा सकता है। साम्यवादमें और अिस दर्शनमें जो भी साम्य अथवा भेद पाया जाता

है, अुसे स्पष्ट करनेके लिअे हम गांधीवादको गीताकी भाषामें साम्ययोगका नाम दे सकते हैं। अिस दर्शनमें व्यक्तिवाद तथा समाजवादका आन्तरिक विरोध नष्ट होकर दोनोंका सुन्दर समन्वय हो जाता है।

'जीवनके सब प्रश्न केवल बलसे ही हल हो सकते हैं; बल-प्रयोग और बल-संगठन ही जीवनकी कुंजी है' — अैसा माननेवाले लोग बल-दर्शनके अनुयायी हैं।

जीवनकी सारी प्रवृत्तियां धनसे ही चलती हैं, धन ही जीवन-क्रमका अंतिम निर्णायक तत्त्व है — अैसा माननेवाले धनंजय लोगोंका धन-दर्शन चार्वाक-दर्शनसे कुछ कम लोकप्रिय नहीं है।

आज तो कला भी अपनेको अेक स्वतंत्र जीवन-दर्शनके रूपमें प्रस्तुत करती है। परन्तु यहां हम अिसकी चर्चा नहीं करेंगे।

अब तो शिक्षाका दर्शन भी अेक सार्वभौम दर्शन होनेका अनुभव करने लगा है। शिक्षा अब सामाजिक तथा आध्यात्मिक जीवनकी सभी अुलझनें हल करनेका दावा करने लगी है। शिक्षाका शास्त्र कहता है कि बल द्वारा अथवा शासन-तंत्र द्वारा अथवा प्राचीन गूढ़ धर्मोंकी अुपासना द्वारा जो कार्य आज तक सिद्ध नहीं हो सके, वे शिक्षाके द्वारा संपूर्ण रूपमें सिद्ध होंगे। शिक्षामें निरीक्षण, परीक्षण, प्रयोग और साधना द्वारा ज्ञान, कौशल और बल प्राप्त होता है। शिक्षाशास्त्रका आधार अुसकी बोधशक्ति, धैर्य, सेवा, बलिदान और अीश्वर-प्रणिधान पर रहता है। शिक्षाका शास्त्र तात्त्विक दृष्टिसे राज्य-शासनका विरोधी है। शिक्षाके शासन द्वारा जिस आदर्श अराजक व्यवस्था (Ideal state of Anarchy) की स्थापना होगी, वही मानव-जीवनकी प्रतिष्ठाके अनुकूल और मनुष्यके योग्य समाज-व्यवस्थाके लिअे संपूर्ण होगी। जो कार्य कानून बनानेसे, धर्मशास्त्रोंकी आज्ञासे, कलाके अनुनयसे या बल-प्रयोगके भयसे नहीं होता, वह शिक्षाके द्वारा पूरी तरह सिद्ध होता है। दुनियामें अैसा अेक भी कार्य नहीं, जो शिक्षाके प्रयोगके लिअे दुःसाध्य हो। शिक्षाको हम सत्याग्रहका पूर्ण दर्शन कह सकते हैं, क्योंकि शिक्षाके द्वारा सारे समाजकी सेवा करनेवाला सेवक सत्य, अहिंसा और आत्म-बलिदानसे ही अपना कार्य सिद्ध करता है।

अपनी शक्तिका संपूर्ण भान होने पर शिक्षा (जिसे मैं विनया कहता हूं) कहेगी: 'मैं सत्ताकी दासी नहीं हूं, कानूनकी किंकरी नहीं हूं, विज्ञानकी सखी नहीं हूं, कलाकी प्रतिहारी नहीं हूं, अर्थशास्त्रकी गुलाम नहीं हूं। मैं तो धर्मका पुनरागमन हूं। मनुष्यके हृदय, बुद्धि तथा दूसरी सब अिन्द्रियोंकी स्वामिनी हूं। मानसशास्त्र और समाजशास्त्र मेरे दो पांव हैं, शिल्प और कला मेरे दो हाथ हैं, विज्ञान मेरा मस्तिष्क है, निरीक्षण और तर्क मेरी आंखें हैं, अितिहास और गाथायें मेरे कान हैं, स्वतंत्रता मेरा श्वास है, अुत्साह और अुद्योग मेरे

फेफड़े हैं, धीरज मेरा व्रत है, श्रद्धा मेरा चैतन्य है और सर्वोदय मेरा प्रसाद है। मैं अैसी जगदम्बा हूं — जगद्धात्री हूं। मेरी अुपासना करनेवालेको किसीका मुंह नहीं देखना पड़ता। अुसकी सारी अिच्छायें मेरे द्वारा ही तृप्त होंगी। मैं भविष्यकी सम्राज्ञी हूं। मेरे द्वारा ही मनुष्य परिपूर्ण और कृतार्थ बनेगा।'

दर्शनशास्त्र अेक सार्वभौम विद्या है। अुसे हम केवल तत्त्वचर्चा तक ही मर्यादित न बना दें। हमारे जीवन पर अुसका पूरा पूरा प्रभाव पड़ना चाहिये। और दर्शनकी अिस सिद्धिके लिअे हमें तत्त्वज्ञानार्थ-दर्शनका रूप ही बदल डालना चाहिये। अितना ही मुझे यहां कहना है।

मैं अपने विचारोंका जरा भी विस्तार नहीं कर सका हूं। अुनका समर्थन करनेका भी मुझे मौका नहीं मिला। अुस ओर केवल अिशारा करके ही मुझे संतोष मानना पड़ा है। मैं लाचार था। सेवाके आदेशको माथे पर चढ़ाकर मैं यहां आया हूं। जिन विचारोंसे प्रेरित होकर मैं तत्त्वज्ञानकी खोज करता हूं, अुन्हें आपके समक्ष रखकर ही मैंने संतोष कर लिया है।

'सत्यं परं धीमहि।'

५

धर्माचार्य अथवा साहित्याचार्य*

आजका अपना विषय पसंद करनेमें मुझे अपने मनके साथ थोड़ा संघर्ष करना पड़ा। पहले मेरा विचार था कि भारतकी अनेक भाषाओं, बोलियों और अुनके परस्पर सम्बन्धके विषयमें ही आज कुछ कहूं। राष्ट्रभाषा हिन्दीके प्रचारार्थ भारतके विभिन्न प्रान्तोंमें घूमते घूमते भाषाके प्रश्नका मुझे जो दर्शन हुआ और अुसके पीछे रहे प्रांताभिमान, भाषाभिमान, लोक-शिक्षण तथा राज्य-प्रबंधके संबंधमें अुत्पन्न होनेवाले प्रश्नोंके जो हल मुझे सूझे, अुन्हींका संक्षिप्त विवेचन करनेका मेरा विचार था। हमारे साहित्यकारों, प्रचारकों और लोकसेवकोंको अिस प्रश्नका गहरा अध्ययन करके शासकोंको अुचित दिशा सुझानी चाहिये, क्योंकि निकट भविष्यमें यह विषय सबसे अधिक महत्त्व ग्रहण करनेवाला है।

परन्तु मुझे लगा कि यह विषय जितना साहित्यका है अुससे अधिक राष्ट्र-नीतिका और राष्ट्र-संगठनका है, अिसलिअे साहित्यके साथ सीधा संबंध रखनेवाला कोअी दूसरा विषय मुझे लेना चाहिये। अुसमें भी कुछ समयसे मेरे दिमागमें जो विचार अिकट्ठे हो रहे थे अुन्हें अेक बार सद्गति अवश्य देनी चाहिये, अिस भावनासे मैंने आजका यह विषय चुना है।

* ता० १७–३–'३८ को बड़ोदामें दिया गया भाषण।

कैसे-कैसे वर्ग या लोग जन-समुदाय पर असर डालते हैं, प्रभुत्व भोगते हैं, अिसका विचार करने पर सर्व-प्रथम मेरे ध्यानमें आये धर्माचार्य; और अुनके पीछे पीछे पहले कुछ संकोचसे, अुसके बाद थोड़े आत्म-विश्वाससे और फिर धृष्टतासे आते दिखाअी पड़े साहित्याचार्य। अिसलिअे सामाजिक जीवन तथा राष्ट्र-जीवनमें अिन दोनों कोटिके लोगोंका क्या स्थान है, अिसकी जांच करनेकी अिच्छा हुअी। धर्म-धुरन्धर और साहित्य-धुरन्धर अिन दोनोंको हम आजकल आचार्य कहते हैं, परन्तु दोनोंके साथ आचार्य शब्दका प्रयोग अेक ही अर्थमें नहीं होता। धर्माचार्य अपने ज्ञान और प्रतिष्ठा द्वारा तथा अपने विशिष्ट जीवन द्वारा समाज पर अधिकार भोगते हैं; जब कि साहित्याचार्य अपनी विद्वत्ता और प्रतिभासे मुख्यतः शब्दसृष्टि पर अधिकार भोगते हैं। अधिकारी तो दोनों ही हैं, परन्तु प्रत्येकका क्षेत्र अलग है। प्रत्येक धर्माचार्य यथासंभव शास्त्रकी मर्यादाकी तथा प्राचीन परंपराकी रक्षा करनेका आग्रही होता है, जब कि प्रत्येक साहित्याचार्य शब्दतत्त्वसे परिचित होनेके कारण अभिरुचि और औचित्यकी सूक्ष्मताकी रक्षा करनेका आग्रही मालूम होता है। रससृष्टिका यह ब्रह्मा पूर्व-परम्पराको जानते हुअे भी स्वातंत्र्यका ही अुपासक होता है।

आचार्य शब्दकी प्राचीन व्याख्याको देखनेसे पता चलता है कि अेक समय अिस शब्दका सुन्दर और व्यापक अर्थमें प्रयोग होता था।

आचिनोति हि शास्त्रार्थं आचारे स्थापयत्युत।
स्वयमाचरते यस्तु तमाचार्यं प्रचक्षते॥

समस्त शास्त्रोंका अध्ययन करके, अुनमें से शास्त्रकारोंका हेतु समझकर, अिन शास्त्रोंकी दृष्टिको जो लोकाचारमें स्थापित कर देता है और शास्त्रदृष्टिके अनुसार चलनेसे शास्त्रशुद्ध जीवन कृतार्थ कैसे होता है यह दिखानेके लिअे अुसके अनुसार जीवन जीकर लोगोंके सामने अुदाहरण प्रस्तुत करता है, वह आचार्य है। कितना भव्य है यह आदर्श! अितिहासके द्वारा देश-परदेशके भूतकालकी परम्पराओंका क्रम जो जानता है, वर्तमान कालकी लोकस्थितिकी विविधतासे जो परिचित होता है और भविष्य कालमें समाज कैसा रुख अख्तियार करेगा अिसकी भी जिसे निश्चित झांकी होती है, वह त्रिकाल-दर्शी पुरुष अवश्य ही मानव-जीवन पर अपना प्रभाव डालता है। अिस प्रकार जो पुरुष राष्ट्र-जीवन पर प्रभाव डालता है, वह आचार्य कहा जाता है; अपने जीवन-चिन्तन द्वारा तथा अपने अध्ययन-विवेचन द्वारा लोक-जीवन पर जो दुगना प्रभाव डालता है, वह आचार्य कहा जाता है।

समस्त जन-समुदायके धारण, भरण, पोषण, रक्षण और विकासके लिअे जो जिम्मेदार है अुस धर्मतत्त्वकी सत्ताका प्रयोग करके जो पुरुष लोक-जीवनका नियंत्रण करता है, वह धर्माचार्य है। अैसे धर्माचार्योंने बड़े बड़े सम्राटोंसे भी अधिक

सत्ता भोगी है। असका कारण यह है कि वे गहरे समाजशास्त्रज्ञ थे। वे लोक-मानसको जानते थे और लोकहित किस बातमें है यह भी जानते थे। इसके फलस्वरूप वे लोक-हृदयके स्वयं-सम्राट् बन गये थे।

प्राचीन कालमें अैसे लोगोंने मनुष्य-जातिके निर्माणमें बड़ेसे बड़ा हाथ बंटाया था। परन्तु अैसे स्वयंभू धर्म-पुरुषोंकी परम्परा और गद्दी स्थापित करनेका प्रयत्न मिथ्या होता है। जैसे प्रत्येक अच्छी बातका असफल अनुकरण होता है वैसे धर्माचार्योंका भी असफल अनुकरण होने लगा। अमुक पुरुष मूल धर्माचार्यका पुत्र है, कुटुम्बी है या शिष्य है अिसीलिअे यदि वह अुनकी गद्दी पर बैठे, तो वह बाह्य आचारका अनुकरण कर सकता है और समाजका बाह्य नियंत्रण भी कर सकता है; परन्तु अिससे जीवनका अथवा चैतन्यका विकास तो हो ही नहीं सकता। यदि बाह्य नियंत्रणसे समाजका अुद्धार संभव होता, तो राज्यसत्ताने कभीका अुसका अुद्धार कर दिया होता। राज्यसत्ता अपनी मर्यादाको जानती है और अेक विशेष मर्यादा तक लोकसेवा करके रुक जाती है। परम्पराके आधार पर बने हुअे धर्माचार्य अिससे अधिककी आशा रखकर दंभका पोषण करते हैं और निष्फलताको निमंत्रण देते हैं।

अिन धर्माचार्योंके समान ही समर्थ किन्तु अुनसे अधिक दीर्घदर्शी और नम्र होते हैं संत। संतोंने समाजके नियंत्रणका आग्रह छोड़ दिया। अुन्होंने स्वयंको ही नियंत्रित करनेमें अपनी सारी शक्तिका अुपयोग किया और अपनी वाणी तथा आचरण द्वारा जितना विचार-प्रचार और धर्म-प्रचार संभव था अुतना करके संतोष माना। धर्माचार्य स्वाभाविक रूपमें कर्मकांडी होते हैं, क्योंकि अुनका संबंध बाह्य नियंत्रणके साथ अधिक होता है। संत कर्मकांडको गौण स्थान देकर कर्मयोग, सदाचार और भक्तिमार्गको ही प्रधानता देते हैं। अिससे अुन्हें अपने कार्यमें अधिक सफलता मिलती है।

धर्माचार्यों और संतोंने लोगों पर असर डालनेके लिअे अपने जीवनकी सहायतामें साहित्यकी सेवाका अुपयोग किया। धर्माचार्योंने शास्त्र, भाष्य और टीकायें लिखीं और संतोंने स्तोत्र तथा कविताओंकी रचना की। साहित्यके जीवन पर होनेवाले अिस प्रभावको देखकर कुछ साहित्य-कुशल लोग संतोंका अनुकरण करने लगे। अपनी भाषाशक्तिका अुपयोग करके अुन्होंने संतवाणीका सुन्दर अनुकरण किया। अिसलिअे भोलेभाले समाजने माना कि वे लोग भी संत ही हैं। वाणीका अनुकरण तो हो सकता है, परन्तु रहन-सहनका, अुदात्त जीवनका अनुकरण कैसे हो सकता है? अतः अैसे साहित्याचार्योंने अपने संतपदको बनाये रखनेके लिअे दंभ शुरू किया। वे कहने लगे: "हम तो साक्षात्कारी पुरुष हैं; हम बंधनोंसे परे हैं। तुम हमारे अुपदेशके अनुसार चलो। हमारा आचरण तुम्हारे अनुकरणके लिअे नहीं है। 'न देवचरितं चरेत्।' हम चाहे जैसा

आचरण करें, फिर भी हम शुद्ध हैं। हम कहें वैसे तुम चलो। हम करें वैसा तुम मत करो।" लोग भी मानने लगे कि 'मुक्तास्ते न विचारणीयचरिताः।' किन्तु अैसा दंभ कहां तक चल सकता था?

प्रचारके दो साधन हैं: जीवन और कविता; आचार और विचार; चरित्र और साहित्य। अिनमें से दूसरा साधन कम प्रभावकारी नहीं था। कविता, विचार और साहित्यकी मददसे ही धर्मका व्यापक प्रचार हुआ है। प्रसिद्ध धर्माचार्यों और संतोंमें साहित्य-सर्जनकी शक्ति थी। अुन्होंने नहीं तो अुनके शिष्योंने तेजस्वी साहित्यका सर्जन अवश्य किया है। अपौरुषेय माने जानेवाले कुरान शरीफकी लोकोत्तरता सिद्ध करनेके लिअे अेक दलील यह भी दी गअी है कि अुसकी किसी भी आयतकी बराबरी कर सके अैसी अेक काव्यकृति रच कर तो बताओ! अुपनिषद्, बाअिबल, बुद्धके धर्म-संवाद, जैन धार्मिक साहित्यके अंग, संतवाणी — यह सब अुत्तम साहित्य ही है।

जब साहित्यकी शक्तिके जोर पर किया जानेवाला संतोंका छिछला अनुकरण बहुत बढ़ गया तब लोग अुससे घबरा गये। लोग समझने लगे कि साहित्य-शक्ति और संतपन दो अलग चीजें हैं। फिर भी साहित्यका आकर्षण बढ़नेसे सामान्य लोग भाषाके सामने जीवनको गौण मानने लगे। अिसलिअे कुछ साहित्याचार्य साहसपूर्वक आगे आकर कहने लगे: 'हम तो केवल साहित्यके अुपासक हैं। अुच्च जीवनका दावा हम करते ही नहीं। हम तो केवल विचारों और कल्पनाओंके प्रचारक हैं। अिससे अधिक कुछ करनेकी जिम्मेदारी हमने अपने सिर पर ली ही नहीं है। हम बिलकुल सामान्य कोटिके मनुष्य हैं। हम केवल स्वान्तःसुखाय लिखते हैं। तुम्हें अिसमें आनंद आये तो जरूर हमारे साहित्यका आनंद लो।'

अैसे साहित्यकारोंने जिस हद तक अिस तरहका रुख अपना कर दंभको दूर किया और जीवनको स्वच्छ बनाया, अुस हद तक अुन्होंने समाजकी सेवा ही की है।

परन्तु कोअी निर्लज्ज और बेहया मनुष्य भी दंभको दूर करनेका दावा कर सकता है। यथार्थवादके नाम पर छिछले जीवनका प्रचारक बनना आसान है। अिसके लिअे बहुत बड़ा प्रयत्न करनेकी जरूरत नहीं होती। साहित्यकी सजावटसे भोग-प्रधान जीवनको आसानीसे सुन्दर बनाया जा सकता है। अिसलिअे अैसे साहित्यके लोकप्रिय होनेमें देर नहीं लगती।

धर्माचार्योंकी संस्था धीरे धीरे अप्रतिष्ठित हो गअी। संतोंका जीवन अेकांतिक, अभावात्मक और अेकलक्षी मालूम होने लगा। अिसलिअे साहित्याचार्य अधिक आगे आये। साहित्यके आधार पर साहित्य-सर्जककी योग्यता मापनेकी वृत्ति लोगोंमें होती ही है, अिसलिअे साहित्याचार्योंकी खूब बन आअी।

साहित्यका प्रभाव जैसे जैसे बढ़ता गया वैसे वैसे कलाका तत्त्व खिलता गया। और साहित्य द्वारा कैसा पौष्टिक, हितकर और रुचिकर भोजन परोसा जाता है, अिसका विचार करनेके बजाय अिस बात पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा कि वह भोजन कितने सुन्दर बरतनमें परोसा जाता है। कलाकार कहने लगे कि कला अुसके 'significant form' में है, चमत्कृति-जनक शब्द-रचना या आकारमें कला है, अिसीमें अुसकी प्रधानता है। अिसके फलस्वरूप साहित्याचार्य समाजको कैसी प्रेरणा देते हैं, यह बात मानो गौण बन गअी। सच पूछा जाय तो कलाका मर्म अुसके चुनावमें, 'selection' में है; सच्ची कला चमत्कारी निरीक्षण और चमत्कारी विवरणमें निहित होती है। 'Power of perception' और 'power of expression' में ही कलातत्त्व निहित है। दोनोंमें हंसके जैसी वैदग्ध्य-शक्ति ही मुख्य है।

अब यह वैदग्ध्य-शक्ति, 'selection' की दृष्टि अथवा हंसवृत्ति केवल सुख-परायण भी हो सकती है और हित-परायण भी हो सकती है। साहित्याचार्योंको अपनी अिस शक्तिका अुपयोग अपने हित तथा जगतके हितके लिअे करना चाहिये। परन्तु सभी साहित्याचार्य अैसा नहीं करते। जिस प्रकार धर्माचार्योंका जीवन दुर्बल बन गया अुसी प्रकार साहित्याचार्योंका जीवन भी शिथिल होने लगा। अिसलिअे लोकगुरु बननेकी अपनी योग्यताको खोकर वे नटों, विटों और गायकों जैसे केवल लोक-रंजक बन गये।

अिस प्रकार जब धर्माचार्यों और साहित्याचार्योंने बड़ी बड़ी आशायें दिखाकर और असाधारण अधिकार भोगकर अंतमें निराशाको जन्म दिया, तब लोग फिरसे अिस बातकी जांच करने लगे कि धर्म क्या है और साहित्य क्या है?

संपूर्ण जीवसृष्टिका — मनुष्य-जातिका तथा मनुष्येतर जगतका कल्याण कैसे हो, सबका विकास कैसे हो, अिस बातका विचार करनेवाला तथा अिसके अनुसार जीवनका मार्गदर्शन करनेवाला तत्त्व ही धर्म है। महाभारतकारने कहा है: 'यत् स्यात् धारणसंयुक्तं स धर्म अिति निश्चयः।' अिसी विचारको संक्षिप्त करके अुन्होंने दुबारा कहा: 'यत् स्यात् अहिंसासंयुक्तं स धर्म अिति निश्चयः।' यदि हम अेक-दूसरेका नाश करने लगें, तो दुनियामें कुछ रहेगा ही नहीं। अिससे बाह्य जगतका तो नाश होगा ही, परन्तु अुसके साथ हमारे हृदयका भी नाश हो जायेगा। अिसीलिअे अहिंसाको धर्मका आधार माना गया है। धर्मका यह विधान जीवनके लिअे है, जीवनके विकासके लिअे है।

धर्ममें अनेक बातें अतीन्द्रिय, अलौकिक होती हैं। अिसलिअे अैसा माना जाता था कि धर्मकी प्रेरणा तथागतों (ज्ञानियों) से ही, अवतारी पुरुषोंसे ही मिल सकती है। धर्ममें कुछ न कुछ तो अतीन्द्रिय, अलौकिक और गूढ़ रहने ही

वाला है। फिर भी जैसे जैसे जीवनका अध्ययन और प्रत्यक्ष दर्शन होता जाता है, वैसे वैसे धर्मका स्वरूप भी बुद्धिग्राह्य और निश्चित होता जाता है।

आहारशास्त्र और विहारशास्त्र, शौचाचारका शास्त्र और लोकाचारका शास्त्र, अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र, मानसशास्त्र और व्यवहारशास्त्र, राजशास्त्र और विनयशासन (शिक्षा), जीवन-साधना और कलोपासना, विज्ञान और अध्यात्म — अिन सबको मिलाकर धर्मका कलेवर बनता है। यही जीवनशास्त्र है। आज हमें अैसे जीवनशास्त्रमें पारंगत जीवनाचार्योंकी आवश्यकता है।

कुछ साहित्याचार्य कहते हैं: 'राजनीतिसे हमारा कोअी संबंध नहीं, हम तो साहित्यके विरल वातावरणमें विचरण करते हैं।' कुछ पामर धर्माचार्य भी अितनी ही कायर वृत्तिसे कहते हैं: 'राजनीतिसे हमारा क्या वास्ता? हम तो पारलौकिक कल्याणका विचार करनेवाले हैं। अिस नश्वर और मायारूप जीवनसे मुक्त होनेका मार्ग बताना ही हमारा अेकमात्र कार्य है।' ये दोनों ही खतरोंसे भागनेवाले ह। जो लोग खतरोंसे भागते हैं, अुनमें कितना तेज हो सकता है? अुनकी प्रवृत्तिमें कितना जीवन प्रकट हो सकता है?

जीवनाचार्य समस्त जीवनका विचार करता है। वह जीवन-वीर होता है; और यदि अुसे सच्चे धर्मकी प्राप्ति हो जाय और अुसमें सच्ची साहित्य-शक्ति प्रकट हो, तो वह जीवन-वीर जीवन-सम्राट् बन सकता है। जीवनाचार्य होनेके कारण जो साहित्याचार्य बने, अैसे अेक लोकोत्तर पुरुष हमारे बीच विद्यमान हैं। वे हैं रवीन्द्रनाथ ठाकुर। जीवनाचार्य होनेसे जो धर्माचार्य बन गये हैं, अैसे भी अेक अलौकिक पुरुष हमारे बीच हैं। और वे हैं महात्मा गांधी। अिन दोनोंकी विभूतियां भिन्न हैं, फिर भी लोकोत्तर हैं।

जीवनशास्त्रकी अभी संपूर्ण रूपमें रचना नहीं हुअी है, अिस कारण आज भी नये नये प्रयोगोंके लिअे अवकाश है। जीवनशास्त्र कभी भी संपूर्ण नहीं होगा, अिसलिअे अुसमें प्रयोगोंकी वीरताके लिअे अनंत काल तक अवकाश बना रहेगा। साहित्य-परिषदों द्वारा भाषाका विकास हो सकता है, साहित्यका तंत्र विशुद्ध किया जा सकता है, परन्तु जीवनशास्त्री कभी निर्माण नहीं किये जा सकते। धर्म-परिषदों द्वारा धर्मका संस्करण और परिष्करण हो सकता है, परन्तु जीवनाचार्य कभी अुत्पन्न नहीं हो सकते। अशोकने धर्म-परिषदोंका आयोजन किया था। अकबरने भी अिस तरहका प्रयत्न किया था। आज देश-विदेशकी जनता भी सर्व-धर्म-परिषदोंका आयोजन करती है। किन्तु जब जीवनाचार्य यह कार्य अपने हाथमें लेंगे अुस समय अैसी परिषदोंकी प्रवृत्तियोंके बिना ही सर्व-धर्म-समन्वय सिद्ध होगा और लोगोंमें सर्व-धर्म-समभावका विकास होगा। और अुसके बाद साहित्य भी स्वयं शुद्ध होकर मनुष्य-हृदयको समृद्ध बनायेगा।

६

समीक्षा

१

जिन भौतिक पदार्थोंको हम अचेतन कहते हैं अुनका आंतरिक जीवन कैसा होता है, यह हम नहीं जानते। सुख या दु:खमें सचेतन प्राणियोंके शरीरमें जो परिवर्तन अथवा विकृति होती है वैसा ही परिवर्तन अथवा विकृति जड़ माने जानेवाले पदार्थोंमें भी कुछ अंश तक देखी जाती है। अब यह तो निश्चयके साथ कौन कह सकता है कि वह केवल बाहरी विकृति है या भीतरसे अिन पदार्थोंको सुख-दु:खका और भावनाओंका अनुभव होता है? मनुष्यों और पशु-पक्षियोंमें, मछलियों, जीव-जन्तुओं और कीड़े-मकोड़ोंमें सुख-दु:ख जैसे दिखाअी देते हैं वैसे वनस्पतियोंमें नहीं दिखाअी देते। किन्तु मनु भगवान जैसे आद्य अृषियोंने कल्पना की थी कि वृक्ष, वनस्पति आदिके भीतर अैसी संज्ञा — चेतना होती है, जो बाहर व्यक्त नहीं होती। 'अन्त:संज्ञा भवन्त्येते।' जगदीशचन्द्र बसुके प्रयोगोंके बारेमें जाननेके बाद हमें यह लगे बिना नहीं रहता कि मनु भगवानकी कल्पना बिलकुल सच्ची है। मनुष्यमें तो सुख-दु:खकी भावना और अिष्ट-अनिष्टकी भावना होती ही है। पशु-पक्षियोंमें और कीड़े-मकोड़ोंमें भी वह दिखाअी पड़ती है। वृक्षों, वनस्पतियों तथा औषधियोंमें अुसके अस्तित्वका अनुमान होता है। अिसलिअे हमारी कल्पना दौड़ती है कि जड़ माने जानेवाले पदार्थोंमें भी यह भावना होनी चाहिये। और अिस कारणसे 'अचैतन्यं न विद्यते' अिस वचनके अक्षरश: सत्य होनेका विश्वास बैठता है।

२

विश्वके अुत्पन्न किये गये पदार्थोंमें जितने अंश तक जड़ता है अुतने अंश तक अुसका स्थूल या सूक्ष्म शास्त्र बनाना संभव मालूम होता है। जो अंश चैतन्य-रूप माना जाता है, अुसका शास्त्र बनानेमें अनेक कठिनाअियोंका अनुभव होता है। फिर भी चैतन्यका शास्त्र बनानेके प्रयत्नसे ज्ञानकी सीमा जितनी व्यापक बनी है अुतनी भौतिक पक्षके अध्ययनसे नहीं बनी है। आज तक भौतिक प्रयोग निश्चयात्मक — शंकातीत — पाये गये, अिससे यह माना गया कि भौतिक सत्यता ही निराबाध सत्य है, भौतिक प्रमाण ही अेकमात्र तृप्तिकर प्रमाण है। और अिस कारणसे भौतिक जगतके सिद्धान्तोंको चेतन जगतमें लागू करके गणित अथवा गणितशास्त्रसे यदि भौतिक घटनायें सिद्ध हों, पदार्थशास्त्रके सिद्धान्तोंसे

यदि रसायनशास्त्र सिद्ध हो, रसायनशास्त्रके द्वारा यदि वनस्पतिशास्त्रका सुमेल साधा जा सके, वनस्पतिशास्त्र यदि प्राणीशास्त्रका हल खोजे और प्राणीशास्त्रसे यदि मानसशास्त्र और समाजशास्त्रका निर्माण किया जा सके, तो मनुष्यको लगता है कि हमने ज्ञानको सरल बनाया है, ज्ञानके आधारको सुदृढ़ बनाया है। अुसके बाद तो अध्यात्मशास्त्रको अलग और स्वतंत्र स्थान देनेकी भी आवश्यकता नहीं रह जायगी। स्थूलसे यदि सूक्ष्म फलित हो जाय तो कोअी परेशानी नहीं रहेगी, अैसी मान्यता सर्वत्र दिखाअी देती है।

वास्तवमें, अिससे विरुद्ध दिशामें और अिसीलिअे विशुद्ध दिशामें प्रयत्न होना चाहिये। चैतन्य-तत्त्वका हमें भीतरसे अनुभव है, अुसका व्यापार हमारे जीवनमें प्रत्यक्ष होता है; अिस चैतन्य-तत्त्वका अधिक अध्ययन, अिसका निरीक्षण और परीक्षण यदि अुत्कटतासे किया जाय, तो अिसके बारेमें हमें अद्‌भुत ज्ञानकी प्राप्ति होनी चाहिये।

संभव है कि यह ज्ञान हमें प्रयोग-पद्धतिसे नहीं किन्तु योग-पद्धतिसे प्राप्त हो। विज्ञानके मार्गकी अपेक्षा ध्यानमार्ग संभवतः अिसमें अधिक अुपयोगी सिद्ध होता होगा। अुसके बाद अिस बातकी जांच करनी चाहिये कि मनुष्यमें जो चैतन्य प्रकट रूपमें है वही निचली कोटियोंमें भी सूक्ष्म रूपमें है या नहीं। अिस प्रकार निकटके स्पष्ट और अनुभूत चैतन्यके रूप, लक्षण तथा स्वभावके सिद्धान्तोंकी रचना करके बादमें अुन्हें यदि हम प्राणीशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, रसायन-शास्त्र, पदार्थ-विज्ञान और ज्योतिष तक ले जायं, तो हमारे ज्ञानका विस्तार सर्वथा भिन्न पद्धतिसे होगा और वह अकल्पित सीमा तक पहुंचेगा। अिससे ज्ञान-साधनाकी सारी बुनियाद ही बदल जायगी। निरीक्षण, परीक्षण और प्रयोगके साधनोंको जिस प्रकार हम सूक्ष्मातिसूक्ष्म बनाते हैं और भौतिक घटनाओंके ज्ञानक्षेत्रमें नित-नअी विजय और सफलता प्राप्त करते हैं, अुसी प्रकार मनुष्यके भीतरके साधनोंको — मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त आदि अंतःकरण-रूप साधनोंको — यदि हम शुद्धसे शुद्ध बनायें, तो ज्ञानका अेक दूसरा और समर्थ पहलू खुलेगा और विकसित होगा। प्राचीन कालमें अिस दिशामें कुछ निश्चित प्रयत्न हुअे थे, परन्तु आज अुन्हें हम भूल गये हैं। अुनके विषयमें आज जो बातें लिखित रूपमें मिलती हैं, अुनमें से कअी बातें तो संभवतः अुस तंत्रके विस्मृत हो जानेके पश्चात् बादके लोगोंने अनुमान और कल्पनासे लिख डाली होंगी। अिसलिअे अिन बातों पर आधार न रखकर अिस क्षेत्रमें हमें मूलसे ही नये प्रयत्न करने होंगे।

अंतःसाधनोंकी यह शुद्धि ही तप है। यह तप ज्ञानयुक्त होना चाहिये, अिसे आज भुला दिया गया मालूम होता है।

३

प्राचीन कालमें कवि शब्दका अर्थ अलग था, आज अुसका अर्थ अलग है। आज कविका कार्य कल्पनायें दौड़ाना और सूक्ष्म जटिल भावोंका सच्चा-झूठा विश्लेषण करके अुसे रोचक रूपमें व्यक्त करना है। कविका आजका क्षेत्र है मनुष्यके अनुभवों, अुसकी शंकाओं और भयों, अुसकी आशाओं और आकांक्षाओं तथा अुसकी वासनाओं और अिच्छाओंको शब्दबद्ध करके या अन्य प्रकारसे व्यक्त करके सर्वग्राह्य बनाना। जीवनके अिन सब विभागोंमें जितनी अव्यवस्था, अनवस्था और गैर-जिम्मेदारी होती है अुतनी सब कविके काव्योंमें दिखाअी पड़ती है। कवि शास्त्रशुद्ध विचार करनेके लिअे वचन-बद्ध नहीं है; कविको जिस समय जो कुछ सत्य अथवा सत्यकल्प दिखाअी देता है, अुसे वह अुसी रूपमें व्यक्त करता है। अिस दृष्टिसे कविके अुद्गार तत्त्वज्ञानका कच्चा माल हैं। अज्ञात प्रदेशमें खोज करनेके लिअे निकले हुअे कोलंबसोंको अिस बातका विश्वास नहीं होता कि कैसे खंडोंसे अुनका मिलाप होगा। भारतकी खोजके प्रयासोंमें अमेरिका अुनके हाथ आयेगा और अुसीको भारत-भूमि मान लेनेका भ्रम खड़ा होगा। कवियोंने यह स्वीकार नहीं किया है कि दुनियाके ज्ञान, अनुभव या श्रद्धाके साथ अुनके अुद्गारोंका मेल बैठना चाहिये। वे यह भी नहीं मानते कि अुनके भिन्न भिन्न समयके अुद्गारोंमें और भिन्न भिन्न वृत्तिके अुद्गारोंमें कोअी मेल होना चाहिये। कविके कल्पना-विहारमें यदि आकस्मिक संयोगसे जीवन-अुपासना आ जाय और अुसके फलस्वरूप यदि अुसके अुद्गारोंमें अेकसूत्रताका हमें दर्शन हो, तो कवि अुसे अवांछनीय नहीं मानता। वह आनन्द और आश्चर्यसे अुसका स्वागत करता है। परन्तु यदि अुसके अुद्गारोंमें कोअी मेल न हो, तो भी कवि अुसे अपना दोष नहीं मानता। "Do I contradict myself? Well, then I contradict myself. I contain multitudes."*–अिस प्रकार कहकर कवि बच निकलेगा। यदि सारे समाजमें विचारों और सिद्धान्तोंकी अराजकता चलती है, तो अेक कविके मस्तिष्कमें अुसके चलनेसे आसमान नहीं टूट पड़ेगा। जिस प्रकार राजाके अनेक सलाहकार होते हैं, राज्यतंत्रमें जिस प्रकार अनेक पार्टियां होती हैं, वर्षमें जिस प्रकार अनेक ऋतुअें होती हैं, अुसी प्रकार मनुष्यमें अुसके जीवन पर अधिकार करनेवाले अनेक तत्त्व रहेंगे ही। अिन्द्रियोंका झुकाव, तरह तरहकी वासनाअें, कल्पनाअें, अनुभव, अतृप्त जीवन-प्रयोग, नअी-पुरानी निष्ठाअें और अंधविश्वास —— सब मिलकर अपने चुनावकी अुम्मीदवारी करनेके लिअे अुसके सामने खड़े होंगे। अिनमें मेलकी अपेक्षा कैसे रखी जाय?

कवियोंके काव्य-विहारमें जिम्मेदारीकी अपेक्षा चाहे न रखी जाय, परन्तु पारमार्थिकता (seriousness) की अपेक्षा तो पूरी पूरी रखी जाती है। अुसमें

* अमेरिकन कवि वॉल्ट विटमैन।

दंभ, कृत्रिमता, जान-बूझकर ठूंसा हुआ असत्य अित्यादि कभी नहीं आने चाहिये। अुसमें 'logical consistency' भले ही न हो, किन्तु 'psychological integrity' तो होना ही चाहिये। कवि निरंकुश तो है, अर्थात् बाहरी अंकुशको वह स्वीकार नहीं करता; परन्तु अपने भीतरके स्वयंभू अंकुशको वह कभी भी तोड़ नहीं सकता। यदि वह अैसा करेगा, तो कवि नहीं रहेगा।

कविका जीवन शास्त्रशुद्ध अथवा स्मृतिशुद्ध हो चाहे न हो, परन्तु वह गहरा, वास्तविक और अधिक वीर्यवान तो होना ही चाहिये। कवि अपने जीवनमें बाहरी नियंत्रणको भले न स्वीकार करे, लेकिन अिसी कारणसे अुसका जीवन अितना आर्य, विशुद्ध और अर्थमय होना चाहिये कि अुसके जीवनसे अनेक लोगोंको जीवनका आदर्श और आदर्श जीवनका मापदण्ड प्राप्त हो। कविमें यदि जीवन-दारिद्रच व्याप्त हो, तो अुसके कल्पना-वैभव, अुसकी शब्द-समृद्धि तथा अुसके गगन-विहारसे दुनियाको क्या लाभ? ये सब बाहरी अुपकरण ज्यों ज्यों बढ़ते जायंगे त्यों त्यों अुसका अपना जीवन अधिक नीरस, अधिक स्वादहीन और अधिक तिरस्करणीय होता जायगा। कविकी अपेक्षा कविका काव्य अधिक भव्य होनेकी संभावना तो रहती है, किन्तु अुसका जीवन अुसके काव्यकी कुछ अंशमें तो भी बराबरी करनेवाला होना चाहिये। अपने काव्यके निकट बैठनेमें कविको लज्जा नहीं आनी चाहिये अथवा निर्लज्जताका पोषण करनेका मौका नहीं आना चाहिये।

४

तत्त्वज्ञानी अेक प्रकारके कवि ही होते हैं। अुनमें भी कल्पनाकी, तीक्ष्ण बुद्धिकी, क्रांतदर्शिताकी और तत्त्व-दर्शनकी झलक तो होनी ही चाहिये। परन्तु तत्त्वज्ञानी दूसरे अेक-दो बंधनोंको स्वीकार करता है। वह जो कहता है अुसमें परस्पर मेल होना चाहिये, तर्कशुद्धि होनी चाहिये, सांगोपांग विवेचनकी पूर्णता होनी चाहिये। वह जो कुछ कहे अुसमें से अुठनेवाले प्रश्नोंका हल अुसके पास होना चाहिये। अुसका जीवन-दर्शन संपूर्ण है, सुसंगत है, यह अुसे सिद्ध करना चाहिये। अपनी बातें दूसरोंके गले पूरी तरह और अच्छी तरह अुतारनेकी अुसकी तैयारी होनी चाहिये। वह चाहे जिस क्षेत्रमें विहार करे, तो भी अंतमें वह बुद्धिका पुजारी है, युक्ति (reasoning) का अुपासक है। और बुद्धिका तो यह दावा है कि अुसकी बातें सदा अेकसी होती हैं, सार्वभौम होती हैं और अुनकी 'अपील' विश्वजनीन होती है। तत्त्वज्ञानमें शायद धर्मसे भी अधिक पंथ खड़े हुअे होंगे, फिर भी बुद्धिने अपना यह दावा छोड़ा नहीं कि मेरी बात सबके गले अुतरनी ही चाहिये। लोग पूरी तरह सोचें-विचारें तो वे मेरे ही मतके बन जायेंगे — अिस तरहकी आशा और अैसी प्रतिज्ञा तत्त्वज्ञान करता है। जीवन यदि केवल बुद्धिका ही बना हुआ होता, तब तो यह बात सत्य सिद्ध होती। परन्तु जीवन अेक अद्भुत रसायन है। हम जीवनका चाहे जितना विश्लेषण करें, फिर भी अुसमें

कुछ अदृष्ट तत्त्व तो रहेंगे ही। मनुष्य-जाति वयस्क बनी तबसे अुसने जीवनकी मीमांसा आरंभ की है। लेकिन आज भी जीवनकी गूढ़ता मिटी नहीं है। जैसे जैसे ज्ञान और विश्लेषणका विकास होता जाता है वैसे वैसे जीवनकी गूढ़ता क्षितिजकी तरह आगे ही बढ़ती जाती है। अिस कारण तत्त्वज्ञानके अधिकाधिक परिपुष्ट होनेके बावजूद जीवनकी शोधमें, मृगयामें वह थककर पीछे ही पड़ता रहा है।

अिसलिअे तत्त्वज्ञानीको बार-बार ठहर कर अपने साधनोंको अधिक सूक्ष्म और अधिक तीक्ष्ण करना पड़ता है। और तर्क जैसे प्रामाण्यवादमें अुलझ जाता है असी प्रकार तत्त्वज्ञान सदा मनोविश्लेषणमें अुलझता रहा है। तत्त्वज्ञानीने बुद्धिको तीव्र बनानेकी जरूरत तो स्वीकार की, परन्तु जीवनको शुद्ध बनाने और अुसके द्वारा जीवनका साक्षात्कार करनेकी शक्ति पानेकी जरूरतको स्वीकार नहीं किया। धार्मिकताने अिस कर्तव्यको निष्ठासे स्वीकार किया है।

५

कवि और तत्त्वज्ञ दोनोंका समन्वय करके धर्मने ज्ञान-साधनाके लिअे जीवन-शुद्धि रूपी जीवन-साधनाकी आवश्यकताको स्वीकार किया। जीवन ही ज्ञानप्राप्तिका अुत्तम साधन है और ज्ञानप्राप्ति होनेके बाद अुसका विनियोग भी जीवनके विकासके लिअे ही होना चाहिये, अितना समझ लेनेके बाद धर्मने कविके दर्शनकी झलक और तत्त्वज्ञानीके विश्लेषणकी मददसे साक्षात्कारका मार्ग अपनाया।

अिसमें पहले-पहले जीवन-शुद्धिकी स्पष्ट कल्पना मनुष्यको नहीं आअी। शुद्धिके नाम पर जीवनको शून्यरूप — तत्त्वरहित — कर डालनेवाले कितने ही पन्थ खड़े हो गये। जीवनमें संयमकी आवश्यकता है, तपकी आवश्यकता है, वीर्यकी आवश्यकता है। अिन्हें प्राप्त करनेके बजाय कुछ लोगोंने जीवनको जीवन-विमुख बनानेका प्रयत्न किया। हमारे बैरागियोंमें अिसके कितने ही अुदाहरण मिलते हैं। जादू, कीमिया, जड़ी-बूटी, ज्योतिष और मंत्र-साधना जैसी विचित्र प्रवृत्तियां बैरागियोंमें दिखाअी देती रही हैं। किन्तु अुनके शून्यताके आदर्शके साथ अिन प्रवृत्तियोंका मेल नहीं बैठ सकता। अीश्वरने जिन वृक्ष-वनस्पतियोंसे मनुष्यको अलग किया, अुन्हींका जीवन फिरसे स्वीकार करना अीश्वरको पराजित करना है। अिसमें धार्मिकता नहीं है; तब फिर धर्म-विजय तो हो ही कैसे सकती है?

धर्मकी सच्ची प्रवृत्ति यह होगी कि वह मनुष्य-जीवनके छोटे छोटे प्रवाहोंको गहरा बनाये और बादमें अुन्हें अुचित दिशामें मोड़कर अुन्हें बलवान और वेगवान प्रवाहोंका रूप दे।

तत्त्वज्ञानमें अनेक वाद अुत्पन्न होते हैं। धर्म जीवंत वस्तु है, अिसलिअे अुसमें अनेक पंथ और साधनायें स्थापित हो जाती हैं। लेकिन अिसे हम भूल नहीं सकते कि जब तक जीते-जागते लोगोंके हाथमें ये पंथ और साधना-क्रम रहते हैं तब तक ये प्रयोगके रूपमें ही रहते हैं। लेकिन बादमें जड़ लोग अिन प्रयोगोंको

सिद्ध हुअे तंत्रोंका रूप दे देते हैं और नये या अधिक अनुभवोंका लाभ अुठानेसे इनकार करते हैं। पंथोंके बढ़नेसे कोअी नुकसान नहीं है, लेकिन न्यायबुद्धिको अिन प्रयोगोंके परिणामका आदान-प्रदान करनेकी तैयारी रखनी चाहिये। बुद्ध भगवानने अेकांतिक तपस्याके मार्गका अनुभव करके अुसकी व्यर्थताकी घोषणा की। अुनके प्रयोगोंके अिस निष्कर्षको कुछ लोगोंने अंतिम माना और कुछ लोगोंने पहलेसे ही अुसका विरोध किया। भौतिकशास्त्री तटस्थ रहकर अपने सिद्धान्त स्थापित करते हैं और अुन्हें छोड़ते हैं, बार-बार अुन्हें जांचते हैं और सुधारते हैं और अपने अनुभवके प्रति ही वे वफादार रहते हैं। धर्ममार्गमें भी अैसा ही होना चाहिये। किन्तु अिस मार्गमें व्यक्तिनिष्ठा, ग्रंथनिष्ठा अथवा वचन-निष्ठा, मताग्रह, दलबंदी और पक्षाभिमान बाधक सिद्ध हुअे हैं; और सत्ताका लोभ अिसमें घुस जानेसे ये सभी भ्रष्ट हुअे हैं। धर्म यदि जीवंत न रहें, तो वे विषैले बनकर सारे जीवनको नष्ट कर देते हैं। धर्म जैसी तीव्र प्रभावकारी वस्तुकी विकृति मारक ही सिद्ध हो सकती है।

६

कवि, तत्त्वज्ञ और धर्मज्ञ तीनोंने देखा कि कुछ ऐसी अमर श्रद्धायें होती हैं, जो कल्पनासे भिन्न, अनुभवसे परे और साधनाके लिअे प्रेरक होती हैं। यह कहना कठिन है कि ये श्रद्धायें कहांसे आती हैं, कैसे मनुष्यको पकड़ती हैं और किस बातमें अुनकी शक्ति समायी हुअी है। ये श्रद्धायें सब मनुष्योंको समान रूपसे नहीं पकड़तीं। प्रत्येक युगमें अिनका स्वरूप बदलता है, अिनके नये नये अवतार होते हैं और अिसीलिअे प्रत्येक युगको अपना वैशिष्टच प्राप्त होता है। सभी मनुष्य बुद्धिका प्रयोग करते हैं। परन्तु बुद्धिमें ये श्रद्धायें मिली रहती हैं, अिसलिअे दर्शनों और पंथोंकी विविधता अुत्पन्न होती है। अहिंसा अिसी प्रकारकी अेक स्वयंभू श्रद्धा है। गांधीजीने अुसे सत्यसे निकालनेका प्रयत्न किया है। परन्तु अैसा करनेके लिअे सत्यके रूपको ही गूढ़ बनाना पड़ता है। और अंतमें हम जहां थे वहींके वहीं रह जाते हैं। अहिंसा अेक स्वयंभू, अमर श्रद्धा है और वह जीवनके काव्य, जीवनके तत्त्वज्ञान, जीवनकी साधना और जीवनके साक्षात्कार सभीमें प्रवेश करती है।

आज हमारे देशमें जो जीवन-चर्चा चलती है अुसके पीछे जाने-अनजाने भी अहिंसाका तत्त्व रहता है, अिस बातको हम समझ लें तो ही हमारी चर्चा विशद और फलप्रद बनेगी।

७

जीवन-चर्चामें अेक बातका हमें ध्यान रखना चाहिये। तर्ककी कसौटी पर जो चीज अशुद्ध और अपवित्र साबित हो, अुसे हम अपनी अिस चर्चामें जरा भी स्थान नहीं देंगे। परन्तु जिन प्रश्नोंके सामने तर्क स्वयं ही थककर

रुक जाये, वहां तर्कके दोषकी वजहसे हम प्रश्नोंको अुड़ा नहीं देंगे। मनुष्यका जीवन तर्कबुद्धिके जितना सरल नहीं है। असंख्य विरोधी वस्तुओंका समन्वय करके जीवन स्थिर और प्रवृत्त हुआ है। अुसकी सरल मीमांसा करने जायंगे, तो अंतमें वह ब्याज-सहित हमसे बदला लेगा। अिसलिअे तर्कका पूरा-पूरा लाभ अुठाते हुअे भी अुसके निर्णयोंको हम सावधानीके साथ ही स्वीकार करें।

ध्यानमें रखने लायक दूसरी बात यह है कि जीवनकी मीमांसामें अनुभवके विरुद्ध कोअी बात नहीं आनी चाहिये। साथ ही, अुसमें मानव-जीवनकी अमर श्रद्धाओंका द्रोह भी नहीं होना चाहिये। मेरा विश्वास है कि प्राचीन विचारकोंने अिस बातकी सावधानी रखी थी। परन्तु अुनका अनुभव अधूरा था, अनुभव पर विचारोंका प्रकाश डालनेकी अुनकी शक्ति स्थूल थी और निश्चित किये हुअे निर्णयोंकी पुन: जांच करनेकी अुनकी प्रयोग-वृत्ति मंद थी; अिसीलिअे प्राचीन तत्त्वज्ञान अपने समयके लिअे ठोस और सच्चा होते हुअे भी आज वह हमारा पर्याप्त दिशादर्शक नहीं बन सकता।

परन्तु आज दुनियामें जितने भी महान धर्म प्रचलित हैं, वे सब अनेक दृष्टियोंसे जीवनकी मीमांसा ही हैं। अुनके पीछे प्रयोग-वीरोंका गहन अनुभव है, अिसीलिअे अुनके सिद्धान्त सहज भावसे हमारे आदरके पात्र बनते हैं। अुन पर कोअी विचार किया ही नहीं जा सकता, अैसा मानना पुरानी भूल है। तर्कके अेक झटकेसे अुन्हें अुड़ा देना आजकी भूल है। अनेक अधूरे सिद्धान्तोंका घेरा खड़ा करनेसे हम गोल-गोल जरूर घूमेंगे, लेकिन प्रगति जरा भी नहीं कर सकेंगे।

अर्धसत्योंको ले अुड़ना -- अुन्हें बिना सोचे-विचारे ही स्वीकार कर लेना आजके जमानेकी विशेषता है। अर्धसत्योंमें हमेशा अधिक जोश होता है। अुनमें परिणामोंके बारेमें गैर-जिम्मेदारी भी अुतनी ही रहती है। अर्धसत्य सदा आक्रमण करनेमें विश्वास रखते हैं। अुनका यह स्वभाव सदा दोषरूप ही होता है, अैसा नहीं कहा जा सकता। जो व्यक्ति सारे पहलुओंको देख सकता है और हर पहलूकी सुन्दरताकी ओर बारी-बारीसे झुक जाता है, अुसमें कार्य करनेका जोश और अुत्साह कम रहता है। वह परस्पर विरोधी दलीलोंका चिन्तन करनेमें लगा रहता है।

चौतरफा विचार करनेके बाद अंतमें आचरणकी अेक स्पष्ट दिशा निश्चित होनी ही चाहिये और अपनी सारी शक्ति हमें अुसी दिशामें प्रवाहित करते आना चाहिये। परिस्थितियोंमें परिवर्तन न हो तब तक अुसी दिशा और अुसी अुपायको दृढ़तासे पकड़े रहनेकी शक्ति भी हममें होनी चाहिये। यह शक्ति हममें आध्यात्मिक चरित्रके बिना नहीं आ सकती। पुराना जमाना

यदि अपरिवर्तनशील माना जाता है, तो आजका जमाना परिणामका विचार किये बिना, 'स्वभाव है अिसीलिअे' परिवर्तन करनेमें विश्वास रखनेवाला हो गया है। 'नवं नवं प्रीतिकरं नराणाम्' यह मानवका स्वभाव है, धर्म नहीं। परन्तु आज जनसमुदाय अपने स्वभावके ही वश होकर आचरण करता है। जहां चरित्रकी दृढ़ताकी आवश्यकता है, जहां पतवार पर मजबूत हाथ रखकर नौकाको अेक ही दिशामें चलाना जरूरी है, वहां आज निष्ठाकी यह अेकाग्रता बहुत मंद पड़ी हुअी दिखाअी देती है। लोग प्रतिज्ञा-पालनमें दुर्बल हो गये हैं और चंचल वस्तुओंमें निष्ठा रखनेवाले बन गये हैं। आज जीवन-मीमांसा और जीवन-चर्चा कितनी ही क्यों न चले, परन्तु विचारपूर्वक कष्ट सहकर जीवनकी साधना करनेवाले लोगोंके अुदाहरण बहुत कम मिलते हैं।

८

संस्कृति किसे कहा जाय, यह अभी तक पूरी तरह स्पष्ट नहीं हुआ है। अेक समय अैसा था जब कि नैतिक जीवन, चरित्रकी दृढ़ता, आर्यत्व ही संस्कृतिका आधार माने जाते थे। आज परिस्थितियां बदल गअी हैं। तरह तरहके अनुभव करना, प्रसंगानुसार अथवा बिना कारण परिवर्तन करना, धैर्यके साथ परिणामोंकी जांच न करना —— यह आजका स्वभाव बन गया है। सदाचार और चरित्रके आग्रहके बिना यदि संस्कृतिका निर्माण किया जा सके, तो आज जनताको यही चाहिये। कोअी व्यक्ति चरित्रका सीधा विरोध नहीं करता। सदाचारके आदर्शमें आवश्यक शुद्धि और परिवर्तन भी होता है। परन्तु आज अनेक जगह यह वृत्ति दिखाअी देती है: 'चरित्रका विकास प्रत्येक मनुष्यका व्यक्तिगत प्रश्न है; अिसके आधार पर समाजका और राज्य-व्यवस्थाका विचार किया ही नहीं जा सकता।'

अिसलिअे चरित्रके स्थान पर आज संस्कृतिके लिअे भौतिक साधन-शक्ति, बौद्धिक विकासकी सूक्ष्मता, राज्यतंत्रकी स्थिरता, कलाकी विशिष्टता आदि अन्य बातोंका आधार खोजा जाता है। अिसके फलस्वरूप प्रत्येक सामाजिक प्रयोगकी स्थिति वैसी ही हो जाती है जैसी जकातसे बचनेके लिअे सारी रात जंगलमें भटक कर सवेरे ठीक जकात-नाकेके सामने ही आकर खड़ी होनेवाली गाड़ीकी होती है। और अंतमें हमारी गाड़ी अिस अनुभव पर आकर रुक जाती है कि नैतिक प्रगति किये सिवा कोअी चारा नहीं है। दुनियाका आधुनिक अर्थशास्त्र सदाचारशास्त्रसे बचनेका मिथ्या प्रयत्न करता है, दुनियाकी व्यावहारिक राजनीति भी नीतिका दंभ करके नीतिशून्य ढंगसे काम करना चाहती है तथा शिक्षामें नीतिका आग्रह रखनेके बारेमें लोग अधिकाधिक साशंक होने लगे हैं। अिस प्रकार जीवन-साधनामें सदाचारका, नीतिका अंश अथवा अंकुश जितना कम किया जा सके अुतना कम करनेकी वृत्ति आज लोगोंमें बढ़ रही है।

९

पुराणोंमें अेक कथा है। अेक खोये हुअे राजाको ढूंढ़नेके लिअे अुसकी रानी त्रिखण्डमें घूमी, लेकिन अंतमें थककर रानीने राजाकी बाहरी खोज छोड़ दी। अुसने सोचा कि जो ब्रह्माण्डमें है वह पिण्डमें होना ही चाहिये। अिसलिअे रानीने अपने मनको शांत, निश्चल और निर्विकार बनाकर अपने भीतर ही राजाकी खोज शुरू की। जितना ब्रह्माण्ड बाहर है अुतना ही मेरे भीतर भी है, अिसलिअे ध्यानके द्वारा भीतरकी सृष्टिमें राजाका पता लगना ही चाहिये —अैसा सोच कर रानीने अपने भीतर राजाकी खोज की और अिसमें अुसे सफलता मिली। पुराण तो अैसा ही लिखेंगे। आज भी अगर हमारी कोअी चीज खो जाय और हम सारी दुनियामें अुथल-पुथल मचानेके बजाय थोड़ा रुककर सोचें कि वह चीज कहां थी, कहां तक हमें अुसका स्मरण है, वह कहां रखी हुअी होनी चाहिये, तो कम प्रयत्नमें अुसके मिलनेकी अधिक संभावना रहती है।

अिसी प्रकार किसी विषयमें अंधे होकर अनेक प्रयोग करनेके बजाय यदि हम पहले मनमें ही सोचें और अपने जैसे विचार रखनेवाले लोगोंके साथ चर्चा करें, तो जीवनमें समय और शक्तिका कितना ही अपव्यय करनेवाले प्रयोगोंकी अपेक्षा मनमें — विचार-क्षेत्रमें — ही मनन तथा चर्चाके रूपमें प्रयोग करके हम कीमती निर्णय पर पहुंच सकते हैं; अैसा करनेसे हमारी शक्तिका संग्रह भी होता है। जो प्रजा फलदायी चर्चाका शास्त्र जानती है, वह अनेक गलतियोंसे बच जाती है। किसी भी निर्णय पर आनेके पहले हम जो विचारक-समिति नियुक्त करते हैं अुसका यही अुद्देश्य होता है।

लोक-शिक्षणकी दृष्टिसे आम जनताके लिअे अिस समितिका निर्णय जानना जितना जरूरी है, अुससे अधिक जरूरी और महत्त्वपूर्ण है निर्णयसे पूर्व हुअी अनेक-विध चर्चाको जानना और अुसके मर्मको समझना। अिस प्रकार जीवन-चर्चा सामाजिक शक्तिको बचाने और बढ़ानेका अेक साधन है। अैसी चर्चामें सर्व-संमत और अेक लक्ष्यवाले निर्णय पर पहुंचनेकी आशा शायद ही रखी जायगी। परन्तु अितना तो निश्चित है कि अुससे समाजकी विचार-शक्ति और आचार-दृष्टि अधिक शुद्ध होगी।

१०

प्राचीन कालमें समाज-तंत्र अेकसी गतिसे चला करता था। अुसके कुछ बाह्य नियमोंमें सामान्य परिवर्तन भले ही हो जायं, परन्तु अिन प्रश्नोंकी गहराअीमें कोअी नहीं अुतरता था कि समाजकी बुनियाद कैसी है और समाज किन तत्त्वोंके आधार पर चलता है। और यदि कोअी अुतरता भी था तो समाज-रचनाकी कोअी काव्यमय पौराणिक अुपपत्ति देकर ही संतोष मान लेता था। अुस समय लोगोंमें कुछ अिस प्रकारकी वृत्ति थी कि समाज कोअी अगम्य गूढ़ वस्तु है,

वह स्वयंगतिक है, हमें समाजका स्पर्श करनेसे डरना चाहिये। आज अिस अगम्यताको तोड़नेके प्रयत्न चल रहे हैं। कोअी वस्तु गूढ़ है — अगम्य है — अिसलिअे वह पवित्र है, अिस प्रकारकी मनोवृत्तिको आज कोअी बरदाश्त नहीं कर सकता। आज यह मनोवृत्ति दिनोंदिन बढ़ रही है कि समाज-जीवनकी जड़ें हम सोचते थे अुतनी गूढ़ और दुर्बोध हैं ही नहीं। गायका जबड़ा बड़ा होगा तो वह अधिक घास खायेगी; अुसकी नाक चौड़ी होगी तो वह अधिक श्वास लेगी; अुसके थन बड़े होंगे तो वह अधिक दूध देगी। बस, अितनी बातों परसे अच्छी गायके लक्षण निश्चित कर लीजिये; अिससे अधिक अिसमें कोअी गूढ़ बात है ही नहीं — यह कहनेकी ओर आजके गोपालनशास्त्रकी वृत्ति रहती है। गुणभेदका विश्लेषण करते करते वह परिमाण-भेद पर आ पहुंचता है; अिसलिअे अिसमें रहस्य जैसी कोअी बात है ही नहीं, अैसा सिद्ध किया जा सकता है। यह आजकी मान्यता है।

गूढ़वाद आज जितना कम हो सके अुतना ही अच्छा है। अज्ञान और आलस्यसे गूढ़भावको जन्म देना मनुष्यके लिअे शोभाकी बात नहीं है। प्रत्येक वस्तु अमीमांस्य है — अैसा कह देनेमें श्रद्धा नहीं परंतु जड़ता है, यह हमें समझना चाहिये। अिसके साथ हमें यह भी जानना चाहिये कि किसी वस्तुकी अुतावलीमें की गअी मीमांसा महत्त्वपूर्ण तत्त्वोंको भुला देती है और अंतमें 'घट्टकुटी प्रभात-न्याय' से सवेरा होने पर मूल कठिनाअीका 'जकात-नाका' तो हमारे सामने खड़ा ही रहता है।

११

और, अंतमें विविध प्रकारकी जीवन-चर्चा करनेका फल क्या है? हमें सारे जीवन और अेक पूरी सदी तक वाग्वर्धिनी सभा नहीं चलानी है। पीढ़ी दो पीढ़ी तक भरपेट चर्चा करनेके बाद मनुष्य-जीवनको अेक विशिष्ट दिशा मिलनी ही चाहिये।

मेरी कल्पनाके अनुसार ठेठ प्राचीन कालमें लोग केवल स्फूर्तिसे ही विचार करते थे। अेकाध भव्य विचार मनमें स्फुरित हुआ कि अुससे मोहित होकर वे अपना समस्त जीवन अुसी विचारको अर्पण कर देते थे। अुस जमानेके लोग अलौकिक प्रयोग-वीर थे। अुसके पश्चात् तर्कबुद्धिका विकास होने पर चर्चाका युग आरंभ हुआ। मनुष्य-जाति प्रौढ़ बनी। मैं मानता हूं कि ६०० अीस्वी पूर्वके आसपासके १००–२०० वर्ष मनुष्य-जातिके प्रौढ़ बननेका काल बताते हैं। अुस कालमें संसारके सभी देशोंमें चर्चायें चलती थीं, भव्य संवादोंका आयोजन किया जाता था और सिरकी बाजी लगाकर वाद-विवाद होता था। जरतुश्त, सुकरात, याज्ञवल्क्य, बुद्ध भगवान, महावीर — ये सभी समकालीन थे अैसा तो कोअी नहीं कहेगा; किन्तु ये सब मानव-बुद्धिकी प्रथम प्रगल्भताके प्रतिनिधि अवश्य थे।

अुसके बाद जीवनने जो नया मोड़ लिया, अुसमें भक्ति-सम्प्रदायका अधिक विकास हुआ, सामाजिक संस्थाओंकी स्थायी रचना हुआी, विविध कलाओं तथा विद्याओंका अुदय हुआ और मध्ययुगका वैभव प्रकट हुआ।

अब मानव-जाति अेक महान परिवर्तनके समीप आ पहुंची है। अिस मौसमकी फसल कैसी होगी, अिस प्रश्नका अुत्तर हमारे जीवनकी अुत्कटता और पारमार्थिकता पर आधार रखता है। जमीनमें खूब अच्छा कस हो, पानी अुचित मात्रामें हो और हवा-बरसात अनुकूल हो, तो खेतकी फसल सुन्दर आनी ही चाहिये। परन्तु यदि कोआी जमीन जोतनेका पुरुषार्थ ही न करे, और जोते तो भी अुसमें अच्छे बीज न बोये, तो दोष मौसमका नहीं माना जायगा।

अब मानव-जीवन महान परिवर्तनके बिन्दु पर खड़ा है। अिसमें जो संकल्प बोये जायंगे, जो प्रयोग आजमाये जायंगे और जिन प्रेरणाओं पर अमल किया जायगा, वे अेक भव्य, व्यापक और तेजस्वी संस्कृतिका रूप ग्रहण करेंगे। परन्तु अिसके लिअे श्रद्धाको ही अपना धन समझनेवाले प्रयोग-वीरोंकी आवश्यकता है। यदि मनुष्य क्षुद्र वासनाओं और तुच्छ आदर्शोंके वश हो जाय, यदि मनुष्य अुत्तुंग महत्त्वाकांक्षाओंके लिअे शास्त्रीय निष्ठा तथा फकीरकी लापरवाहीसे अपना जीवन न्योछावर करनेके लिअे तैयार न हो, तो यह मौसम बेकार जायगा। प्रतिदिनके सुख, प्रतिदिनकी सुरक्षितता और पामर विलासितामें ही यदि मनुष्य संतोष माने, तो जमानेकी असाधारण परिस्थितियोंके कारण ही अुसके जीवनमें विकृति आ जाती है और जीवन सड़ जाता है। परन्तु यदि मनुष्य महासागरके भयानक तूफानमें भी कूद पड़नेकी हिम्मत करे, यदि वह प्राणोंकी बाजी लगानेको तैयार हो जाय, तो निश्चित रूपसे वह अैसी महान संस्कृति तथा अलौकिक प्रगतिका स्वामी बन जायगा जिसकी आज तक कभी कल्पना नहीं की गआी थी। पारमार्थिक चर्चाके अंतमें वीर्यवत्तर — अधिक शक्तिशाली — जीवनका विकास होना चाहिये। अुस जीवनसे जो नया मानव जन्म लेगा, वह मनुष्य-जातिको सर्वथा नआी दिशा प्रदान करेगा। हम अिन महान संकल्पोंसे परिचित बनें, अुनका आह्वान करें, अुनकी दीक्षा लें और अुनके रंगमें रंग जायं।

१२

हमें अज्ञात किन्तु अुज्ज्वल भविष्यमें छलांग मारनी है।

७

महाभारत

अुपनिषद्-कालके गुरु-शिष्य-संवादों तथा सरल जीवन-पद्धतिके बाद हमें मध्यदेशके और अिन्द्रप्रस्थके महाराज्योंका दर्शन होता है।

हस्तिनापुरके राजा शान्तनुको बुढ़ापेमें दूसरी बार विवाह करनेका मोह हुआ और वह भी अेक धीवरकी पुत्रीके साथ! और यहींसे महाभारतकी दुर्दशाका आरंभ हुआ। पिताकी अिस अिच्छाको पूरी करनेके लिअे भीष्मने आजीवन ब्रह्मचारी रहनेकी प्रतिज्ञा की और राजपदका त्याग करके यथाशक्ति राजसेवा करनेका व्रत लिया। शान्तनुके बादके राजा अच्छे नहीं निकले। विचित्रवीर्य बहुत छोटी अुमरमें मर गया। धृतराष्ट्र जन्मसे अंधा था और पांडु पांडुरोगसे मर गया। अुसके बाद राजगद्दीके लिअे धृतराष्ट्रके पुत्रों और पांडुके पुत्रोंमें झगड़ा शुरू हुआ। दुर्योधनने अनेक प्रकारसे कपट-जाल रचा और पांडव हर बार अुस जालमें फंसे। विदुर और श्रीकृष्ण पांडवोंके सहायक थे, अिसलिअे हर बार पांडव जैसे-तैसे दुर्योधनके जालसे बाहर निकल जाते थे। अंतमें युधिष्ठिर दुर्योधनके साथ जुआ खेलनेको तैयार हुआ और अुसमें हारा। पांच भाअियोंकी पत्नी द्रौपदीको भी युधिष्ठिरने दावं पर लगा कर खो दिया! अंतमें यह शर्त तय हुअी कि पांडव बारह वर्षका वनवास और अेक वर्षका अज्ञातवास पूरा करें, तो अुनका राज्य अुन्हें लौटा दिया जाय। बारह वर्ष तो आसानीसे कट गये। तेरहवें वर्षमें पांडव विराट नगरीमें गुप्त रूपमें रहे। अज्ञातवासका वर्ष मुश्किलसे पूरा हुआ होगा कि अितनेमें पांडवोंको क्षात्रधर्मके अनुसार गायोंका रक्षण करनेके लिअे प्रकट होना पड़ा। अिससे यह विवाद अुठा कि अज्ञातवासका अेक वर्ष पूरा हुआ या नहीं। चन्द्रकी गतिके अनुसार वर्ष गिना जाय अथवा सूर्यकी गतिके अनुसार, अिसकी चर्चा चली; और अंतमें रणकी शरण लेनेका निर्णय हुआ। अिस भारतीय युद्धमें भारतके लगभग सभी राजा शामिल हुअे थे। दोनों पक्षोंकी कुल अठारह अक्षौहिणी चतुरंग सेना कुरुक्षेत्र पर अेकत्रित हुअी। अठारह दिन तक यह युद्ध चला और युद्धके अंतमें दोनों पक्षोंके कुल अठारह मनुष्य बचे। पांडवोंकी विजय तो हुअी, परन्तु युधिष्ठिरको हाथ मल कर कहना पड़ा कि यह जय तो पराजयसे भी बुरी है। अधर्मकी सड़ांध खूब फैली हुअी थी। धर्म-संबंधी वाद-विवाद करनेमें प्रत्येक व्यक्ति प्रवीण था। महाभारतके युद्धमें बचे हुअे काठियावाड़के यादव अुन्मत्त बनकर परस्पर लड़ने लगे। अंतमें वहां भी भयंकर गृहयुद्ध हुआ और संहार-कार्य पूरा हुआ। अुसके

बाद परीक्षितका राज्य आरंभ हुआ। तक्षक नामके नाग राजाने आक्रमण करके अुसका वध किया। अर्जुनने खांडव वनको जलाकर नागकुलका जो नाश किया था, अुसीका यह बदला था। परीक्षितके बाद जन्मेजयने नाग लोगोंसे बदला लेनेके लिअे अेक सत्र आरंभ किया। हिंसा और प्रतिहिंसा जोरोंसे चली। परन्तु नागकन्याके अुदरसे अुत्पन्न हुअे आस्तिक नामक अेक ब्राह्मणकी मध्यस्थतासे यह विग्रह शांत हुआ और विग्रहसे अूबी हुअी भारतभूमिको अंतमें शांति मिली। अुसके बाद क्या हुआ, अिसका निश्चित अितिहास नहीं मिलता। परन्तु वैरसे वैर शांत नहीं होता, क्षमासे ही वैर शांत होता है — अितना पाठ भारत-भूमिने भारतीय युद्ध, यादवोंके गृहयुद्ध और जन्मेजयके सर्पसत्रसे सीखा, अैसा कहें तो गलत नहीं होगा।

अिस भारतीय युद्धके समकालीन कृष्ण-द्वैपायनने (अिन्हींको वेदव्यास कहा जाता है) अुस युद्धका तथा अुस समयका संपूर्ण वर्णन जय अथवा महाभारत नामक अेक विशाल ग्रंथमें लिख रखा है। महाभारत संसारके बड़ेसे बड़े ग्रंथोंमें से अेक है। व्यासने जिस रूपमें यह ग्रंथ लिखा होगा अुसी रूपमें तो आज वह हमारे पास नहीं है। अिस महान राष्ट्रीय ग्रंथके अनेक बार राष्ट्रीय संस्करण हुअे हैं।

रामायणमें भारतवर्षका आदर्श चित्रित किया गया है, जब कि महा-भारतमें अनेक अच्छी और बुरी वासनाओंसे पीड़ित महान जन-समुदायका यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया गया है। भारतके असंख्य पहाड़ोंसे हिमालय अपनी अुत्तुंगताके कारण अलग पड़ता है; अुसी प्रकार महाभारतमें दो नरवीर श्रीकृष्ण और भीष्म सबसे अलग पड़ते हैं। दोनों ही घटना-जालके सूत्रधार होते हुअे भी परि-णामके बारेमें कोअी परवाह नहीं करते। भीष्माचार्य विरोधी पक्षके सूत्रधार हैं, फिर भी श्रीकृष्णके परम भक्त हैं। वे अत्यन्त स्वार्थत्यागी, प्रतिज्ञा-निष्ठ, ब्रह्म-चारी और तपस्वी हैं। फिर भी निष्ठाबद्ध होनेके कारण यह जानते हुअे भी कि अुनका पक्ष असत्का पक्ष है, वे अुसे छोड़ नहीं पाते। 'अर्थस्य पुरुषो दासः' जैसा दीन वचन कहकर अुन्हें अपने आचरणका समर्थन करना पड़ता है, जब कि श्रीकृष्ण अैसी कोअी जिम्मेदारी स्वीकार ही नहीं करते। वे सारे परिणामोंको पहलेसे ही जानते हैं। भीष्म यदि अर्थके दास हैं, तो श्रीकृष्ण प्रेमभक्तिके दास हैं। भीष्मकी कर्तव्य-निष्ठा अलौकिक है; श्रीकृष्णकी अनासक्ति दैवी है। भीष्माचार्यने निष्काम कर्म किया और फलकी सारी व्यवस्था अीश्वर-भावसे श्रीकृष्णने की।

रामायणकी सीता और महाभारतकी द्रौपदी अपने रूपकी तरह स्वभावमें भी विरोधी हैं, फिर भी दोनों अपने अपने ढंगसे आदर्श नारियां हैं। सीताका सर्वार्पण आदर्श है, जब कि द्रौपदीकी तेजस्विता अनुकरणीय है। यही कारण है

कि शास्त्रकारोंने दोनोंको अेक ही श्लोकमें पास पास रखकर प्रातःस्मरणीय बना दिया है।

महाभारतका समय अर्थात् श्रीकृष्ण, भीष्म और युधिष्ठिर, जरासंध और भीम तथा कर्ण और अर्जुनका समय। अुसी समय यवन और नाग लोग भी भारतमें आये। अफगानिस्तान और तिब्बतके साथ आजकी अपेक्षा अुस समय भारतका अधिक संबंध था। कुन्ती और माद्री, द्रौपदी और गांधारी, सत्यभामा और रुक्मिणी, अुत्तरा और चित्रांगदा सब दूर-दूरकी राजकन्यायें कुरुकुलमें ब्याही गअी थीं।

विद्वानोंकी यह मान्यता है कि आज महाभारत जिस रूपमें हमारे सामने है, वह रूप सन् ४०० के आसपास अर्थात् आजसे लगभग डेढ़ हजार वर्ष पूर्व निश्चित हो चुका होगा।

१९२३

८

महाभारतका आस्वाद

महाभारतको ज्यों ज्यों हम अधिक पढ़ते हैं त्यों त्यों अुसके प्रति हमारा आदर बढ़ता ही जाता है। 'प्रतिपर्वं रसावहम्' जैसी महाभारतकी प्रशंसा तो सामान्य मालूम होने लगती है। महाभारतके लिअे यदि कोअी अेक विशेषण शोभा देनेवाला हो, तो वह है 'आर्यभव्य'। रामायण यदि वीणा-मधुर है, तो महाभारत मेघ-गंभीर है। महाभारतने अत्यन्त गहराअीमें अुतर कर मनुष्य-स्वभावकी थाह ली है।

महाभारतकारने चरित्र-चित्रणमें अपने संपूर्ण शक्ति-वैभवका अुपयोग संकल्प-शिथिल धृतराष्ट्रका तादृश और सुन्दर चित्र प्रस्तुत करनेमें किया है। वह अंधा राजा कुछ भी नहीं करता। वह सबकी बात केवल सुनता ही रहता है, फिर भी आरंभसे अंत तक हम अुसे नजरके सामनेसे दूर नहीं रख सकते। पद-पद पर दैवकी महत्ताका वर्णन करनेवाला यह राजा दैवकी साक्षात् मूर्ति है। सब-कुछ जानते-बूझते हुअे भी जैसे दैव अंधा है वैसे धृतराष्ट्र भी अंधा है। भीष्म, विदुर और संजयके समान सलाहकार अुसके आसपास रहते थे, गांधारी जैसी पतिव्रता नारी भी अुसे खूब डांटती-फटकारती थी, वह यह बात भी जानता था कि श्रीकृष्ण प्रत्यक्ष परमात्मा हैं; फिर भी अुस अंधेने कुछ नहीं देखा, कुछ नहीं समझा।

शेक्सपीयरके हेमलेट जैसा वह क्षीण-संकल्प धृतराष्ट्र 'हमारे हाथों कुछ नहीं होगा, अपने आप जो होना हो हुआ करे' की वृत्ति रखकर जीता है।

चेतनाधारी होते हुअे भी 'जडवल्लोक आचरेत्' सूत्रका धृतराष्ट्रने विकृत वृत्तिसे पालन किया है। सारा दोष दुर्योधन पर थोपनेके लिअे तैयार रहते हुअे भी धृतराष्ट्रका अधिकसे अधिक समर्थन दुर्योधनको ही मिलता है। मौका आने पर वह विदुरको दूर हटा देता था, लेकिन दुर्योधन पर अंकुश नहीं रखता था। जैसे जैसे शकुनि जुअेमें जीतता गया वैसे वैसे अिस बूढ़ेके हृदयकी कली खिलती गअी। 'कौन जीता? क्या जीता? दावं पर क्या रखा गया था?' अैसे प्रश्न वह बड़ी आतुरतासे पूछता रहता था। अिसीसे अुसके मूल स्वभावकी पहचान हमें हो जाती है। भारतीय युद्धके अंतमें अिस कौरव राजाने लौह-भीमको भुजाओंमें दबाकर अुसका जो चूरा कर डाला, अुसमें भी हमें धृतराष्ट्रके अिसी स्वभावके अंत तक बने रहनेका प्रमाण मिलता है। धृतराष्ट्र असमर्थ तथा कूट मनोवृत्तिका अत्यन्त समर्थ चित्र है।

प्रत्येक नाटकमें और कथामें नायकके साथ अुपनायक होते हैं। साहित्य-शास्त्रने अिनके स्वभावको चित्रित करनेकी मर्यादायें बताअी हैं। परंतु कभी कभी कथानकोंमें नायकके सिवा अेक दूसरा मंगल-मूर्ति पात्र होता है। विक्टर ह्यूगोके 'ला मिज़रेबल्स' का बिशप ऑफ डी अेक अैसा ही पात्र है। 'ला मिज़रेबल्स' के लम्बे और विपुल कथानकमें बिशप ऑफ डीका बहुत कम संबंध आता है। परन्तु अुसकी मंगलमयी छाया ठेठ अंत तक कथानक पर छायी रहती है। अिस कथानकका कोअी भी पात्र बिशपसे अूंचा नहीं अुठ सका है।

रवीन्द्रनाथ ठाकुरके 'घरे बाहिरे' का नायक निखिल और अुपनायक संदीप है। परन्तु मंगल-मूर्ति तो निखिलका अध्यापक — 'नत नयने अनिमेषे' अुसकी चिन्ता रखनेवाला चन्द्रशेखर है।

महाभारतकी तीन मंगल-मूर्तियां हैं: भीष्म, कृष्ण और व्यास। अिस त्रिमूर्तिमें भी प्रधान स्थान भीष्मका है। कृष्णकी विभूति अन्तमें दिव्य होनेके कारण भव्य नहीं कही जा सकती। व्यास किसी वानप्रस्थके समान दूर ही दूर रहते हैं। समस्त महाभारत पर अपनी मंगल छाया फैलानेवाले तो धर्मात्मा भीष्म ही हैं। वे सागरके समान गंभीर, हिमालयके समान प्रचंड और अनंत आकाशके समान शान्त और निर्मल हैं।

भीष्म कृष्णके अुत्तम भक्तोंमें से अेक हैं।

प्रह्लाद-नारद-पराशर-पुण्डरीक-
व्यासाम्बरीष-शुक-शौनक-भीष्म-दाल्भ्यान्।
रुक्मांगदार्जुन-वसिष्ठ-विभीषणादीन्,
पुण्यान् अिमान् परमभागवतान् स्मरामि॥

अिस प्रकार प्रतिदिन प्रातःकाल अुठकर हम जिन परम भागवतोंका स्मरण करते हैं, अुनमें भी भीष्मका स्थान अनुपम है। दूसरे भागवत भगवानके अधीन

रहकर अुनकी प्रेरणाके अनुरूप व्यवहार करते हैं। किन्तु भीष्मके भाग्यमें अपने परम प्रभुका अखंड विरोध करना ही लिखा था; और फिर भी अुनकी विरोध-भक्ति नहीं थी।

भीष्म और कृष्णका राष्ट्र-पुरुषोंके रूपमें विचार करने पर भी दोनोंके स्वभावका बहुत बड़ा भेद हमारे सामने स्पष्ट हो जाता है। दोनों धर्मनिष्ठ, धर्म-परायण और धर्मकार हैं, परन्तु दोनोंका जीवन-दर्शन सर्वथा भिन्न है। भीष्मका जीवन-तत्त्व बहुत अंशमें प्रभु रामके जीवन-तत्त्व जैसा है। दोनों मर्यादा-पुरुषोत्तम हैं, दोनों स्वयंको धर्म-परतंत्र समझनेवाले हैं और दोनों धर्म-पालनके लिअे कोअी भी त्याग शांत वृत्तिसे करनेवाले हैं। दूसरी ओर कृष्ण जैसे प्रतिष्ठा-भंजक हैं वैसे ही मर्यादा-भंजक भी हैं। धर्ममार्गमें प्रत्येक नियमका अपवाद कैसे हो सकता है, यह बतानेके लिअे ही मानो कृष्णने अवतार धारण किया था। बंकिमचन्द्रने श्रीकृष्णका अेक जीवन-चरित्र लिखा है। वास्तवमें वह जीवन-चरित्र नहीं है, परन्तु श्रीकृष्ण पर लगाये जानेवाले आक्षेपोंका अेक बड़ा खंडन ही है। न्याय-निपुण लोग अपनी संपूर्ण बुद्धिका अुपयोग करके बचाव न करें, तो श्रीकृष्णके अेक भी कार्यका औचित्य हमारे ध्यानमें न आये। गांधीजीने जिस प्रकार गायके बछड़ेको मार कर अहिंसा-धर्मका पालन किया, वैसा ही कुछ हर समय श्रीकृष्णने धर्मका पालन किया होगा — अिस तरहका भास हमें होता है! श्रीकृष्णने अिसी बातका अभ्यास किया होगा कि धर्मके सिद्धान्तोंके मूल तक पहुंच कर अुनके तत्त्वार्थका पालन करनेके लिअे शब्दार्थका विरोध कैसे किया जाय।

देवदत्तने (भीष्माचार्यने) भरी जवानीमें अेक भीष्म-प्रतिज्ञा करके राज्य और स्त्रीका त्याग किया। अिस अेक प्रतिज्ञाके पालनके लिअे अुन्होंने चारों तरफसे अपनी हानि होने दी। प्रतिज्ञा-पालनका प्रयोजन न रह जाने पर भी अुन्होंने वह प्रतिज्ञा कभी न छोड़ी। और अुनका भाग्य भी कैसा विचित्र था! अुन्होंने राज्यका स्वीकार नहीं किया, फिर भी राज्यका सारा भार तो अुन्हें ही अुठाना पड़ा। अेक माता-पिताकी संतानोंके झगड़ेको टालनेके लिअे अुन्होंने विवाह नहीं किया, परन्तु अुन्हें कितने ही नियोग और कितने ही विवाह कराने पड़े। अधिक क्या कहा जाय? स्वयंवरोंमें भाग लेकर नौजवान कन्याओंको भी वे जीत लाये! और भाअी-भाअीके जिस झगड़ेको टालनेके लिअे अुन्होंने अखंड ब्रह्मचर्य स्वीकार किया, अुसी झगड़ेके कारण अुन्हें अपनी अिच्छाके विरुद्ध असत्य पक्षके लिअे लड़कर और लाखों मनुष्योंका संहार देखकर अपने प्राण त्यागने पड़े! भीष्म-प्रतिज्ञा संसारके लिअे अेक आदर्श बन गअी है। भीष्मका ब्रह्मचर्य भी अुतना ही अलौकिक था। अिस ब्रह्मचर्यके बलसे वे परम ज्ञानी, परम समर्थ और परम धर्मज्ञ ही नहीं, अिच्छा-मरणी भी बन गये थे। परन्तु

भीष्मकी अिस प्रतिज्ञासे कौरव-कुल अथवा आर्य-संस्कृतिको क्या लाभ हुआ? और कुछ नहीं तो मैं सत्यके लिअे लड़ रहा हूं, अितना संतोष तो भीष्मको मिलना ही चाहिये था। राज्य पर अपने अधिकारको छोड़कर वे राजाके सेवक बने। अपनी सारी वफादारी अुन्होंने राजगद्दीके लिअे अर्पण कर दी। जो खाता हूं वह राजगद्दीका अन्न है, राजगद्दीकी जो भी आज्ञा हो अुसे शिरोधार्य मानना चाहिये, अिस प्रकारकी वैधानिक वृत्ति अुन्होंने धारण की। भीष्मके जैसा तंत्रवादी (constitutionalist) शायद ही दूसरा कोअी हो सकता है। किन्तु तंत्रको ही देवता मानकर आचरण करनेसे अुन्होंने राष्ट्र-हितका सर्वनाश कर दिया।

दूसरी ओर श्रीकृष्णने हर मौके पर विद्रोही वृत्ति ही धारण की। जिस समय अुनकी सर्वज्ञता और धर्मवृत्ति जिस मार्ग या कदमको अुचित ठहराती, अुसीका निःशंक भावसे अनुसरण करना श्रीकृष्णका मार्ग था। अिसी मार्गसे पांडवोंकी रक्षा हुअी। यह सच है कि विजय पांडवोंको मिली, परन्तु वह विजय अितिहासके पिर्ह्सकी विजय जैसी थी। अंतमें धर्मराजको छलछलाअी आंखोंसे कहना पड़ा:

जयोऽयमजयाकारो भगवन्! प्रतिभाति मे।

राष्ट्रके क्षात्रकुलका ह्रास हुआ। अर्जुनका भय सच्चा सिद्ध हुआ। सांब जैसे राजपुत्र नाचनेवाले छोकरोंका काम करने लगे और अृषि-मुनियोंकी हंसी अुड़ाने लगे। कश्यप जैसे वैद्य-विशारद ब्राह्मण भी तक्षककी रिश्वत खाकर राज-सेवाको छोड़ लौट गये। अैसी अंधाधुंधी सर्वत्र फैल गअी। स्वयं श्रीकृष्णके घर सुरामत्त यादवोंका कलह जागा और अुसीके फलस्वरूप दूसरा महान कुलक्षय हुआ। अिसमें कोअी शंका नहीं कि श्रीकृष्णने धर्मकी स्थापना की; क्योंकि अुन्होंने अर्जुन-गीता, अुद्धव-गीता और अनुगीता जैसे सर्वोच्च धर्मोपदेश जगतको दिये। परन्तु अुनके अपने युगमें अथवा अुसके बादके अेक हजार वर्षोंमें कृष्ण-धर्मके प्रचारका अथवा अुससे होनेवाली मानव-समाजकी अुन्नति और समृद्धिका नाम-निशान भी दिखाअी नहीं देता। यही कहना चाहिये कि राजसूय यज्ञ करके धर्मराजने राजकुलका सर्वनाश किया। परन्तु भीष्म या कृष्णके मार्गकी परीक्षा तात्कालिक परिणामोंकी दृष्टिसे करना गलत है। श्रीकृष्णकी मृत्युके पश्चात् यदि अंधा धृतराष्ट्र जीवित होता, तो वह अवश्य कहता कि सचमुच 'काल ही बलवान है, अुसकी अिच्छाको अन्यथा करनेके लिअे कोअी समर्थ नहीं।'

युधिष्ठिर गीताधर्मके अनुसार यथोचित आचरण रखकर नम्रतापूर्वक अपना कर्तव्य करनेवाला और मानवके लिअे जितना संतोष पाना संभव है अुतना संतोष प्राप्त करनेवाला अेक संपूर्ण राष्ट्र-पुरुष है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके चतुर्वर्गका अुसमें योग्य समन्वय हो गया था। अैहिक विजय, अैहिक

सुख और अैहिक वैभव — ये सब बाहरसे आकर्षक और भीतरसे निस्सार अिन्द्रायनके फल जैसे हैं, यह समझ कर ही अुसने व्यवहार किया था। 'धर्मो रक्षति रक्षितः' यह युधिष्ठिरका प्रतिज्ञा-वाक्य था। धर्ममार्ग पर युधिष्ठिरकी जितनी श्रद्धा थी अुतनी किसी दूसरेकी मालूम नहीं होती। धर्ममार्ग हमें जहां भी ले जाय वहीं निःशंक होकर हमें जाना चाहिये और धर्मके हाथमें हम किसी भी समय सुरक्षित हैं यह श्रद्धा हमेशा रखनी चाहिये — अिस वृत्तिके फलस्वरूप धर्मराजका जीवन सब दृष्टियोंसे सफल रहा है।

कर्ण धर्मराजका बड़ा भाअी था। बेचारेको जन्मसे ही आर्य और शुभ संस्कार प्राप्त नहीं हुअे थे। कर्ण निष्ठामें दृढ़, हृदयका अुदार, रणमें शूर और आदर्श दानी था। परन्तु हीनताकी ग्रंथि (inferiority complex) अुसकी रग-रगमें बंध गअी थी। कुछ बातें दुर्योधनकी समझमें नहीं आती थीं, परन्तु कर्ण अुन्हें समझता था। अुन बातोंको भी दुर्योधनके समक्ष कर्णने साफ शब्दोंमें नहीं रखा। मित्रनिष्ठाका अर्थ यह तो नहीं है कि मनुष्य मित्रका अनुयायी बन जाय, अुसकी धुनके अनुसार चले। कर्णने निष्ठाका, वफादारीका अतिरेक करके दुर्योधनकी सारी हीन वृत्तियोंको प्रोत्साहन ही दिया। यही कारण है कि कर्णके समान अनन्य मित्रकी निष्ठाके प्रति प्रतिनिष्ठा दिखानेके लिअे दुर्योधनको अपने अधर्म-मार्गमें अधिकाधिक दृढ़ होना पड़ा।

कर्णका बड़ेसे बड़ा दोष अुसका अभिमान, अुसका अहंप्रेम था। वह किसीको कुछ समझता ही नहीं था। प्रत्यक्ष भारतीय युद्धके पहले अनेक बार पराजित होकर कर्ण और दुर्योधनको अपने पक्ष और विरोधी पक्षके बलाबलका अनुभव हो चुका था, परन्तु अिस अनुभवकी सतत अुपेक्षा करनेमें ही कर्णने बहादुरी मानी होगी। पांच पांडवोंने मिलकर जो दिग्विजय की थी वैसी कर्णने अकेले ही करके दुर्योधनसे वैष्णव याग कराया था और अैसा करके गायोंके हरणके लिअे की गअी घोषयात्रासे आत्म-विश्वास खो बैठनेवाले दुर्योधनको जोश चढ़ाया था। परशुरामसे कर्णने अस्त्र प्राप्त किये अथवा अिन्द्रको अपने कुंडल दे दिये, यह बहुत बड़ी बात थी। किन्तु अिससे भी अधिक मूल्य अुसकी दिग्विजयका था। परन्तु महाभारतकारने अिस दिग्विजयको बहुत महत्त्व नहीं दिया। शायद पांडवोंकी दिग्विजयके बाद कर्ण गया था, अिसलिअे अुसे यह विजय आसानीसे मिल गअी हो। हितकी बात सुननेमें धृतराष्ट्र, दुर्योधन और कर्ण तीनोंके मार्ग तीन अलग प्रकारके थे। धृतराष्ट्रसे जो बात कही जाती वह तुरन्त अुसके गले अुतर जाती थी, परन्तु अुस पर आचरण वह जरा भी नहीं कर पाता था। पांडवगीतामें दुर्योधनके मुंहसे जो श्लोक कहलाया गया है, वह सचमुच धृतराष्ट्रके स्वभावका द्योतक है :

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः।
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः॥

केनापि देवेन हृदि स्थितेन।
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमी॥

धृतराष्ट्रकी दृष्टिमें देव और दैवमें जो अेक मात्राका फर्क है वह भी नहीं रह गया था।

दुर्योधन पक्षाभिमानी, स्वार्थी और दीर्घद्वेषी था, अिसलिअे अुसमें अंतर्मुखता जैसा कुछ नहीं था। वह बार-बार आवेशमें आ जाता था, बार-बार अपने कथनका समर्थन करता था, बोध देनेवाले व्यक्तिके हेतु पर ही शंका करता था और अपने निश्चय पर दृढ़ रहकर सबको अपने साथ पकड़े रखता था। फिर भी अेक बात अुसमें अैसी थी, जो अुसे हमारे आदरका पात्र बनाती है —वह भीतर और बाहर समान था। वह अपनी मनोवृत्तिके साथ अीमानदार रहता था। कर्णके विषयमें अैसा कहना कठिन है। कुछ बातें कर्ण अच्छी तरह समझ लेता था। परन्तु वफादारीसे आचरण करनेके आग्रहको मानकर वह दुर्योधनकी बातको ही ग्रहण करता था और फिर हृदयपूर्वक अुसीको धारण करके अुससे चिपटा रहता था। कर्णके अैसे स्वभावके कारण अुसे महापुरुषोंकी प्रथम पंक्तिमें रखना कठिन है। भीष्म बिलकुल नम्र बनकर अपना मत प्रकट करते थे; अुनका यह मत धर्मज्ञान और परिस्थितियोंके संपूर्ण ज्ञानके अनुरूप होता था। यह मत निःसंदेह दुर्योधनके विरुद्ध जाता था; परन्तु युद्धके समय भीष्म संपूर्ण निष्ठासे लड़ते थे। भीष्मके समान महापुरुषकी भी यह कर्तव्य-निष्ठा और राजनिष्ठा कर्ण जैसे हलके दरजेके आदमीकी समझमें कैसे आती? अुसे तो केवल अुसी अेकनिष्ठाका भान था, जिसकी धुन राजाके अनुयायियोंमें होती है। अिस कारणसे अुसने भीष्माचार्यके साथ हमेशा अन्याय किया और दुर्योधनका मन अुनके बारेमें अत्यन्त कलुषित कर दिया। भीष्म दिल खोलकर लड़ते नहीं, अुनके मनमें पांडवोंके प्रति पक्षपात है अिसलिअे वे संपूर्ण शक्ति लगाकर युद्धमें जूझते नहीं—अैसा दुर्योधनको जो लगा करता था अुसका कारण कर्ण ही था। अपने दस दिनके युद्धके अंतमें भीष्म पितामहको दुर्योधनके मुखसे जो मर्मभेदी वचन सुनने और सहने पड़े तथा जिनके कारण अिस वीर पुरुषकी आंखोंमें आंसू आ गये थे, अुनके मूलमें भी कर्ण ही था। स्व-पर-बलका यथार्थ अनुमान न होना और गुस्सेसे जलकर रूठ जाना यदि युद्धकलाकी दृष्टिसे महादोष हो, तो भीष्माचार्यने कर्णको जो अर्ध-रथी कहा वह सर्वथा अुचित ही था।

किसी योद्धाका रथी होना केवल शौर्य पर आधार नहीं रखता। यह सच है कि 'युद्धे अपलायनम्' प्रत्येक क्षत्रियका धर्म होना चाहिये, परन्तु कुशल योद्धाको अवसरके अनुसार काम करना पड़ता है और भविष्यकी नीतिको सामने रखकर युद्धमें पीठ भी दिखानी पड़ती है। धर्मराजने कअी बार पीठ दिखाअी थी। दुर्योधनने भी पीठ दिखाअी थी। तब यदि कर्ण दिखाये तो आश्चर्यकी बात

नहीं। परन्तु निष्प्रभ होकर, हतबल होकर पीठ दिखाना अेक बात है; और शत्रुके बलको आजमा कर अिस समय हम शत्रुके सामने टिक नहीं सकेंगे अैसा अनुमान लगाकर मौकेको टाल देना दूसरी बात है। यह भेद जो नहीं समझता और आंखों पर पट्टी बांधकर, अंधा बनकर मृत्युको स्वीकार करता है, अुसे विरक्त कहा जा सकता है, शायद अुसे मृत्यु-परायण भी माना जा सकता है; परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि अुसने क्षात्रधर्मका परम अुत्कर्ष प्रकट किया है।

भीष्मने कर्णको मत्सर या द्वेषसे अर्ध-रथी नहीं कहा था, बल्कि यह समझ कर कहा था कि अिस तरह कर्णका पानी अुतारनेसे ही अुसके हृदयमें बसा हुआ घमंड अुतरेगा; अिसके पीछे भीष्मका अेक हेतु अुस गलत अनुमानको भी सुधारना था, जो दुर्योधनने युद्धका निश्चय करते समय लगा लिया था। 'भीष्म जब तक जीवित हैं तब तक मैं युद्धमें भाग नहीं लूंगा' अैसी घोषणा करके कर्णने क्षात्रधर्म तथा मित्रनिष्ठा दोनोंको मिटा दिया और युद्धमें भीष्म विजयी न होकर मृत्युको प्राप्त करेंगे अिस विचारको मजबूत करके प्रारंभसे ही अप-शकुनका वातावरण अुत्पन्न कर दिया था। अिस अवसर पर मित्रनिष्ठ, दान-प्रतिज्ञ तथा युद्ध-दुर्दम तनुत्यागी कर्णने यही सिद्ध कर दिखाया कि वह सब कुछ होते हुअे भी अंतमें अंहप्रेमी ही था।

कर्णका बल, अुसकी मित्रनिष्ठा, जन्मके विषयमें अुसके साथ हुआ अन्याय, रणमें अुसे प्राप्त हुआ वीरोचित मरण और अुस समय भी अुसके साथ हुआ अन्याय — अिन सब बातोंके कारण कर्णके बारेमें जनताके मनमें स्वाभाविक सहानुभूति, कौतुक और पक्षपात है। अिस पक्षपातके कारण कर्णके दोषोंकी ओर लोगोंका ध्यान नहीं जाता। कर्णके साथ अुदार न्याय करते समय कृष्ण, अर्जुन आदि पांडव-पक्षियोंके साथ अन्याय न हो और भीष्माचार्यका मन कर्णके विषयमें कुछ कलुषित हो जानेका पूर्वाग्रह न बन जाय, अिसी खयालसे अितना विवेचन करना मुझे जरूरी लगा है।

अेक तरहसे देखा जाय तो भीष्म और कर्ण दोनों ही यह जानते थे कि अुनका पक्ष असत्यका पक्ष है और बल-कौशलमें भी वह पंगु है; फिर भी दोनों केवल कर्तव्य-निष्ठासे, अपनी आर्यवृत्तिके प्रति वफादार रहते हुअे फलके बारेमें संपूर्ण अुदासीनता रखकर, युद्धमें लड़े थे। भारतवर्ष पर राज्य करनेका अधिकार जैसे भीष्मका था वैसे ही कर्णका भी था। भीष्मने सौतेली मांके वंशके लिअे अथवा अुसके संतोषके लिअे और कर्णने अपनी माताकी अुपेक्षाके कारण राज-गद्दीके अपने अधिकारका त्याग किया था। भीष्मकी भ्रातृनिष्ठा तथा कर्णकी मित्रनिष्ठा और पक्षनिष्ठा आर्य-संस्कृतिकी बहुत बड़ी संपत्ति है।

कर्ण और भीष्म अेक-दूसरेसे अीर्ष्या करते थे, अैसा लगना स्वाभाविक है। फिर भी महापुरुष अेक-दूसरेकी महत्ताको पहचाने बिना नहीं रहते, यही

बात जगतको दिखानेके लिअे भीष्मके रणभूमि पर गिरनेके बाद और दोनों पक्षों द्वारा शोकके कारण युद्ध स्थगित कर दिये जानेके बाद महाभारतकार दुःखसे नम्र बने हुअे मानसवाले कर्णको भीष्मके पास ले गये हैं। वह प्रसंग सचमुच अुदात्त और करुण है। यह बूढ़ा पक्षपाती है, यह हम सबका बुरा चाहता है — अिस तरह भीष्मके खिलाफ सदा दुर्योधनके कान भरनेवाला कर्ण आंसुओंसे रुंधी आवाजमें जब भीष्मसे प्रार्थना करता है कि 'मैं कर्ण आपका दर्शन करने आया हूं, मेरी ओर दयादृष्टिसे देखकर मुझसे दो शब्द बोलिये', तब लगता है कि भीषण कलियुगका बीजारोपण करनेवाला काल पूरा हो गया है और अुसके स्थान पर प्रेमधर्मका सिंचन करनेवाला तथा सत्ययुगका शुभ स्मरण करानेवाला काल आ गया है। राजनीतिज्ञ लोग मौका आने पर हृदयकी कोमलता दिखाते हैं, अपने स्वार्थकी रक्षा करते हुअे अुदारता, आर्यता और अन्तर्मुखता भी दिखाते हैं; परन्तु अिस अवसर पर अैसी दंभपूर्ण संस्कारिताका हमें जरा भी भास नहीं होता। 'आदौ नम्राः पुनर्नम्राः कार्यकाले च निष्ठुराः कार्यं कृत्वा पुनर्नम्राः' अैसा बीभत्स राजनीतिज्ञ न तो कर्ण था और न भीष्म थे। 'कणिक नीति' में कहे अनुसार कार्य हो जानेके बाद आंखोंकी पलकें गीली करके दिखानेकी धूर्तता भी अिस मिलनमें नहीं थी। यहां अेक आर्य पुरुष दूसरे आर्योत्तम तथा अर्हत-पदको पहुंचे हुअे पुरुषको प्रणामांजलि अर्पण करने आया था। भीष्मने गद्गद अंतःकरणसे कर्णको अपने पास बैठाकर बताया कि अुसके लिअे अुनके मनमें कितना आदर है और यह भी बताया कि हमेशा अुसका (कर्णका) तेजोवध करनेमें अुनका क्या अुद्देश्य था। भीष्मने जन्मभर जिस शांतिके लिअे जी-तोड़ परिश्रम किया, अुस शांतिकी स्थापनाके लिअे अुन्होंने कर्णसे शुद्ध मनसे याचना की। कर्णने भी अुतने ही खुले मनसे अैसा क्यों संभव नहीं है अिसके अपने कारण भीष्मको बताये और अपने निश्चयके लिअे अुनके आशीर्वाद मांगे। अुदार भीष्मने कर्णको अपने आशीर्वाद दिये और अुसे अुत्साह दिलाकर अनासक्त भावसे युद्ध करने तथा कौरवोंका नेतृत्व ग्रहण करनेकी सलाह दी। हिमालय जैसा अुत्तुंग आर्यत्व तथा महासागर जैसा गंभीर कारुण्य व्यक्त करना अन्य किस अवसर पर संभव होता? युद्धके वर्णनोंकी तरह अिस प्रसंगके वर्णनको भी विस्तृत रूप न देकर महाभारतकारने अवसरकी पवित्रता तथा संयमका औचित्य दोनोंकी रक्षा की है। भारतवर्ष जैसे समृद्ध, भव्य और सौंदर्य-विपुल देशकी ही अुपमा जिसे शोभा दे अुस महाभारतमें भी अिस प्रकारके देव-दुर्लभ प्रसंग कितने होंगे?

१९३३

९

भगवद्गीता

कुरुक्षेत्रकी रणभूमि पर दोनों पक्षोंके सैन्य लड़नेके लिअे सज्ज खड़े हैं। युधिष्ठिरने दोनों सैन्योंके बीच खड़े रहकर स्वयं यह घोषणा की है कि किसीको अभी भी न्यायके लिअे अपना पक्ष छोड़कर विरोधी पक्षमें जाना हो तो वह जा सकता है। अैसे अवसर पर पांडव-पक्षके वीर अर्जुनको शंका हुअी कि हमारा लड़ना अुचित है या नहीं? लड़नेमें पुण्य है या पाप? सगे-संबंधियोंको मारकर राज्य करना अुचित है अथवा राज्यका त्याग करके संन्यास लेना अुचित है? श्रीकृष्ण स्वयं अर्जुनके सारथिके रूपमें रथमें बैठे थे। अर्जुन अुनकी शरणमें गया। कितना विचित्र, कितना नाजुक और फिर भी कितना स्वाभाविक प्रसंग! जिसके अूपर सारी लड़ाअीका आधार हो वही योद्धा यदि अंतिम क्षणमें अिस तरह शस्त्र फेंककर 'मैं नहीं लडूंगा' कहते हुअे खड़ा हो जाय, तो क्या हो? अुत्साहके चार शब्दोंसे अर्जुनको जोश चढ़नेवाला नहीं था। अिसलिअे श्रीकृष्णने अर्जुनको धर्मका रहस्य समझा कर यह बताया कि अुसे क्या करना चाहिये। श्रीकृष्ण और अर्जुनके बीच हुअे अिस संवादका महाभारतमें अठारह अध्यायोंमें वर्णन किया गया है। अुनमें कुल सात सौ श्लोक हैं। अुसके भीतर हिन्दू धर्मके सारे ही तत्त्वोंका समावेश भलीभांति हो जाता है। अुसे पढ़ कर मनुष्यको अुत्तम रूपमें अिस बातका ज्ञान हो जाता है कि अुसे अिस संसारमें कैसे व्यवहार करना चाहिये। भगवद्गीता सारे हिन्दुओंका महान धर्मग्रन्थ बन गअी है। सभी पंथोंके लोग भगवद्गीताके प्रति आदर रखते हैं। गीताजीका अनुवाद संसारकी सभी भाषाओंमें हुआ है और प्रत्येक देशके लोग गीताजीकी प्रशंसा करते हैं। भारतमें तो भगवद्गीताका अर्थ समझानेके लिअे अितने ग्रंथ लिखे गये हैं कि अुन सबको अेकत्र किया जाय तो कअी अलमारियां भर जायें।

राष्ट्रके जीवन पर जिसका बड़ेसे बड़ा प्रभाव पड़ा हो, फिर वह कोअी राष्ट्रीय पुरुष हो, राष्ट्रीय घटना हो अथवा राष्ट्रीय ग्रंथ हो, अुसका अुल्लेख अितिहासको करना ही चाहिये। महाभारत-रूपी विशाल महासागरमें भगवद्गीता अेक अैसा रत्न है, जिसका प्रभाव केवल हिन्दू समाज पर ही नहीं परन्तु भारतके साथ जिस जिस प्रजाका संबंध स्थापित हुआ है अुस अुस प्रजा पर पड़ता आया है और आगे भी सदा पड़ता रहेगा। यह ग्रंथ अभी तक भी वृद्ध नहीं हुआ है।

मनुष्यका कर्तव्य क्या है, धर्म-संकटमें मनुष्यको कौनसा मार्ग लेना चाहिये, क्या करनेसे मनुष्य कर्म करते हुअे भी अुससे अलग रह सकता है, अिसकी चर्चा गीतामें की गअी है। अिसमें व्यक्ति तथा समाजके जीवन-रहस्यकी चर्चा आध्यात्मिक दृष्टिसे की गअी है।

भगवद्गीताको हमारे शास्त्रोंमें अुपनिषदोंका श्रीकृष्ण द्वारा दुहा हुआ दूध कहा गया है। श्रीकृष्णने ज्ञान, कर्म, भक्ति, सांख्य, योग आदि सारे मार्गोंके मूल तत्त्वोंकी व्यावहारिक चर्चा करके अर्जुनको यह बताया है कि अुसके जैसे क्षत्रियका कर्तव्य क्या है। अर्जुनको प्रतीति करानेके लिअे श्रीकृष्णने अपना काल-स्वरूप अथवा विश्वरूप अर्जुनके सामने प्रकट किया। अिस विश्वरूपका अर्थ है भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंकी अेकत्र की हुअी अितिहास-मूर्ति। जिसे हम भावी या अदृष्ट कहते हैं वह अीश्वरकी दृष्टिसे वर्तमान और ज्ञात है, अैसा श्रीकृष्णने अर्जुनको दिखा दिया और फिर भी 'तेरी अिच्छा हो वैसा कर' यह कहकर अर्जुनको अुसके स्वातंत्र्यका भान भी अुन्होंने करा दिया।

परन्तु श्रीकृष्ण अर्जुनको युद्धके लिअे प्रेरित कर सके, अिससे हमें क्या लाभ हुआ? वेदव्यासने कृष्णार्जुनका दिव्य संवाद जगतके सामने अितिहासके रूपमें नहीं रखा है; अुन्होंने अिस संवादके द्वारा यह धर्म-रहस्य प्रकट किया है कि प्रत्येक मनुष्यके हृदयमें वासना-रूपी प्रबल शत्रुके विरुद्ध ('कामरूपं दुरासदम्') जो सनातन युद्ध चलता है, अुसमें मनुष्यको निरहंकार बनकर कैसे लड़ना चाहिये ('युद्धस्व विगतज्वरः')। अतः हृदयमें अथवा समाजमें जो दुर्वृत्तियां हों अुनके विरुद्ध लड़नेवाले प्रत्येक योद्धाके लिअे भगवद्गीता गुरु-अुपदेश सिद्ध हुअी है।

१९२३

१०

प्रस्थानत्रयी किसलिअे ?

अिस दुनियावी जीवनकी झंझटसे बचकर जो व्यक्ति मोक्षकी तरफ प्रयाण करता है, अुसकी यात्राका पाथेय क्या है ? हमारे पूर्वजोंके अनुसार (१) दस अुपनिषद्, (२) ब्रह्मसूत्र और (३) भगवद्गीता ये तीन ग्रंथ मोक्षयात्राके पर्याप्त पाथेय हैं। और अिसलिअे अिन तीन ग्रंथोंको प्रस्थानत्रयी कहा जाता है। 'प्रस्थान' का अर्थ है घर छोड़कर मोक्षकी तरफ प्रयाण करनेकी क्रिया। अुसके लिअे यह अुपयुक्त और अुत्तम पाथेय है।

अब ये ही तीन ग्रंथ क्यों चुने गये ? और अिन्हींका अधिकार किस लिअे माना गया ?

भौतिक क्षेत्र तथा आध्यात्मिक क्षेत्रमें अनुभव अर्थात् साक्षात्कार ही अन्तिम प्रमाण हो सकता है। अुसीका अधिकार माना जाता है।

वेदकालमें जिन अृषियोंने अपना जीवन धर्मको समर्पित किया और धर्मका ही ध्यान किया, अुन अृषियोंने अपने अनुभव, विचार और कल्पनायें **वेदके अन्तमें** ब्राह्मण-ग्रंथोंमें और अुपनिषदोंमें लिखकर रखी हैं। यह सारा धर्मानुभव वेदके अन्तिम भागमें लिखा गया है, अिसलिअे अिसे वेदान्त कहते हैं।

अब हरअेक प्रामाणिक और प्रयत्नशील मनुष्यको जो अनुभव होता है, वह सर्वत्र अेकरूप ही होना चाहिये। कल्पनामें फर्क हो सकता है, तर्क आड़े-टेढ़े रास्तेसे जा सकता है; लेकिन अनुभव तो अेकरूप ही हो सकता है। अनुभव अगर अेकांगी हो तो भी अनुभवके दूसरे अंगोंके साथ अुसका मेल बैठना ही चाहिये। अिसलिअे दस अुपनिषदोंमें जो अनुभव लिखे गये हैं और संगृहीत किये गये हैं अुनमें यदि अेकवाक्यता न हो, तो हमें मान लेना चाहिये कि हम अुन वचनोंका अर्थ ठीक ठीक समझ नहीं पाये हैं। जो कोअी अिन वचनोंमें सामंजस्य स्थापित कर सके, अुसकी बात विचारने योग्य मानी जायगी।

विभिन्न देशोंमें प्रचलित भिन्न-भिन्न कानूनोंका अध्ययन करके अुनमें पाये जानेवाले मूलभूत तत्त्वोंको चुन कर जिस प्रकार हम अुनका अेक धाराशास्त्र (Jurisprudence) बना लेते हैं, अुसी प्रकार धर्मानुभवके विश्व-वचनों परसे परब्रह्मका स्वरूप और अुसे प्राप्त करनेकी साधना निश्चित कर देनेवाले ब्रह्मसूत्रोंकी रचना बादरायण कृष्ण-द्वैपायनने की है। अगर हम दशोपनिषद्को 'raw material of Religious Experience' (धार्मिक अनुभवका कच्चा माल) कह सकें, तो ब्रह्मसूत्रोंको 'the organised essence of Spiritual

Knowledge' (आध्यात्मिक ज्ञानका सुव्यवस्थित सत्त्व) कह सकते हैं। अिस 'science of metaphysics' (अध्यात्म-शास्त्र) की सहायतासे अुपनिषदोंका रहस्य समझनेमें सुगमता होती है। 'Science is organised knowledge' — शास्त्र सुव्यवस्थित ज्ञान है। अुपनिषदोंमें जो आध्यात्मिक ज्ञान बिखरा हुआ है, वह ब्रह्मसूत्रोंमें सुव्यवस्थित हुआ है। केवल जाननेसे विज्ञानके प्रयोजनकी पूर्ति हो जाती है।

लेकिन मनुष्य केवल जाननेसे तृप्त नहीं होता। जैसा अुसने जाना है वैसा जब वह जीने लगता है — या जीना जानने लगता है — तभी अुसे संतोष होता है। अिसलिअे हरअेक विज्ञानके साथ अुसके 'application' (विनियोग) की कलाका अर्थात् जीवन-कलाका जब विकास होता है, तभी ज्ञान और अुसका शास्त्र कृतार्थ माना जा सकता है। यह जीवन-कला भगवान श्रीकृष्णने अेक अद्‌भुत अवसर पर योगयुक्त होकर अर्जुनके लिअे प्रस्तुत कर दी। अिसीलिअे कहा जाता है कि अुपनिषद् गायें हैं और गीता अुन गायोंका दुग्धामृत है। गीताके प्रत्येक अध्यायके अन्तमें हम कहते हैं: 'अुपनिषदोंमें जो ब्रह्मविद्या है अुसके अनुसार योगशास्त्रका निर्माण करके भगवानने जिसका गायन किया वह भगवद्-गीता है।' ('विद्' का अर्थ है सीखना, जिस परसे विज्ञान (Science) के लिअे 'विद्या' शब्द बना है। और 'शास्' का अर्थ है नियंत्रण करना, राह दिखलाना; अिस परसे 'शास्त्र' अर्थात् 'code of Conduct' — चाल-चलनके नियम — अथवा 'art of Life' — जीवनकी कला — ये दो शब्द सिद्ध हुअे हैं।)

अुपनिषदोंमें से पहले ब्रह्मविद्या निकली, तदुपरान्त योगशास्त्र निकला; और अुसीका भगवानने गायन किया, अिसलिअे अुसे भगवद्‌गीता कहते हैं।

अिस रीतिसे धर्मानुभवोंका लेखन करनेवाले (१) दस प्रधान अुपनिषद्, (२) अुनको बिलोकर निकाली हुअी ब्रह्मविद्या और (३) अिन दोनोंकी दृष्टिकी रक्षा करके रचा हुआ योगशास्त्र अर्थात् जीवन-कला — अिन तीनोंका जो कोअी मेल बैठा सके, तीनोंकी अेकवाक्यता सिद्ध कर सके, अुसीने जीवनका रहस्य पाया है और वही आचार्य माना जा सकता है, अैसी प्राचीन मर्यादा है। जो जीवन-व्यवस्था अिन तीनोंका सामंजस्य कर दे अर्थात् जो जीवन-व्यवस्था अिस प्रस्थानत्रयीके साथ बिलकुल ठीक मेल खाती है वह धर्मानुभवके अनुकूल है, अैसा हमारे पूर्वजोंका मंतव्य है। जो मनुष्य अिस प्रकारकी नअी जीवन-व्यवस्था समाजके सम्मुख अुपस्थित करता है, अुसका मार्गदर्शन स्वीकारनेके लिअे समाज तैयार हो जाता है। लेकिन अैसा मनुष्य अगर केवल बौद्धिक कसरत करके दिखाये, तो अितनेसे अुसे आचार्यत्व प्राप्त नहीं होता। अुसे अिसके अनुसार जीकर, अपने आचरण द्वारा अपनी पारमार्थिकता (earnestness) सिद्ध करनी चाहिये। आचार्यका यह आदर्श है:

आचिनोति हि शास्त्रार्थम् आचारे स्थापयत्युत।
स्वयमाचरते यस्तु स आचार्यः प्रचक्षते ।।

तमाम शास्त्रोंमें से जो अुनका रहस्य बीन-बीन कर निकालता है (आचिनोति हि शास्त्रार्थम्) और जो अुस रहस्यको जीवनमें अनुस्यूत करनेकी या बोनेकी प्रक्रिया सिखाता है (आचारे स्थापयति अुत) और अिससे भी महत्त्वकी तथा दुष्कर बात तो यह कि जो अुसके अनुसार आचरण करता है यानी जीवन जीकर दिखाता है (स्वयं आचरते यस्तु), वही आचार्य कहला सकता है। प्रस्थान-त्रयीकी अेकवाक्यता जो तर्कसे, जीवन-व्यवस्थासे और अपने आचरणसे सिद्ध करता है, अुसीको हम आचार्य या धर्मविद लोक-नायककी हैसियतसे स्वीकार कर सकते हैं।

अैसे आचार्य आज तक अधिक नहीं तो पांच-दस अवश्य हुअे हैं। शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य, निम्बार्क आदि प्राचीन आचार्य और श्री दयानन्द सरस्वती, श्री अरविंद, महात्मा गांधी आदि आधुनिक आचार्य अिस देशका पथ-प्रदर्शन करते आये हैं।

अब सवाल यह है कि अगर अिन सबका प्रतिपादन मूल धर्मानुभवसे सुसंगत है, तो अिनकी जुदी जुदी दृष्टियोंमें भी कुछ-न-कुछ अेकता मिलनी ही चाहिये। हम अिन्हें आपसमें लड़ाकर अन्तमें जो जीते अुसीको प्रमाण माननेकी सोचें, तो जीवन-द्रोही ठहरेंगे। ये सारे आचार्य अपनी बुद्धि और श्रद्धाके अनुरूप हमें सम्पूर्ण जीवन-व्यवस्था देते हैं। अितना ही नहीं, स्वयं अुसके अनुसार आचरण करके जब अुन्होंने सफलतापूर्वक लोक-नेतृत्व किया है, तब अुन सबकी दृष्टिमें भी कहीं तो मेल होना ही चाहिये।

सारांश, अिन सब आचार्योंमें जो कोअी समन्वय करके दिखायेगा, वह सचमुच आचार्योंका आचार्य माना जा सकता है। अिस समय अैसी विभूतिकी संसारको आवश्यकता है।

अिसके लिअे जैनोंका सप्तभंगी स्याद्वाद काममें आना ही चाहिये।

२९-१-'४१

११

अुपनिषदोंकी शिक्षा

[अेक पत्रसे]

आपका पत्र मिला।

बीचमें मेरी तबीयत खूब अच्छी मालूम होती थी। अुन दिनों मैंने पढ़नेका आनंद लिया। चौमासेकी वनश्री देखनेके लिअे मैं थोड़ा घूमता भी था। महाराष्ट्रकी भूमिकी कोअी अनोखी शोभा है। अूंची-नीची जमीन, जहां देखो वहां छोटी-बड़ी पहाड़ियां। अिसलिअे चलनेमें या देखनेमें नया नया आनंद मिलता है। गुजरातमें यह आनंद नहीं मिलता। बिस्तर पर लेटा लेटा भी मैं यहांसे सिंहगढ़ देख सकता हूं। और मेघोंकी प्रतिभा तो प्रतिक्षण नया नया रूप धारण करती है। हरीभरी धरती और नीला आकाश दोनों मिलकर रंगोंके सभी मिश्रण और प्रकार सिद्ध कर दिखाते हैं। हरी घास खाकर मस्त बने हुअे बछड़े पूंछ अूंची करके चारों ओर कूदते फिरते हैं और पोपट, मैना और पंडुक पक्षी नये नये गीत खोजते हैं। अैसी वनशोभाके बीच भद्दी मोटर-बसों और भेड़ियोंके झुंडों जैसी ट्रेनोंकी अभद्रता भी दब जाती है और दोनों सर्वत्र फैले हुअे काव्यमें वृद्धि ही करती हैं।

अैसे अनुकूल वातावरणमें अुपनिषद् पढ़नेमें कितना आनंद आता होगा, अिसकी कल्पना आप कर सकते हैं। लगभग सारे ही अुपनिषद् मैं बार-बार पढ़ गया हूं। प्रतिक्षण अुनमें से मुझे नअी दृष्टि प्राप्त होती है। आजसे पन्द्रह वर्ष पूर्व मैंने अुपनिषद् पढ़े थे, परन्तु भाष्यकी सहायतासे।

यह सच है कि भाष्यकारोंने हम पर अनेक अुपकार किये हैं, किन्तु अुपनिषद् अैसे ग्रंथ हैं कि भाष्यके साथ पढ़नेसे अुनका मूल स्वाद नहीं मिलता। भाष्यकारोंमें यह दोष होता है — आप चाहें तो अिसे अुनकी मर्यादा कह लीजिये — कि वे अुपनिषदोंमें से अेक विशेष तर्कसिद्ध और समन्वित वस्तु निकालनेका प्रयत्न करते हैं। अुपनिषद् अिस तरह पढ़नेके लिअे हैं ही नहीं। अुपनिषद् तो ज्ञानवीर परमहंसोंके 'inspired' अुद्गार हैं। अुपनिषद्-कार अृषियोंने यह सोचा ही नहीं होगा कि हमारे वचनोंमें परस्पर विरोध है या नहीं, अुनसे कोअी सुव्यवस्थित सुपरिष्कृत तत्त्वज्ञान (फिलॉसफी) निष्कर्षके रूपमें निकलता है या नहीं। अुनके विचारों तथा कल्पनाओंमें शुद्ध कौमार्य है। अुनके भाषाप्रवाहके साथ अेक बार हमारा परिचय हो जानेके बाद तो जिस तरह हम

गायका धारोष्ण दूध पी जाते हैं, अुसी तरह हमें अुपनिषदोंके अमृतकी धारायें पीनेका आनंद अनुभव होना चाहिये।

अुपनिषदोंकी कुछ दलीलें हमारे गले नहीं अुतरतीं। कुछ बातें पढ़कर तो हम हंसे बिना नहीं रह सकते। सत्यकी शोधमें अुपनिषदोंके अृषि कैसे अनेक दिशाओंमें दौड़ते हैं, यह देखकर हमारे मनमें अुनके लिअे प्रेम अुमड़ता है। विचारकी अेक भी दिशाकी खोज अुन्होंने बाकी नहीं रखी है। परन्तु सदियों तक की गअी अिस खोजके अंतमें जब हम अुन्हें अध्यात्म-ज्ञानके धवलगिरिके सर्वोच्च शिखर पर बैठे हुअे देखते हैं और 'अभयं वै ब्रह्म' की अुनकी गंभीर गर्जना सुनते हैं, तब भक्तिभावसे हमारा मस्तक नत हो जाता है और साष्टांग प्रणिपात करके 'त्वं हि नः पिता योऽस्माकं अविद्याः परंपारं तारयसि। नमः परमअृषिभ्यः नमः परमअृषिभ्यः।' जैसी औपनिषदी नति (नमस्कृति) हमारे मुखसे निकल पड़ती है।

आज हमारे समाजमें अुपनिषदोंको दूरसे ही नमस्कार करनेकी वृत्ति दिखाअी पड़ती है। अुपनिषदोंका अध्ययन बहुत कम होता है। और जो होता भी है वह वयोवृद्ध लोगोंमें भाष्योंकी सहायतासे तथा पंचीकरणके प्रपंचके बाद होता है। हमारे युवक जब सीधे अुपनिषदोंके पास जायंगे तभी अुनकी दृष्टि खुलेगी तथा विचार और जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें नये नये अनुभव प्राप्त करनेकी शक्ति अुनमें बढ़ेगी। अुपनिषदोंके वचन तो बिजलीकी कौंध जैसे हैं। अुनका संपूर्ण अर्थ अभी तक किसीने किया नहीं है। पांच-पचास हजार वर्ष तक नये नये ढंगसे प्रयत्न किये जायें, तो भी अुनमें से जाननेको कुछ न कुछ बाकी ही रह जायगा। प्रत्येक व्यक्ति अपने अनुभवकी मददसे नये ढंगसे अुपनिषदोंके पास जायगा और अनुभवसे तेज बनी हुअी बुद्धिसे नअी प्रेरणा अुपनिषदोंसे प्राप्त करेगा। अिस अेक ही वचनको हम लें: 'सन्मूलाः सोम्य अिमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः।' अिसमें संपूर्ण मानव-समाजशास्त्र समाया हुआ है।

'सर्वासां विद्यानां हृदयं अेकायनम्'—अिस वचनको पढ़नेके बाद क्या शिक्षाकी संपूर्ण दिशाको बदलनेका मन नहीं होगा?

'हृदयेन हि रूपाणि जानाति। हृदये हि अेव रूपाणि प्रतिष्ठितानि भवन्ति।' याज्ञवल्क्यके अिस निरूपणको पढ़नेवाला व्यक्ति कला और आनंद-मीमांसाको नअी दृष्टिसे ही समझेगा। और थोड़ा आगे जाकर जब अध्यात्म-विद्याका वही हिमालय कहता है: 'हृदयेन हि सत्यं जानाति। हृदये हि अेव सत्यं प्रतिष्ठितं भवति।' तब तो हमें अैसा लगे बिना नहीं रहता कि समग्र तत्त्वज्ञानकी नींव ही बदलनेकी आवश्यकता है।

मैं तो आपको अितना ही लिखना चाहता था कि अुपनिषदोंका स्वतंत्र अभ्यास करनेकी जरूरत है। अंधश्रद्धासे नहीं परन्तु स्वतंत्र बुद्धिसे और आदरकी

वृत्तिसे। काव्यके क्षेत्रमें गत पचास वर्षोंमें हमने अपने बालकोंका खूब मार्गदर्शन किया है। अब अुपनिषदोंके अिस भव्य काव्यमें अुनका मार्गदर्शन करनेकी जरूरत है। तभी संस्कारी शिक्षण सार्थक होगा। जानकारी चाहे जितनी दिमागमें भरें, लेकिन अुतना ही करनेसे क्या लाभ होगा? हृदय-परिवर्तन होना चाहिये। और हृदय-परिवर्तन करनेकी शक्ति तो अिन अुपनिषदोंके ऋषियोंमें ही है।

अक्तूबर, १९२६

१२

नये जीवन-दर्शन

[अेक पुरानी टिप्पणी]

हमारे विद्वान धार्मिकोंने यह बात निश्चित कर दी है कि जो मनुष्य प्रस्थानत्रयीकी अेकवाक्यता सिद्ध कर दिखाये वह आचार्य है। प्रस्थानत्रयीका अर्थ क्या? अुपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता। अुपनिषदोंमें हमारे ऋषियोंके मौलिक अनुभव और मौलिक विचार हैं। ब्रह्मसूत्रोंमें अुपनिषदोंके वचनोंसे निथरा हुआ दार्शनिक शास्त्र है। और गीता अिन्हीं अुपनिषदोंसे तैयार किया हुआ दिव्य रसायन है। गीता अुपनिषदोंका अत्यन्त व्यापक किन्तु संक्षिप्त जीवन-भाष्य है।

अिसलिअे मूल वस्तु तो अुपनिषदोंमें संगृहीत प्राणवान तथा प्रामाणिक अनुभवात्मक विचार ही हैं। जो मनुष्य अिन सबकी अेकवाक्यता सिद्ध कर सके अर्थात् अिन अुद्गारोंमें से अेकरूप तथा अखंड जीवन-रहस्य निचोड़ सके, वही आचार्य है, वही जीवन-स्वामी है।

जीवनके संपूर्ण तत्त्वोंकी मीमांसा जिसमें की गअी हो, अेक सार्वभौम तत्त्वकी कुंजीसे प्रत्येक प्रश्नका हल जिसमें बताया गया हो, जो बुद्धिका समाधान करे, हृदयको संतोष दे, कर्मको प्रेरित करे और बुद्धि-हृदय-कर्म तीनोंका समन्वय करके पुरुषार्थके अंतमें विजयी शांति प्राप्त कराये वह दर्शन है। अैसे दर्शनका द्रष्टा ऋषि है; और अुसका व्यास (organiser) आचार्य है।

आजके युगमें जीवनके सभी मुख्य प्रश्नोंका हल निकालनेवाले कुछ दर्शन प्रचलित हैं। संपत्तिशास्त्र अैसा अेक दर्शन है। वह मानता है और कहता है कि संपत्तिके प्रयोगसे हर बातमें सफलता प्राप्त की जा सकती है। यह दर्शन कहता है कि जो बात संपत्तिके क्षेत्रमें नहीं आती, वह अुपेक्षाके लायक है। अिस अुपेक्षा-की सलाहके कारण यह दर्शन अधूरा या पंगु नहीं माना जा सकता। वेदांत भी तो जगत और मायाकी अुपेक्षा ही सूचित करता है न!

चिकित्साशास्त्र भी अेक दर्शन है। वह कहता है कि आत्मरक्षा अर्थात् शरीर तथा प्राणोंकी रक्षा मनुष्यका परम धर्म है। सभी प्रकारके कामोपभोग भोगनेकी शक्ति बढ़ा कर अधिकसे अधिक जीना जीवनका परम पुरुषार्थ है।

राज्यसत्ता भी अेक दर्शन है। सैन्यबल और कानून-बल अुसका द्विविध साधन है। अुसका विश्वास है कि दुनियाके सारे दुःखोंकी दवा सत्ताके योग्य अुपयोग द्वारा हो सकती है। यदि कोअी सामाजिक आपत्ति दूर करनी हो या सामाजिक अभिलाषा पूरी करनी हो, तो समझदारी भरे कानून बनाने तथा अुन कानूनोंका व्यवस्थित अमल करनेकी शक्ति बढ़ानेसे अैसा किया जा सकता है।

विश्वव्यापी व्यापार तथा वस्तु-विनिमय भी दर्शनकी कोटिमें पहुंचनेकी आकांक्षा रखता है। भूख जीवनका मुख्य प्रेरक तत्त्व है। जहां भूख मालूम हो वहां अुसे तृप्त करो, कि जीवनका मुख्य कार्य पूरा हुआ।

संसारका प्रत्येक धर्म तो जीवनके प्रत्येक प्रश्नका निराकरण करनेके लिअे ही अुत्पन्न हुआ है। प्रत्येक धर्मको लगता है कि जीवनका रहस्य मैंने ही अच्छी तरह जाना है। लोग मेरा सेवन करेंगे तो अुन्हें सुख अवश्य मिलेगा; अथवा जो कुछ अुन्हें मिलेगा वही सच्चा सुख होगा।

आजकल कला भी संपूर्ण दर्शन होनेका दावा करती है। दुःखकी बात अितनी ही है कि कला स्वयं अपना स्वरूप नहीं जानती। कलाने हर बातको सरल, आह्लादक और अनुकूल बनानेका बीड़ा अुठाया है। जो प्रश्न धर्मको कठिनसे कठिन लगे हैं अुन्हें भी अत्यन्त सरल और सुसाध्य बना सकनेका जादू मेरे पास है, यह कलाका अेक बड़ा दावा है।

प्रत्येक दर्शन स्वयंभू सम्राट्के जैसा होता है। प्रत्येक दर्शनकी यह वृत्ति होती है कि वह अपनी शक्तिसे सब-कुछ कर सकता है, अुसे दूसरे किसीकी मददकी जरूरत नहीं, वह असहाय नहीं है; किसीकी मदद भी यदि वह लेता है तो अुदारता दिखाने या अुसे प्रोत्साहन देनेके लिअे ही। अिस वृत्तिके बिना अुसमें दर्शनत्व कैसे आ सकता है? यहूदी लोगोंके परमेश्वरकी तरह प्रत्येक दर्शन द्वितीयाक्षम — लोभी अीश्वर ही होता है।

कुछ लोग प्रत्येक दर्शनसे थोड़ा थोड़ा अच्छा तत्त्व अेकत्र करके अच्छाअीकी संपूर्ण सामग्री तैयार करना चाहते हैं। लेकिन दर्शनका स्वभाव ही कुछ अैसा है कि वह दूसरे दर्शनके साथ मिल ही नहीं सकता। जैसे तेल और पानी अेकसाथ नहीं मिल सकते, शक्कर और नमक अेकसाथ नहीं मिल सकते, वैसे ही दो दर्शन अेकसाथ मिलकर नहीं चल सकते। यह भय रहता है कि दर्शनोंकी खिचड़ी कर देनेसे वे स्वयं भी बिगड़ेंगे और मानव-जीवनको भी बिगाड़ेंगे। परन्तु मनुष्य-जाति तो मानव-स्मृतिके आरंभसे ही प्रत्येक दर्शनसे थोड़ा थोड़ा अंश लेकर और अुन सबको मिलाकर ही अपना जीवन चलाती आअी है। अश्रद्धालु

मानव-जाति अपनी जिम्मेदारी अेक ही दर्शनके हाथमें नहीं सौंप सकती। वह सभी दर्शनोंकी अेक समिति नियुक्त करके अपना कामकाज अुसके हाथमें सौंपती है।

अैसा करनेसे मनुष्य-जातिको सुविधा तो बहुत हुअी, सुरक्षितता भी शायद मालूम हुअी हो, परन्तु यह क्रम अुन्नतिकी दृष्टिसे ठीक नहीं है। अेक अेक दर्शनके हाथमें अपना जीवन सौंप कर मनुष्य-जातिने आज तक कितने ही प्रयोग किये हैं, परन्तु अिसमें अुसे सदा पछताना पड़ा है। अिसमें दोष दर्शनोंका नहीं है, दोष तो मनुष्य-जातिकी अुतावलीका ही है। प्रत्येक दर्शनने जीवनकी व्यवस्था हाथमें लेनेसे पहले जो कौल-करार किये हैं, अुनमें अेक कड़ी शर्त अुसने यह रखी है कि हमारा प्रयोग अेकाग्रतासे बहुत लम्बे समय तक किया जाना चाहिये। धैर्यकी यह शर्त मनुष्य-जाति पाल नहीं सकी। अिस कारण अेक भी दर्शनकी पूरी परीक्षा होनेका संतोष न तो अुस दर्शनको मिला और न मनुष्य-जातिको मिला। मनुष्य-जातिको तो निकटका लाभ चाहिये और अंतमें सुन्दर फल भी चाहिये। आरंभमें, मध्यमें और अंतमें लाभदायक, सुखदायक और सरल हो, अैसा कुछ अुसे चाहिये। यह अिच्छा चाहे जितनी स्वाभाविक हो, परन्तु जीवन-धर्मके यह विरुद्ध है। धैर्य कहता है कि जिस प्रकार मध्यरात्रिके बिना सूर्योदय नहीं होता अुसी प्रकार निराशामें से निकले बिना श्रद्धा भी आशाकी सुवर्ण-किरणें नहीं दिखा सकती।

दर्शनोंके अिस महान स्वयंवरमें मनुष्य-जातिके हाथोंसे माला पहननेके लिअे अेक दर्शन-राज अुपस्थित हुआ है। अुसका नाम है **विनय** अर्थात् शिक्षण। शिक्षण अेक अद्‌भुत जड़ी-बूटी है, अलौकिक रसायन है, अमृत-संजीवनी है, कामधेनु है तथा कल्पलता है। शिक्षण आप जिसकी कल्पना कर सकें वह सब है, और अुससे अधिक भी बहुत कुछ है। सत्ययुग लानेकी शक्ति तो शिक्षणमें ही है—अैसा दावा शिक्षणके दर्शनकारोंका है। हमें अिस दर्शनके स्वरूपको, अिसकी मांगको, अिसके कलाकारोंको, अिसकी शर्तोंको और अिसकी फलश्रुतिको ध्यानसे सुनना चाहिये। संभव है कि यह अंतिम राजपुत्र ही स्वयंवरमें सफल हो। आज तक कोअी दर्शन सफल न हुआ अिसलिअे शिक्षण भी सफल नहीं होगा, अैसा अनुमान निकालनेमें अनुचित अुतावली होनेकी भी संभावना है। जब हम हर दर्शनकी बात सुनते आये हैं, तो शिक्षणकी बात भी क्यों न सुनें?

१९३१

१३

मूलभूत मनन

—And having found his instrument,
Forgets or disregards or more presumptuous still,
Denies the Power that wields it.

— William Cowper

निसर्गमें बुद्धि, हेतु और योजना नहीं है, अैसा कौन कह सकता है? जो बुद्धि मदान्ध होकर निसर्गके बारेमें अैसा संकुचित मत रखती है, वह बुद्धि भी क्या निसर्गकी ही कृति नहीं है?

सृष्टिमें असंख्य जीव पैदा होते हैं। अुन्हें पोषण मिलता है, अुनका विकास होता है और अुनका नाश होता है। और यह सब किसी मांगलिक नियमके अनुसार ही होता है, यह क्या बताता है? जहां भी देखिये वहां व्यवस्था है, योजना है, औचित्य है, अनुकूलता है, सुन्दरता है, धीरज है, विकास है। यह सब महाबुद्धिके बिना संभव ही नहीं हो सकता। वनस्पतिके जीवन और विकासकी जांच कीजिये। सूक्ष्म कीड़ोंका जीवन-धर्म खोज निकालिये। तारोंके विस्तारका और अुनके विराट् रास (नृत्यक्रीड़ा) का ध्यान कीजिये। हृदयकी गूढ़ और जटिल भावनाओंके महासागरमें अवगाहन कीजिये। ज्ञात और अज्ञात सभी अद्भुत हैं, व्यवस्थित है, हेतुपूर्ण है। पत्तोंका आकार, बादलोंकी अस्पष्ट रेखायें, हड्डियोंकी रचना, शंखोंका मरोड़, पतिंगोंके पंख, हिंसक जानवरोंकी भूख, श्वापदों (शिकारी जानवरों) का भय, दुष्टोंके षड्यंत्र और प्रत्येकको व्यापनेवाली अल्प या महानिद्रा सभी कुछ हेतुपूर्ण है। कुछ हमें पसन्द आता है, कुछ नहीं आता। कुछसे हम प्रसन्न होते हैं, कुछसे हम घबराते हैं। यह हमारा जीवन-धर्म है। हम केवल अेक अंश हैं। अंशकी मनोभावनासे संपूर्णकी रचना या योजनाका माप नहीं निकाला जा सकता, अुसकी जांच, अुसका मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। जैसे भूखके बिना खाना नहीं पच सकता, जैसे जिज्ञासाके बिना निरीक्षण नहीं हो सकता, जैसे अखंड जागृतिके बिना अुन्नति नहीं साधी जा सकती, वैसे ही नम्रताके बिना, अपनी अल्पज्ञताके भानके बिना विश्वके रहस्यकी झांकी नहीं हो सकती — अितना मानव कब समझेगा?

जहां देखिये वहां निसर्गमें कितनी सुन्दरता है, कितनी व्यवस्था, कितनी परस्पर अनुकूलता, कितनी मितव्ययिता, कितना सामंजस्य है!

तब क्या निसर्गमें अुड़ाअूपन नहीं है? है भी और नहीं भी है। यदि प्रत्येक प्रयोगमें अमुक विशिष्टता हो और प्रत्येक प्राणीका अनुभव लेनेवाला चैतन्यका केन्द्र अथवा व्यक्तित्व प्रत्येक प्रयोगमें हो, तो फिर अुड़ाअूपन कहां रहा? निसर्गमें समृद्धि है, धैर्य है और बुद्धिकी अनंतता है। जितना कुछ झड़ जाता है या सूख कर गिर जाता है, असमय विनष्ट हो जाता है, अधूरा रह जाता है अथवा दूसरोंका शिकार बन जाता है, वह सब क्या बेकार गया? नहीं, कभी नहीं। प्रत्येक वस्तु जिस प्रकार सकारण है अुसी प्रकार सप्रयोजन भी है। निसर्गमें व्यर्थ कुछ नहीं है।

हमारी बुद्धि और निसर्गकी महाबुद्धिके बीच जातिका अैक्य है, परन्तु अैश्वर्यका अैक्य नहीं; अिसीलिअे हम अुस महाबुद्धिको समझनेकी हिम्मत तो कर सकते हैं, परन्तु नम्र बनकर ही वैसा करनेकी आशा रख सकते हैं।

और, वह महाबुद्धि भी क्या पूर्ण विकसित हुअी है? पूर्ण व्यक्त अथवा प्रकट हुअी है? अुसका नित्य विकास होता ही रहता है। अुस विकासका अंत कब होगा, यह कौन कह सकता है? परन्तु अुसका अंत किसलिअे हो?

व्यक्तिका अथवा विश्वका जीवन प्रवाह-रूप होता है।

हम भले ही यह मानें कि यौवनमें बाल्यकाल मिट जाता है और वृद्धा-वस्थामें बाल्यकाल तथा यौवनका लोप हो जाता है, परन्तु वास्तवमें अैसा नहीं होता। सब अवस्थायें — विकासके क्रमके अनुसार हम जितनी अवस्थाओंसे होकर निकले हों वे सब अवस्थायें — अेक ही साथ हममें होती हैं। किसी कथाके अंत तक जब हम आ जाते हैं तो क्या अुसके आदि और मध्य नष्ट हो जाते हैं? कोअी राग पूरा हो जाने पर क्या अुसका अस्थाअी और अंतरा नष्ट हो जाता है? अैसा होता तो रागका ज्ञान ही हमें नहीं होता। भूत भी वर्तमान है। नदी समुद्रमें मिल जाती है, फिर भी अुसका अुद्‌गम और अुसका मध्य तो बहता ही रहता है। निसर्गकी महाबुद्धि व्यक्त होती जाती है, विकसित होती जाती है, तो भी अुसके प्राथमिक स्वरूपका अवशेष तो रहता ही है। जिस प्रकार हिन्दू धर्ममें 'तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्' से लेकर अद्यतन विचारों और आचारों तक सभीके लिअे स्थान है, सबका आदर है, अुसी प्रकार निसर्गमें सभी स्थितियोंका समावेश और समन्वय है। अधिकांश स्थानोंमें वह स्थूल रूपमें है, तो किसी स्थानमें सूक्ष्म रूपमें है।

*

पुरुष-सूक्तमें कहा गया है कि विराट् पुरुषके असंख्य मस्तक हैं, असंख्य आंखें हैं और असंख्य पैर ह। अिसके आधार पर हमें जानना चाहिये कि विराट् पुरुषके असंख्य मन और असंख्य हृदय भी हैं, क्योंकि वह सब अेकरूप है। अिन अनंत मनोंमें कोअी भी विचार अुठा, कल्पना जागी या भावनाकी अूर्मि अुठी

कि वह किसी न किसी प्रकार मूर्तरूप लिये बिना नहीं रहती। अिसीलिअे तो मनके व्यापार पर प्रबल नियंत्रण रखना जरूरी होता है।

मैं जितने मानसिक पाप करता हूं वे सब मेरे आचरणमें भले ही न अुतरें, परन्तु कहीं न कहीं तो वे आचारका रूप लेंगे ही। यह आशा व्यर्थ है कि हम किसी न किसी प्रकार अपने विचारों, अपने मनोरथों और अपनी कल्पना-तरंगोंको अलग या अलिप्त रख सकते हैं।

पानीमें पड़ा हुआ नमक जैसे सारे पानीमें फैल जाता है, आकाशमें अुठी हुआी अूर्मि जैसे अनंत तक पहुंच जाती है, वैसे ही हमारी वासनायें विश्वमें फैलती हैं और विश्वको बनाती हैं या अुसे पीड़ा पहुंचाती हैं। केवल आचार पर रखा जानेवाला नियंत्रण काफी नहीं है; चित् शक्ति तो हमारे संकल्पमें ही रहती है। सारा विश्व और अुसका अेक अेक रज संकल्प-प्रभव है, अिसलिअे संकल्प-शुद्धि ही महासाधना है।

२१–४–'२७

१४

ॐ – प्रणवोपासना

[अेक प्रवचन]

ॐकार हमारा सर्वश्रेष्ठ अेकाक्षरी मंत्र है। अिसे प्रणव कहते हैं। अिसका दर्शन और श्रवण गंभीर और आह्लादक है। अृषियोंने अिस प्रणवका रहस्य बतानेके लिअे अेक अुपनिषद्का अुपयोग किया है, फिर भी अिसका संपूर्ण आकलन नहीं होता। अिस ॐ का अर्थ क्या है? ॐ का अर्थ है सनातन 'हां'। संशय, अश्रद्धा, नास्तिकता सबको अेक स्मितसे ही दूर करनेवाला यह प्रसन्न 'हां' है। ॐ कहता है: ब्रह्म है, यह जगत है, भूत-भविष्य-वर्तमान सभी है। अिनके परस्पर संबंधके बारेमें हम कैसी भी कल्पना क्यों न करें, सब कुछ है, और वह अेक ही है; कुछ नहीं है, अैसा नहीं। जहाँ ॐ है वहां असत्य, अभाव या संशयके लिअे स्थान ही नहीं है।

वही सत्य-नारायण है। वही हमारा प्रिय सखा है। अुसके सहवासमें हम सर्वत्र सुरक्षित हैं। जीवनमें अनेक मार्ग हमें ललचाते हैं, हर कदम शंकासे भरा होता है, सर्वोच्च आदर्श कौनसा है — अिस बारेमें हम सदा अुलझनमें पड़े रहते हैं, प्रतिक्षण हमारे सामने धर्म-संकट आते हैं; परन्तु यदि हम अिस प्रिय सखा ॐ का अथवा शुद्ध सत्यका हाथ पकड़ कर चलें, तो कहीं भी अुलझन

नहीं रहती। समाज-सेवा करनी है? हां, परन्तु सत्यका हाथ छोड़ कर नहीं। दान और परोपकार करना है? हां, परन्तु वह भी सत्यके प्रति वफादार रहकर ही। शास्त्रोंकी रचना करनी है? हां, किन्तु जहां तक सत्य ले जाय वहीं तक। अन्य सबका सहवास खतरोंसे भरा हो सकता है; परन्तु जिस प्रकार बालकके लिअे परम आप्त, परम कल्याणकारी अुसकी माता ही होती है, अुसी प्रकार मनुष्यके लिअे यह सत्य ही परम आप्त, परम कल्याणकारी होता है। और सब बातें बाहरी होती हैं। अुन्हें प्राप्त करना होता है या अुन्हें सीखना होता है; परन्तु सत्य तो हमारी अुत्पत्तिके साथ ही रहता है, वह हमसे पहलेका है। बहू ससुरालके सभी लोगोंकी श्रद्धाभक्तिसे सेवा करती है, परन्तु अुसकी निष्ठा तो अेक पतिको ही अर्पित होती है। अिसी प्रकार हम चाहे जिस क्षेत्रमें कार्य करें, चाहे जो जिम्मेदारी अुठायें, चाहे जो साधना करें, परन्तु अिस प्रिय सखा सत्यको, अिस सनातन साथीको छोड़कर न करें। वह है अिसीलिअे जगत है। वही ईश्वर है। हमारी दृष्टि अन्तर्मुख होगी तब हमें यह विश्वास होगा कि आत्मा अुससे अलग नहीं है। सत्यका अर्थ केवल व्यवहारकी प्रामाणिकता ही नहीं है। सत्यका अर्थ केवल यथार्थ कथन ही नहीं है। सत्य हमारे साथ पहलेसे ही है। जैसे जैसे हमारी अुन्नति होती जाती है वैसे वैसे हमें अिस सत्यका सूक्ष्म और सूक्ष्मतर दर्शन होता जाता है। स्थूल अथवा सूक्ष्म सत्यके दर्शनसे कोअी मनुष्य वंचित होता ही नहीं। अिसीलिअे सबके लिअे आशा है, और सबके जीवनमें जिम्मेदारी है। सत्यका दर्शन ही जीवनका सार है, बाकी सब निःसार है। क्यों? क्या आपको विश्वास नहीं होता कि बाकी सब निःसार है? मैं सचमुच कहता हूं कि बाकी सब निःसार है। हम अुस हृदय-स्वामीको धोखा न दें। वह हमें कभी धोखा देता ही नहीं। वह कल्याणकारी है यह अुसकी सुन्दरता है; परन्तु यह अुसकी सिफारिश नहीं है। सत्य सत्य है, यही अुसकी सिफारिश है। प्रत्येक प्रवृत्तिका अंतिम फल, अंतिम संतोष सत्य ही है।

अिस बातका अनुभव होनेके बाद ॐ ही हमारा महाकाव्य बन जाता है। अुसका जप ही हमारा अखंड संतोष हो जाता है।

१९२४

१५

संतवाणीका कार्य*

आज जब कि देशमें धर्म-धर्मके बीच झगड़े बढ़ रहे हैं और चन्द लोग घबरा कर यहां तक कहने लगे हैं कि धर्म-मजहबकी बला ही न रहे तो अच्छा, तब 'संतवाणी' का यह संग्रह देखकर अत्यन्त आनन्द और सन्तोष होता है। दावानल चारों ओर भड़क रहा हो और बीचमें वर्षा हो रही हो, तब जैसा सन्तोष होता है वैसा ही असर 'संतवाणी' का देशके संतप्त हृदय पर पड़ता है। लड़ाअी-झगड़े होते हैं धर्मके मिथ्या अभिमानसे, धर्मके नाम पर चलाये जानेवाले स्वार्थ, मत्सर और द्वेषसे, अथवा अज्ञानके कारण वास्तविक भावको छोड़कर शब्दोंको दिये हुअे महत्त्वके कारण। संत कहते हैं: धर्म कोअी घरका पशु तो है नहीं, जिसका पालन-पोषण बाह्य रूपसे किया जा सकता हो। धर्म तो जीवन-परिवर्तन है, नअी दृष्टिको प्राप्त करना है। धर्म अेक विशिष्ट कोटिका जीवन है। अुस जीवनका जिन्होंने प्रत्यक्ष परिचय पा लिया अुनके मनमें बाह्य सिद्धान्तोंके झगड़े गौण हो जाते हैं। पहुंचे हुअे लोगोंकी तो 'अेक ही बात' होती है। 'सब साधोंका अेक मत, बिचके बारह बाट।'

जब देशमें धर्म-अधर्मके लड़ाअी-झगड़े बढ़ गये तब अिन संतोंने अनेक रूपोंमें अवतार ले लेकर धर्मका हार्द ढूंढ़ निकाला और लोगोंको दिया। संतोंमें सबको संभालनेकी समन्वयकारी वृत्ति थी; परस्पर स्वार्थका मेल जमानेके लिअे वह धूर्तोंका किया हुआ समझौता नहीं था। संतमें और कोअी श्रेष्ठता हो या न हो, अुसका प्रथम लक्षण अुसकी निस्पृहता है। जो निस्पृह है वह निर्भय भी है। अिसीलिअे अिन संतोंने धर्माग्रही और धर्माभिमानी कर्मकाण्डी लोगों पर कोड़े लगानेमें जरा भी संकोच नहीं किया।

संतोंके पास अिस सुधार-कार्यके लिअे कोअी निश्चित योजना या कार्य-पद्धति नहीं थी। अुन्हें पुरानी रचना तोड़ कर किसी नअी रचनाकी स्थापना नहीं करनी थी। वे रचनामात्रको अुदासीनतासे देखते थे। कभी वे कहते थे कि अिन ग्रंथोंमें क्या खोजते हो, अिनमें क्या धरा हुआ है! ग्रंथोंको छोड़ दो। ग्रंथोंके सहारे हृदय-ग्रंथि खुलनेकी नहीं। 'मसि कागजके आसरे क्यों टूटै भवबन्ध!' कभी वे कहते थे कि अिन ग्रंथोंका कोअी दोष नहीं। सोचनेवाले लोग ही जहां स्वार्थी, अज्ञानी या मोहमत्त हों, वहां बेचारे धर्मग्रंथ क्या करें?

* श्री वियोगी हरि द्वारा संगृहीत 'संतवाणी' की प्रस्तावना।

संतोंने सबसे बड़ा काम यह किया कि धर्म और रूढ़िके नाम पर जो भ्रम, वहम या गलतफहमियां फैली हुअी थीं अुनको दूर कर दिया। संभवतः संतोंका सबसे श्रेष्ठ कार्य यही है।

लोगोंके भ्रमको दूर करनेके साथ साथ अुन्होंने व्यवहार-शुद्धिका कार्य भी काफी किया है। अुनके जमानेमें भिन्न भिन्न जातियोंमें जो कुछ छल, कपट और अमानुषता थी, अुसे भी दूर करनेके लिअे संतोंने काफी प्रयत्न किया है। वे सत्यके प्रचारक थे। जहां तक अुनके जीवनका सम्बन्ध आता था, वे सत्याग्रही भी थे। किन्तु समाजकी कमजोरीको तथा अुसके और अपने बीचमें रहनेवाले अन्तरको देखकर सत्य-प्रचारसे अधिक आग्रह अुन्होंने नहीं रखा।

सामाजिक सुधारके बारेमें भी संतोंने कुछ कम काम नहीं किया। छुआ-छूतको अुन्होंने अैसा फटकारा है कि अगर स्वार्थी ब्राह्मणोंने अुनका काम बिगाड़ न दिया होता, तो छुआछूत कभीकी नष्ट हो गअी होती।

संत जानते थे कि जाति-व्यवस्था और वर्ण-व्यवस्था समाजके आर्थिक संगठनके लिअे चाहे जितनी आवश्यक हो, परन्तु अिस व्यवस्थासे समाजका कल्याण और व्यक्तिका अुद्धार न कभी हुआ है और न होनेकी संभावना ही है।

संतमतका प्रादुर्भाव यों तो अनादि कालसे है, किन्तु जिस 'संतवाणी' का यहां संग्रह किया गया है अुस वाणीका और अुसकी परम्पराका प्रारंभ तो शायद कबीरसे ही हुआ है। कबीरने जो कार्य किया अुसकी प्रेरणा तो अुन्हें स्वामी रामानन्दसे ही मिली थी। कबीरका हिन्दुओं और मुसलमानों दोनोंके ही साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होनेके कारण अुनमें असाधारण योग्यता आ गअी थी। निर्भयताके साथ वे दोनोंको फटकारते थे। दोनोंको वे शुद्ध सत्य-धर्मका रास्ता दिखाते थे। आज हमारे देशमें और खासकर गांवोंमें जो हिन्दू-मुस्लिम-अेकता दीख पड़ती है, वह संतोंकी ही बदौलत है। संतोंने सामाजिक नियम ज्यों-के-त्यों ही रहने दिये। वे जानते थे कि सामाजिक रूढ़ियोंके पीछे विशिष्ट वर्गोंके हित-अहितका भी सवाल आता है। लोगोंको अिन रूढ़ियोंके बारेमें अुदासीन बना दिया, तो आधा काम हमारा हो गया। बाकीका आधा काम युग-प्रवर्तक काल स्वयं ही कर लेगा। संतोंकी अिस दृष्टिमें शायद दीर्घदर्शिता थी। शायद अपने सामाजिक कार्यको दृढ़ बनानेके सम्बन्धमें वे अुदासीन थे। समयके प्रवाहके साथ समाजमें रूढ़िने अपना आसन फिरसे जमा लिया और अुसने निश्चय किया कि संतोंका अुपदेश संतोंके ही लिअे अच्छा है। लोगोंमें न तो संतोंका त्याग है और न संतोंकी शान्ति है।

संतोंके कार्यमें यह जो कमजोरी रह गअी, अुसे संतोंकी कार्य-पद्धतिका दोष मानें या मनुष्य-स्वभावके नैसर्गिक दोषका परिणाम मानें?

संतोंने शास्त्रधर्मको श्रद्धांजलि देकर अेक ओर रख दिया। लोकधर्ममें जो अच्छा अंश अुन्हें मिला अुसीकी अुन्होंने प्रतिष्ठा बढ़ाअी और अनिष्ट

अंशका प्राणपणसे विरोध किया। अपने अनुभव, अपने निरीक्षण और लोक-कल्याणके आधार पर अुन्होंने विशिष्ट सिद्धान्त-निरपेक्ष धर्म चलाया।

अेक बात खास तौरसे ध्यानमें रखनी चाहिये। अिन संतोंकी गंगोत्री तो नवनाथोंके योगमार्गमें है। हठयोग और कीमियाका प्राधान्य अुनमें बहुत था। बादमें अिन दोनों चीजोंकी प्रतिष्ठा कम होने लगी और सुरता-साधक ध्यान-योगका महत्त्व बढ़ा। ध्यानयोग चूंकि लोक-सुलभ नहीं था, अिसलिअे अुसके साथ साथ भक्तियोग आ गया। अनासक्ति और त्याग तो संतधर्ममें प्रारंभसे अन्त तक भरा ही हुआ है। हठयोगकी प्रतिष्ठा संतोंने अपने मूक विरोधसे जिस तरह कम की, अुसी तरह ब्रह्मचर्याश्रमकी प्रतिष्ठा भी संतोंने बिना किसी विरोधके कम कर दी। जो ब्रह्मचारी है वही संत हो सकता है — गृहस्थाश्रम संतोंके लिअे है ही नहीं, अैसे विचारको अुन्होंने धीरे-धीरे नरम बनाकर सादगी, संतोष, अपरिग्रह और भूतमात्रके कल्याणकी दयावृत्ति, अिन्हींको अुन्होंने जीवनका सार-सर्वस्व बताया।

संतोंके प्रभावसे हमारा राष्ट्रीय चारित्र्य बहुत ही अूंचा अुठा, अिसमें कोअी संदेह ही नहीं। किन्तु आजकल संतमतके प्रचारके बारेमें अेक शिकायत बार-बार अुठती है। वह यह कि संतोंने लोगोंमें जो संतोष-वृत्ति और अनाग्रह पैदा किया अुसीका नतीजा है कि लोगोंमें लोक-जीवनके बारेमें अनुत्साह पैदा हो गया। संतवाणीका अधिकसे अधिक प्रचार हुआ सिक्खोंमें, वैष्णवोंमें और महाराष्ट्रके वारकरी लोगोंमें। संतमतके और संतवाणीके प्रचारके गुण-दोष अिन लोगोंके जीवनसे निश्चित करनेका मोह अैतिहासिकोंको अवश्य होगा, किन्तु अैसा करना अुचित नहीं है। प्राचीन कालसे मनुष्यने अपने सामाजिक गुण-दोषोंके अनुसार अपने धर्मको समझा और अपनी संकुचित दृष्टिके अनुसार अुसका पालन किया। जो कायर हैं वे अहिंसाकी ढालके पीछे रहकर अपनी कायरताको ढांक देते हैं, परन्तु अिससे अहिंसा-धर्म कायरोंका धर्म सिद्ध नहीं होता।

भाषाकी दृष्टिसे भी संतोंकी सेवा कुछ कम नहीं है। संतोंने तो भाषाकी अेक टकसाल ही खोल दी है, जिसमें से नअी नअी किस्मकी अशर्फियां नित्य ढल-ढलकर निकलती रहती हैं। बन्दूककी गोलीकी तरह संतवाणी सीधे मनुष्यके हृदय तक पहुंच कर अेक क्षणके भीतर अुसकी मरी हुअी धर्मबुद्धिको पुनर्जीवित कर देती है। संतोंकी वाणी अनेकार्थी, जन-मनोहर, अल्पाक्षर, मधुर और सत्य-पूर्ण होती है। अुनकी शैली निश्चयात्मक होती है, क्योंकि वह जीवन-मूलक होती है; अिसी कारण वह लोक-सुलभ भी होती है। संतवाणी किसी भी राष्ट्रकी सर्वश्रेष्ठ पूंजी है। वह वाणीका विलास नहीं, किन्तु जीवनका निचोड़ है, अिसी-लिअे वह जीवित और अमर होती है। संतवाणी अैसी स्वर्गीय गंगा है, जिसमें स्नान-पान करनेसे लोक-जीवन पवित्र, समृद्ध, समर्थ और स्वतंत्र हो जाता है।

भिन्न भिन्न संतोंके वचनोंका अैसा संग्रह करना दीर्घकालके संकल्प और प्रयत्नोंका फल होता है। अुसके पीछे जो परिश्रम किया जाता है अुसके साथ साथ जो अपूर्व आनन्द मिलता है, वही अुस परिश्रमका मधुर फल है। अिस संग्रहके पठन-पाठनसे जो आनन्द होता है अुससे कहीं बढ़कर संग्रहकारको अिन रत्नोंका चुनाव करनेमें हुआ होगा।

संग्रह करनेके बाद संग्रहकारने जिन भिन्न भिन्न शीर्षकोंके नीचे अिनका वर्गीकरण किया है, वे शीर्षक ही संतमतका रहस्य बतानेके लिअे समर्थ हैं।

संग्रहके साथ साथ आधुनिक हिन्दी गद्यमें संग्रहका जो भावार्थ (paraphrase) संग्रहकारने दिया है, अुसमें अुनकी कवित्व-शक्ति भी प्रकट होती है। अिसे पढ़ते समय गद्यकाव्यका रसास्वाद मिल जाता है।

मुझे विश्वास है कि जिन लोगोंकी जन्मभाषा हिन्दी नहीं है अुन्हें यह भावार्थ बड़ी सहायता पहुंचायेगा। अपनी अपनी प्रान्तीय भाषाअें बोलनेवाले हम हिन्दी-प्रेमियोंका यह विशेष कर्तव्य है कि हम अपनी अपनी भाषाओंके संतोंकी सूक्तियोंका अैसा ही संग्रह संकलित कर अुसे नागरी अक्षरोंमें छपा दें और हिन्दीमें अुसका अनुवाद भी दे दें। वियोगीजीकी गद्यकाव्यकी शक्ति हरअेक भाषान्तरकारमें शायद न हो, किन्तु कवियोंकी वाणीका तेज और अुसकी मधुरिमा अपने कर-भारसे राष्ट्रभाषाको समृद्ध किये बिना नहीं रहेगी।

१६

सत्य-नारायणका व्रत

१

प्रास्ताविक

स्वामी विवेकानन्दने अपने 'अुद्‌बोधन' में कुछ सुन्दर कथायें और आनंदप्रद शब्दचित्र दिये हैं। अुनमें अेक यह भी है:

"सनातन हिन्दू धर्मका मंदिर गगन-स्पर्शी है। अुस मंदिरमें जानेके मार्ग भी कितने हैं! और अुस मंदिरमें क्या नहीं है? वेदांतियोंके निर्गुण ब्रह्मसे लेकर ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, दुर्गा, सूर्य-नारायण और चन्द्रमा तक तथा चूहे पर सवार गणेशसे लेकर ठेठ छठी, शीतला जैसे छोटे-बड़े देवी-देवताओं तक सभी कुछ है। और वेद, वेदांत, दर्शन, पुराण, तंत्र आदिमें अितना माल भरा है कि अुनमें से अेक ही चीजसे हमारा भव-बन्धन टूट सकता है। और अुस मंदिरके सामने लोगोंकी भीड़ भी कितनी बड़ी है! तैंतीस करोड़ लोग अुस मंदिरकी ओर दौड़ते हैं।

"हमारे मनमें भी कुतूहल पैदा होनेसे हम पैदल चले गये। लेकिन जाकर देखते हैं तो स्तब्ध रह जाते हैं। मंदिरके भीतर कोअी जाता ही नहीं। दरवाजे पर पचास सिर, सौ हाथ, दो पेट और पचास पैरोंवाली अेक मूर्ति खड़ी है और सब लोग अुस मूर्तिके पैरोंके पास लोट रहे हैं। अेक आदमीसे हमने पूछा: 'यह है क्या?' अुसने कहा: 'अुस मंदिरके भीतर जो देवी-देवता दिखाअी देते हैं अुन्हें आप दूरसे ही नमस्कार करें और अुन पर अेक दो फूल फेंक दें, तो अुनकी बहुत पूजा हो गअी। लेकिन सच्ची पूजा तो अिस दरवाजे पर खड़े देवकी ही करनी चाहिये। और यह जो आप वेद, वेदांत, दर्शन, पुराण, शास्त्र सब देखते हैं, अुनका प्रसंगवश श्रवण करें तो कोअी हर्ज नहीं। लेकिन आज्ञा तो आपको अिस देवकी ही माननी चाहिये।'

"हमने दुबारा पूछा: 'तो अिस देवाधिदेवका नाम क्या है?'

"अुत्तर मिला: 'लोकाचार यानी रूढ़ि।'"

अिस छटादार शब्दचित्रमें स्वामी विवेकानन्दने हिन्दू धर्मका व्यावहारिक रूप दिखाया है। यह स्थिति केवल हिन्दू धर्मकी ही है, अैसा नहीं। सारे संसारमें सभी धर्मोंकी यह स्थिति है। शास्त्रकी प्रगति तर्कके अनुसार हो सकती है, परन्तु लोकाचार तो हृदयका प्रवाह जिस दिशामें बहे अुसी दिशामें बहता है। अीसाअी धर्म और अिस्लाममें कितने ही संस्कार और प्रथायें अुन धर्मोंके सिद्धान्तोंसे भिन्न हैं। भारतमें द्विज और अद्विज जैसा समाजका बड़ा भेद होनेसे शास्त्रधर्म तथा प्राकृत धर्मके दो स्पष्ट भेद पड़े हुअे हम देखते हैं। हर समय धर्म-सुधारकोंने प्राकृत धर्मको सुधार कर अुसे संस्कृत धर्म बनानेका प्रयत्न किया है। रूढ़धर्म और अुसकी रूढ़ियोंकी निन्दा करनेमें ही हमने अभी अभी अनेक वर्ष बिता दिये, परन्तु हमारे ध्यानमें यह बात नहीं आअी कि रूढ़-धर्मके पीछे राष्ट्रीय प्राण होते हैं। देशके दोष और देशकी विशेषतायें, देशकी शक्ति और देशकी अशक्ति अिस रूढ़धर्मके ही ॠणी होते हैं। किसी देशका शास्त्रधर्म केवल अुस देशके आदर्श अथवा सर्वोच्च महत्त्वाकांक्षाको बताता है, परन्तु देशकी सच्ची स्थिति तो रूढ़धर्मसे ही समझी जा सकती है। समाज जब बहते पानीकी तरह पुरुषार्थी और स्वच्छ होता है तब शास्त्रधर्म पत्थर जैसा कठोर बना हुआ नहीं होता; और रूढ़धर्म भी अपमानित नहीं होता। समाजमें अुच्च वर्ग और सामान्य वर्ग जब परस्पर मिल-जुलकर रहते हैं तब शास्त्रधर्मकी अुदात्तता झर-झर कर रूढ़धर्ममें अुतर आती है और जिस प्रकार कमलको कीचड़से पोषण मिलता है अुसी प्रकार शास्त्रधर्मको रूढ़धर्मसे नित-नया भोजन मिलता है। शास्त्रधर्मका तर्कशास्त्र बहुत तीक्ष्ण होता है; शास्त्र-धर्मका मानसशास्त्र बहुत सूक्ष्म होता है। परन्तु रूढ़धर्म बहुत भोला होता है। वह मानव-स्वभावकी गहरी परीक्षा नहीं करता। शास्त्रधर्म ब्रह्मदेवकी तरह

हंस-वाहन होता है; जब कि रूढ़धर्म 'बहुचराजी माता' की तरह कुक्कुट-वाहन होता है। शास्त्रके हंसको तत्त्वरूपी मोती मिलते हैं या नहीं, यह कहना कठिन है; परन्तु रूढ़िके कुक्कुटको बहुत घूमनेवाला होनेके कारण भले-बुरे संस्कारोंके रूपमें दाने खूब मिलते हैं।

आजकल यूरोपमें संस्कारी लोगोंका ध्यान 'अेन्थ्रोपोलॉजी' अथवा मानव-वंश-शास्त्रकी ओर अधिक है। अुसका प्रभाव भारतमें भी पड़ा है। यहांके विद्वान शास्त्रोंसे बाहरके हिन्दू संस्कारों और रीति-रिवाजोंका अध्ययन करने लगे हैं। बंगालमें रवीन्द्रनाथ ठाकुरने बाअुल संप्रदायके साहित्यकी ओर लोगोंका ध्यान खींचा है। मैसूरमें मिथिकल सोसायटीने तथा बम्बईमें सर नारायण चंदावरकरने लोकरूढ़ियोंकी दृष्टिसे हिन्दू धर्मका रहस्य खोजनेका प्रयास आरंभ किया है। यूरोपके मानववंश-शास्त्री मुख्यतः अैसे साधनोंके बारेमें टिप्पणियां लिखनेका तथा भिन्न-भिन्न देशोंमें प्रचलित मान्यताओंकी तुलनाका कार्य करते आये हैं।

संस्कारी सनातन धर्मका रूढ़धर्म भी बड़ा संस्कारी है। अुसका अध्ययन बिलकुल अलग ढंगसे होना चाहिये। हिन्दू समाजके नेताओंकी दृष्टि पहलेसे ही अिस रूढ़धर्मकी ओर होनेसे अुन्होंने रूढ़धर्मके स्वतंत्र प्रवाहको किसी भी तरह रोका नहीं और पहलेसे ही अुसे संस्कारी बनानेका शुभ प्रयत्न आरंभ कर दिया था। अुन्होंने रूढ़धर्मके सभी देवी-देवताओंको पंचायतनके अवतार बना डाला, अुनमें से मुख्य देवी-देवताओंको राष्ट्रीय त्योहारोंमें स्थान दे दिया, मांसके बदलेमें अुड़दका आटा या भूरा कुम्हड़ा रख कर हिंसक संस्कारोंको अहिंसक बना दिया और अिस प्रकार सारी जनताको अुन्नतिका मार्ग दिखाया।

रूढ़धर्ममें बहुत बड़ी शुद्धता खोजना ही भारी भूल है। लोगोंका जैसा स्वभाव है अुसीको स्वीकार करके अुसमें अुन्नतिका अेकाध बीज बो देनेका, लोक-जीवनमें अहिंसाकी अेकाध काव्यमय छटा बढ़ा देनेका ही काम अुसमें किया जा सकता है। अिसी दृष्टिसे हिन्दू शास्त्रकारोंने रूढ़धर्म पर कौनसे और कितने संस्कार चढ़ाये हैं और अुनकी वजहसे आजका हिन्दू जीवन कितना संस्कारी तथा काव्यमय बन गया है, अिसकी हमें संस्कृतिकी दृष्टिसे जांच करनी चाहिये। भगिनी निवेदिताने अिस प्रकारका अध्ययन बहुत किया है। फीलिंडग हॉलने ब्रह्मदेशके बारेमें अिसी तरहके अनेक लेख लिखे हैं। किन्केड साहबने अेंग्लो-अिंडियन पद्धतिसे अिस दिशामें बहुत लिखा है। परन्तु हम अितनेसे कभी संतोष नहीं मान सकते। हमें प्रत्येक त्योहार, प्रत्येक रिवाज और प्रत्येक संस्कारकी जांच करनी चाहिये और यह खोज निकालना चाहिये कि अुसमें कौनसा रहस्य रखनेका प्रयत्न किया गया है। रूढ़ियोंमें दोष देखना कठिन नहीं है। परन्तु सत्यकी शुभ दृष्टि गुण-विवेचनसे संतोष नहीं मानती; वह तो रहस्य जानना चाहती है। अैसी ही दृष्टिसे अपने देशके प्रचलित व्रतों तथा अुत्सवोंका

अध्ययन हम करना चाहते हैं। अिसका आरंभ हम गुजरात और महाराष्ट्रमें लोकप्रिय तथा तुलनामें अत्यन्त नवीन व्रत — सत्य-नारायणके व्रतसे करते हैं।

२

व्रत-रहस्य

सत्या परता नाहीं धर्म।
सत्य तेंचि परब्रह्म ॥*
— मुक्तेश्वर

सत्य-नारायणका व्रत अिस प्रान्तमें तथा महाराष्ट्रमें अत्यन्त लोकप्रिय है। धर्मशास्त्रोंमें अिस व्रतका स्थान नहीं है, परन्तु रूढ़धर्ममें सत्यनारायण-व्रतका स्थान अूंचा है। लोगोंकी यह मान्यता है कि अिस व्रतसे अिष्ट-कामना सिद्ध होती है। अिस व्रतमें सत्य-नारायणकी पूजा, कथाका श्रवण तथा प्रसादका भक्षण — अैसे तीन मधुर विभाग हैं। कदाचित् अिसी कारणसे अिस व्रतके पीछे सत्यकी जो महिमा है वह ढंक गअी है। अुस महिमाकी ओर लोगोंका ध्यान खींचनेका यह अेक अल्प प्रयत्न है।

अिस रहस्यको पढ़नेसे पहले जिन लोगोंको सत्य-नारायणकी कथा याद न हो, अुन्हें यह कथा जान लेना जरूरी है।

धर्म मानव-हृदयकी अत्यन्त अुच्च वृत्ति है, और वह मनुष्यके संपूर्ण जीवनको व्याप्त किये रहती है। हमारा जीवन अुत्तम, सामान्य अथवा हीन होता है; धर्मको भी हम अैसा ही रूप देते हैं। बुद्धि-प्रधान तार्किक लोग धर्मवृत्तिको तत्त्वज्ञानका दार्शनिक रूप देते हैं; प्रेमल नम्र लोग अुसे अुपासनाका रूप देते हैं; कर्म-प्रधान कला-रसिक लोग पूजा-अर्चा आदि तांत्रिक विधि द्वारा धर्मवृत्तिका पोषण करते हैं; जब कि सामान्य अज्ञ जन-समुदाय कथा-कीर्तनके द्वारा ही धर्मके अुच्च सिद्धान्तोंका आकलन कर सकते हैं।

धर्माचरणके फलके बारेमें भी यही सिद्धान्त लागू होता है। धर्माचरणका फल आन्तरिक, अंतःस्थ और अुच्च होता है। यह बात जिन लोगोंके ध्यानमें नहीं आ सकती, अुनके संतोषके लिअे पौराणिक कथाओं द्वारा बाह्य फल बताना पड़ता है। धर्मके तत्त्व कितने ही अूंचे क्यों न हों, परन्तु यदि अुन्हें समाजमें रूढ़ करना हो तो अुन्हें समाजकी भूमिका तक नीचे अुतारना ही पड़ता है। भगवान तथागत (बुद्ध) ने जिन तत्त्वोंका अुपदेश किया, वे अुच्च, अुदात्त और नैतिक थे; परन्तु जब अुन्हें देवी-देवता, पूजा-अर्चा, मंत्र-तंत्र आदिका तांत्रिक स्वरूप देकर महायान पंथ अवतरित हुआ तभी वे तत्त्व अथवा अुनका अंश आधे अेशियाके गले अुतरा। सत्य-नारायणका व्रत अिसी प्रकारका अेक ताजा

* सत्यसे भिन्न कोअी धर्म नहीं है। सत्य ही परब्रह्म है।

अुदाहरण है। अेक पुराण-धर्माभिमानी शास्त्रीने कहा था कि सत्य-नारायणका व्रत पिछले १०० वर्षोंमें ही अस्तित्वमें आया है। गुजरात और महाराष्ट्रके बीचके व्यापारका और छोटे छोटे राज्योंका स्मरण जब ताजा था अुस समय यह व्रत शुरू हुआ होगा। परन्तु अिस व्रतके विस्तार और लोकप्रियताको देखते हुए यह कहना गलत नहीं होगा कि अिस व्रतमें लोगोंके हृदयमें बसनेवाले धर्मका रूप सुन्दर ढंगसे देखनेको मिलता है।

दुनियाका अधिकतर व्यवहार मामूली लोगोंके हाथमें होता है। सत्य पर आम लोगोंकी तात्त्विक श्रद्धा बहुत कम होती है। संसारमें चाहे जैसा नुकसान सहन करने जितना पौरुष सामान्य लोगोंमें नहीं होता। सत्य-असत्यका कोअी भी विचार किये बिना क्षणिक और प्रत्यक्ष लाभके लिअे लोग वचन-भंग करते हैं, नियम तोड़ते हैं, झूठेको सच्चा कर दिखाते हैं। कामनाकी सिद्धिके लिअे सत्यके साथ समझौता करनेवाले अैसे अज्ञान लोगोंको सत्यकी लगन कैसे लगाअी जाय और सत्यके सेवनसे ही अंतमें सारी कामनायें सिद्ध होती हैं यह श्रद्धा अज्ञान लोगोंके मनमें कैसे बैठाअी जाय, यह अेक विकट सनातन प्रश्न है। साधु-संतोंने, कानून बनानेवालोंने तथा समाजके नेताओंने अनेक तरहसे अिस दिशामें प्रयत्न करके देख लिया है। सत्यनारायण-व्रतके प्रवर्तकने अपनी शक्ति और मतिके अनुसार सत्य-नारायणकी पूजा तथा कथाके द्वारा अिस प्रश्नको हल करनेका प्रयत्न किया है।

सत्य-नारायणकी पूजाको लोगोंमें प्रचलित करनेसे दो अुद्देश्य सिद्ध हुअे हैं। लोग सत्यका सेवन या पालन करें, यह पहला अुद्देश्य; सत्यकी महिमाका समाजमें निरन्तर गान हो, यह दूसरा अुद्देश्य। अिस पूजाको अुत्सवका नाम नहीं दिया, परन्तु व्रत कहा है—यह बात भी यहां ध्यानमें रखने जैसी है। अुत्सवमें हम किसी भूतकालीन घटनाका या किसी धार्मिक तत्त्वका अुत्साहके साथ सहर्ष स्मरण करते हैं, जब कि व्रतमें हम अपने जीवनको अधिक अूंचा बनानेके लिअे कोअी न कोअी दीक्षा ग्रहण करते हैं।

सत्य-नारायणकी कथा सुननेसे और स्वादिष्ट प्रसाद खानेसे सत्य-नारायणका अुत्सव हुआ माना जायगा, लेकिन अुसे व्रत नहीं कहा जा सकता। जिसे सत्य-नारायणका व्रत करना हो अुसने स्वयं हर समय, हर स्थान पर और हर अवसर पर सत्यके आचरणकी और मौका मिलने पर सब लोगोंको सत्यका महत्त्व समझाकर सत्यका कीर्तन करनेकी दीक्षा ली हो, तो ही अुसे सत्य-नारायणका व्रत करनेका पुण्य मिल सकता है।

दुनियामें सभी लोग सामर्थ्य और संपत्तिकी अभिलाषा रखते हैं। धर्म कहता है: 'भूतदया तथा सत्याचरण द्वारा ही तुम्हें सच्चा सामर्थ्य और संपत्ति मिल सकेगी।' पुराणोंने यही सिद्धान्त अेक सुन्दर रूपक द्वारा हमारे मन पर बैठाया

है। पुराण कहते हैं: 'सामर्थ्य और संपत्ति अर्थात् शक्ति और लक्ष्मी, क्रमशः कल्याणकी अिच्छा तथा सत्य अर्थात् शिव और सत्य-नारायणके अधीन रहती हैं; क्योंकि शक्ति शिवकी पत्नी है और लक्ष्मी सत्य-नारायणकी पत्नी है। पतिकी आराधना यदि तुम करो, तो पत्नी जरूर तुम पर अनुग्रह करेगी।' अिस प्रकार धन, धान्य, संतति, संपत्ति आदि अैहिक लक्ष्मीकी अिच्छा रखनेवाले लोगोंसे अिस व्रतमें सत्यकी अर्थात् सत्य-नारायणकी आराधना करनेको कहा गया है।

हिन्दू धर्ममें तथा हिन्दू नीतिशास्त्रमें सत्यका व्यापक अर्थ किया गया है। श्री वेदव्यासने महाभारतमें सत्यके तेरह अर्थोंकी कल्पना की है। हिन्दू शास्त्रों और पुराणोंको अुलट कर देखें तो हमें मालूम होगा कि परस्पर सर्वथा भिन्न तीन वस्तुओंका समावेश सत्य शब्दमें होता है।

पहली वस्तु: सत्यका अर्थ है यथार्थ कथन। जो बात जैसी हो, जिस रूपमें हम जानते हों अथवा जिस रूपमें हुअी हमने देखी हो, जिस रूपमें हमने अुसे समझा-बूझा हो, अुसे वैसी ही यथातथ कहना सत्य है।

दूसरी वस्तु: सत्यका अर्थ है 'अृतम्', सृष्टिका नियम अथवा किसी भी महाकार्यका विधान। 'सत्यसे ही सूर्य अुगता है', 'सत्यसे ही हवा चलती है', 'सत्यसे ही पृथ्वी विश्वको (सबको) धारण करती है', 'सत्यसे ही यह लोक चलता है', 'सत्य ही यज्ञकी प्रतिष्ठा है'— अित्यादि शास्त्र-वचनोंमें सत्यका अर्थ होता है अैसा नियम, जिसका अुल्लंघन नहीं किया जा सकता।

तीसरी वस्तु: सत्यका अर्थ है प्रतिज्ञा-पालन। सत्यका अर्थ है यह टेक कि अेक बार मुंहसे निकले हुअे बोलका पालन होना ही चाहिये; अैसी टेक कि अेक बार मुंहसे निकाला हुआ वचन हमें निगल नहीं जाना चाहिये। अिस सत्यके लिअे ही कर्णने अपने कुंडल अिन्द्रको दे दिये, अिस सत्यके लिअे ही राम वनवासको गये, अिस सत्यके लिअे ही हरिश्चन्द्रने अपने राज्यका दान कर दिया। यहां तक कि मातृभक्त पंच पांडवोंने माताके वचनको सत्य सिद्ध करनेके लिअे द्रौपदीके साथ विवाह करनेका निन्दनीय माना जानेवाला कर्म भी किया।

(आज हमारी सत्य और वफादारीकी कल्पना अधिक विशुद्ध हो गअी है। अपने पुत्र क्या प्राप्त करके लाये हैं यह जाने बिना ही 'पांचों भाअी समान रूपमें बांट लो' माताके मुखसे निकले हुअे अिस वचनको सत्य सिद्ध करनेके लिअे आज यदि कोअी पांच भाअी अेक स्त्रीसे विवाह करने लगें, तो हम अुन्हें सत्यद्रोही मूर्ख ही कहेंगे। सपनेमें ब्राह्मणको दिये हुअे अपने वचनको सच्चा सिद्ध करनेके लिअे प्रजाके स्वामित्वका संपूर्ण राज्य यदि प्रजा पर घोर अन्याय-अत्याचार करनेवाले किसी तामसी ब्राह्मणको कोअी राजा सचमुच दे दे, तो आज हम अुसे राजधर्मसे भ्रष्ट, श्रद्धाजड़ और पामर ही कहेंगे। खैर, यहां तो हम प्राचीन कल्पनाके अनुसार सत्य-नारायणकी कथाका रहस्य समझना चाहते हैं।)

जन-समुदायमें खास तौर पर दो वृत्तियां प्रबल होती हैं: लोभ और भय। अिन दो वृत्तियोंका लाभ अुठाकर सत्य-नारायणकी कथा रचनेवालेने सत्यकी महिमा गाअी है। सत्यका सेवन और कीर्तन करो, अिससे तुम्हें संतति, संपत्ति आदि सारी बातें मिल जायंगी, तुम्हारे संकट दूर होंगे और तुम्हारी मनोकामना परिपूर्ण होगी — यह हुआ लोभ। सत्यको भूलोगे, सत्यको छिपाओगे, तो तुरन्त ही तुम्हारे बाल-बच्चे मर जायंगे, तुम्हारा धन-धान्य नष्ट हो जायगा, तुम्हारा जमाअी डूब मरेगा; राजा यदि अन्यायसे किसीको जेलमें बन्द करेगा, तो अुसकी सत्ता नष्ट हो जायगी और अुस पर सब तरहके संकट आ पड़ेंगे — यह हुआ भय।

सत्यका व्रत सबके लिअे अेकसा फलदायी है। सत्य-पालन सब वर्णोंका धर्म है, यह दिखानेके लिअे अिस कथामें ब्राह्मण, राजा, वैश्य, ग्वाले और लकड़हारेको लाया गया है। अैसा लगता है कि अूपर बताये हुअे सत्यके तीनों अर्थ सत्यव्रतमें स्वीकार किये गये हैं। वैश्य साधु और अुसका जमाअी की हुअी प्रतिज्ञाओंको भूल जाते हैं, अिसलिअे अुन पर सत्यदेवका कोप होता है। अुसके फलस्वरूप चन्द्रकेतु राजा अुनके विरुद्ध हो जाता है। अिन अभागे ससुर-जमाअीकी स्त्रियोंके हृदयमें प्रतिज्ञा-पालनकी धर्मबुद्धि जाग्रत होती है, अिस कारण तुरन्त चन्द्रकेतु राजाके हृदयमें भी न्यायबुद्धि जाग्रत होती है। साधु और अुसका जमाअी चोरोंके डरसे दंडी साधुके सामने झूठ बोलते हैं, अिसलिअे हमारे कथाकार — अिस असत्य भाषणसे अुनका सर्वस्व नष्ट हो गया अैसा अुनका अनुभव देकर — विनाशके भय द्वारा अुन्हें सत्यनिष्ठ बनाते हैं। कलावती पति-दर्शनके मोहके कारण सत्यनारायण-व्रतके नियमका भंग करती है। तुंगध्वज राजा अपने अुच्च वर्णके गर्वसे और सत्ताके मदसे सत्यका अनादर करता है। अिसलिअे कलावतीका पति और तुंगध्वज राजाका राज्य नष्ट हो जाता है। परन्तु कलावतीका मोह और राजाका मद नष्ट होते ही अुनका सौभाग्य अुन्हें फिर प्राप्त हो जाता है, यह दिखाकर कथाकार लोगोंसे कहते हैं: भाअियो, जो सच हो वही बोलो; अपना वचन मत तोड़ो तथा समाज और प्रकृतिके सर्वव्यापी नियमोंको मत तोड़ो, अुनका अुल्लंघन मत करो। अिस प्रकार आचरण करोगे तो तुम्हारा अैहिक और पारलौकिक कल्याण अवश्य होगा, क्योंकि जो मनुष्य सत्यका पालन करता है वह:

सर्वान् कामान् अवाप्नोति
प्रेत्य सायुज्यम् आप्नुयात्।

अिस लोककाव्यमें सत्यको सर्व-संग-परित्यागी दंडीका रूप दिया गया है, यह भी ध्यानमें रखने जैसी बात है। अिसमें कविने बड़े सुन्दर ढंगसे यह सूचित किया है कि सत्यका अनुसरण करके चलनेसे समस्त वासनायें नष्ट होकर

मनुष्यमें संन्यासकी वृत्ति दृढ़ होती है और सत्यका आचरण करनेवाले मनुष्यमें आंतरिक वृत्तियों तथा बाह्य समाजका नियमन या दंडन करनेकी दंडी-शक्ति अुत्पन्न हो जाती है। सत्य-नारायणकी पूजामें सत्यके स्वरूप तथा महिमाको प्रकट करनेवाले कुछ अत्यंत अुदात्त श्लोक हैं। अुन्हें यहां देकर श्री सत्य-नारायणकी यथामति की हुअी अिस अुपासनाको मैं पूरा करूंगा।

नारायणः त्वमेवासि सर्वेषां च हृदि स्थितः।
प्रेरकः प्रेर्यमाणानां त्वया प्रेरितमानसः।
त्वदाज्ञां शिरसा धृत्वा भजामि जनपावनम्॥
नानोपासनमार्गाणां भावकृद् भावबोधकः।
त्वदधिष्ठानमात्रेण सैव सर्वार्थकारिणी।
तामेव त्वां पुरस्कृत्य भजामि हितकाम्यया॥
न मे त्वदन्यः त्रातास्ति त्वदन्यं न हि दैवतम्।
त्वदन्यं न हि जानामि पालकं पुण्यरूपकम्॥
नमस्ते देवदेवेश नमस्ते धरणीधर।
त्वदन्यः कोऽत्र पापेभ्यः त्रातास्ते जगतीतले॥

'वांछितार्थ-फलप्रद' अिस श्री सत्यनारायण-व्रतका और कथाका रहस्य जो पढ़ेगा अुसीको श्री सत्य-नारायणका कृपा-प्रसाद मिलेगा। यह संस्कृत भाषामें लिखा हुआ नहीं है अथवा आधुनिक है, अैसा मानकर यदि कोअी अिसका अनादर करेगा, तो अुसका सत्यनारायण-व्रत निष्फल जायगा। परन्तु यदि कोअी मनुष्य ध्यान और मननके साथ अिसे सुनकर सत्य-नारायणके व्रतका आचरण करेगा, तो वह:

सर्वदुःखेभ्यो मुक्तो भवति मानवः।
सर्वपापविनिर्मुक्तो दुर्लभं मोक्षमाप्नुयात्॥
अिह सद्यः फलं भुक्त्वा परत्रे मोक्षमाप्नुयात्।
धनधान्यादिकं तस्य भवेत् सत्यप्रसादतः॥
दरिद्रो लभते वित्तं बद्धो मुच्येत बन्धनात्।
भीतो भयात् प्रमुच्येत सत्यमेव न संशयः॥

कलियुगमें कोअी भी मनुष्य चाहे जैसी भली-बुरी कामनायें सिद्ध करनेके लिअे सत्य-नारायणका व्रत करने लगा। यह देखकर श्री महादेवने फलप्राप्तिके मार्गमें अेक मेख और चटखनी डाल दी है:

जो मनुष्य जितेन्द्रिय और सत्यवादी होगा, वही अुसे अुखाड़ कर अिस व्रतके फलका द्वार खोल सकेगा। 'अिति शम्'

१७

गजेन्द्र-मोक्ष

अीश्वर हमारा परम पिता है यह तो सब लोग मानते हैं, परन्तु हम सब भाअी-भाअी हैं अिस बातका विश्वास सबको नहीं होता। सर्वोदयमें विश्वास करनेवाला सत्याग्रही 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का नियम पालनेवाला होता है, अिसलिअे कोअी मनुष्य अुसका शत्रु नहीं होता। अिसका यह अर्थ नहीं कि कोअी सत्याग्रहीके प्रति शत्रुता नहीं रखता। अुसके अनेक शत्रु हो सकते हैं। धर्मके अनुसार चलनेवाला प्रत्येक मनुष्य अधर्मका आचरण करनेवाले मनुष्यके मार्गमें विघ्नरूप बनता मालूम होता है। फिर भी सत्याग्रही अपने मनमें किसीके लिअे प्रेमके सिवा दूसरा कोअी भाव नहीं रखता। जब वह अपने भाअीको कुवासनाके वश हुआ देखता है तब प्रेमसे अुसका विरोध जरूर करता है। समय आने पर प्रेम कठोर हो सकता है। प्रेममें दुर्बलताकी या मोहकी मृदुता नहीं होती। परन्तु सत्याग्रही विरोध करते हुअे भी अपने भाअीका भला ही चाहता है और अपना विरोध वह खुद कष्ट सहकर ही प्रकट करता है। जिस विरोधके मूलमें प्रेम रहता है, वह हमेशा सफल ही होता है। अिसमें देर भले ही लगे, परन्तु विजय तो प्रेमकी ही होती है। सच पूछा जाय तो अिसमें विरोधी पक्षकी भी विजय होती है। वह बेचारा जिस कुवासनासे घिरा हुआ रहता है अुससे वह मुक्त हो जाता है — अुसमें से वह अपनी आत्माको फिर प्राप्त कर लेता है। यह भी अेक असाधारण विजय है। सत्याग्रहका युद्ध धर्मयुद्ध होता है। अिसलिअे अुसका परिणाम सदा सबके लिअे शुभ और मंगलमय ही होता है। जब दो आदमी परस्पर विरोधी स्वार्थके वश होकर लड़ते हैं तब अेककी जीत और दूसरेकी हार होती है; अीश्वर तटस्थ रहकर देखता है और कर्मका नियम झगड़ेका निबटारा कर देता है। परन्तु जब अेक पक्ष स्वार्थको छोड़कर धर्मका आधार लेता है तब परमात्मा स्वयं अुसका पक्ष लेता है, क्योंकि परमात्मा सदा सत्यका पक्षपाती होता है। कठिन काम तो है स्वार्थको छोड़कर धर्मका पालन करना। अीश्वर धर्मनिष्ठ मनुष्यकी परीक्षा भी कुछ कम नहीं करता। अीश्वरकी नीति धर्मनिष्ठ तथा अुसका विरोधी — दोनोंका हित करनेकी होती है। अिस कारणसे धर्म-संग्रामकी अवधि भी बहुत लंबी होती है। धर्मनिष्ठ पक्ष जब निष्पाप बन जाता है तभी अुसे सफलता मिलती है। और सफलताका मुख्य भाग तो यह है कि विरोधियोंका विरोध शांत हो जाता

है और दोनों फिरसे पहले जैसे अेकप्राण भाअी भाअी बन जाते हैं। यही सिद्धान्त पुराणोंमें 'गजेन्द्र-मोक्ष' की कथामें बताया गया है।

अिन्द्रके दरबारमें हाहा और हूहू नामके दो गवैये भाअी थे। अुनके हृदयमें मत्सरने प्रवेश नहीं किया तब तक वे हिल-मिलकर रहते थे। परन्तु दोनोंके दुर्भाग्यसे अुनके मनमें स्पर्धा बढ़ गअी। दोनोंके मनमें यह भाव अुत्पन्न हुआ कि 'मैं ही श्रेष्ठ हूं, अिसलिअे श्रेष्ठ स्थान मुझे मिलना चाहिये।' अिन्द्रने दोनोंको समझा कर कहा: 'अीश्वरके यहां सब समान हैं। मैं तो तुम दोनोंमें कोअी भेद नहीं देख पाता।' फिर भी अुन गवैयोंको संतोष नहीं हुआ। अंतमें अिन्द्रने दोनों भाअियोंको देवल अृषिके पास भेज दिया। देवल अृषि महाज्ञानी थे, त्रिकाल-दर्शी थे। लेकिन पूर्णज्ञानी प्रायः मौन ही रहता है। अृषिका मौन देखकर अीर्ष्या और मत्सरसे भरे हुअे दोनों गवैये कहने लगे: 'बिलकुल मूर्ख है। कुछ भी नहीं समझता।' मुनिने मौन तोड़कर दयाभावसे कहा: 'तुम दोनों कैसे मूर्ख हो! स्पर्धा और असूयासे तुम्हारे दिमाग सड़ गये हैं। तुम्हारे भाग्यमें क्या लिखा है, यह तुम नहीं जानते। जानते होते तो अितना मत्सर न रखते। परमात्माने हर मनुष्यका भविष्य अुससे गुप्त रखा है; फिर भी कर्मका सिद्धान्त समझानेके लिअे जरा कठोर बनकर मैं तुम्हारा जितना भविष्य जानता हूं अुतना तुम्हें सुना देता हूं। भाअी-भाअी होकर भी तुम अेक-दूसरेसे अीर्ष्या करते हो, अिसका परिणाम यह होगा कि तुम स्वर्गसे नीचे गिरोगे और चित्रकूट पर्वतके पास पशुयोनिमें जन्म लोगे। अेक बनेगा जंगली हाथी और दूसरा बनेगा सरोवरमें रहनेवाला मगर। वहां तुम अपने वैरका पशुभावसे पोषण करोगे; भाअी-भाअी न रहकर शत्रु बन जाओगे।'

बस, अितना सुनते ही दोनोंका मद अुतर गया। दोनोंको क्षणिक पश्चात्ताप हुआ। दोनों अृषिके चरणोंमें लोट कर प्रार्थना करने लगे: 'आप हम पर दया नहीं करेंगे?' अृषिने कहा: 'कर्मका नियम अटल है। अिसमें किसीकी दया काम नहीं आती। किन्तु कर्मका नियम कल्याणमय भी है। वह जितना कठोर है अुतना ही दयामय भी है। कर्मका फल दंडरूप नहीं होता। अुसमें बिगड़े हुअे आदमीको सुधारनेकी शक्ति होती है। तुम दोनोंमें से अेकके हृदयमें पश्चात्ताप जाग्रत रहेगा और वह धर्मके मार्ग पर चलेगा। संकटके समय अुसे अीश्वरका स्मरण होगा। दूसरेके हृदयमें अीर्ष्याकी आग धायं-धायं जलती रहेगी। वह अुत्तरोत्तर नीचे ही गिरता जायगा। परन्तु अुसका भी अुद्धार होगा। अपने भाअीका विरोध करते करते अुसके हृदयमें भाअीकी श्रद्धाका संचार होगा, अुसमें भी आस्तिकता अुत्पन्न होगी और आस्तिकताके बल पर अुसका भी अुद्धार हो जायगा।'

भविष्यका अितना परदा खोल कर मुनिराज फिर मौनमें डूब गये और हाहा तथा हूहू अपने कर्मोंके कारण स्वर्गसे नीचे गिर गये। अेक बना राजाका हाथी और दूसरा बना पासके सरोवरका बड़ा मगर (ग्राह)। दोनों अपने पूर्वजन्मको भूल गये, अपने भ्रातृत्वको भूल गये। मगर हाथीको खाना चाहता था और हाथी मगरसे डरता था। हाथी अपने पशु-जीवनके अनुसार विलासमें डूब गया। शत्रु कहां है और शत्रुका बल किसमें है, यह बात विलासके नशेमें चूर हाथी भूल गया और रूप-यौवनवती हथिनियोंके साथ क्रीड़ा करनेके लिए सरोवरमें अुतरा। ग्राहको तो वही मिल गया जो वह चाहता था। अुसने गजराजका पांव पकड़ लिया। गज छूटनेके लिअे चिंघाड़ने लगा। हथिनियां भी लाचार बन कर चिंघाड़ने लगीं। लेकिन पानीमें हाथीका बल कितना चलता? हाथी जमीनकी ओर दौड़ने लगा और मगर अुसे पानीकी ओर खींचने लगा — 'गजो ह्याकर्षते तीरं ग्राहश्चाकर्षते जलम्।' दोनोंका यह युद्ध सदियों तक चला (दिव्यवर्ष-सहस्रकम्)। अंतमें अव्यक्त-मूर्ति ग्राहने विशाल गजको पंकज-वनमें — कीचड़में खींच लिया। अब गजके लिअे बचनेका कोअी मार्ग नहीं रह गया। अुस समय गजको यह ज्ञान हुआ कि अब मुझे केवल हृदयस्थ परमात्मा ही बचा सकता है। गजराज न तो शास्त्र पढ़ा था, न वह वेदविद् था। परन्तु अुच्च कुलमें जन्मा हुआ होनेके कारण वह नारायण-परायण था। अुसने नारायणका ध्यान किया। कविने गजराजके ध्यानका गीर्वाण-वाणीमें अिस प्रकार वर्णन किया है:

अनाश्रयाय देवाय निःस्पृहाय नमो नमः।
नमो जगत्प्रतिष्ठाय गोविन्दाय नमो नमः।
विश्वेश्वराय देवाय शिवाय हरये नमः॥

नारायणाय परलोक-परायणाय . . .
कालाय लोकैकनाथाय।
हितात्मकाय आर्तिविनाशनाय नमस्करोमी।

अच्युतं आत्मवन्तं प्रभुं प्रपद्ये।
सनातनं लोकगुरुं नमामि॥

शरण्यं शरणार्तानां प्रपद्ये भक्तवत्सलम्।
प्रपद्ये मुक्तसंगानां यतीनां परमां गतिम्॥

अेकाय लोकनाथाय परतः परमात्मने।
नमः सहस्रशिरसे अनन्ताय नमो नमः॥

ध्यान समाप्त होते ही आत्मशक्तिका आविष्कार हुआ; गजराजके हृदयमें श्रद्धाका पूर चढ़ा।

तावद् भवति मे दु:खं चिन्तासंसारसागरे।
यावत्कमलपत्राक्षं न स्मरामि जनार्दनम् ।।

गजराज पानीमें पूरी तरह डूब गया था। सांस लेनेवाली सूंड़का अग्र-भाग पानीके अूपर रह गया था। अुससे अेक कमल तोड़कर गजेन्द्रने भक्तिभावसे अीश्वरको अर्पण किया। कमल अनासक्तिका प्रतीक है। कीचड़में अुसका जन्म होता है; पानीमें अुसका निवास है। फिर भी वह शुद्ध और पवित्र रहता है। पानीमें रहकर वह पानीसे अलिप्त रहता है और प्रकाशमान प्रतापशाली सूर्यका ध्यान करता है। कमलकी वृत्ति धारण करके गजराजने अीश्वरको कमल अर्पण किया, अिसलिअे भगवानको अुसकी मददके लिअे दौड़ना पड़ा। परमात्माने गजेन्द्र और ग्राह दोनोंको कीचड़से बाहर खींच लिया।

पृथ्वी पर आते ही ग्राहकी शक्ति तथा अुसकी दुर्बुद्धि नष्ट हो गअी। स्वार्थके छूट जानेसे अुसे भी पश्चात्ताप हुआ। अप्रमेय परमात्माने दोनोंका अुद्धार किया। भगवानके दर्शनके बाद भला किसकी दुर्गति हो सकती है? दोनोंके हृदय पवित्र हो गये। अुन्हें अिस बातका भान हो गया कि हम अेक ही परम पिताके पुत्र हैं; भाअी भाअी हैं; समान हैं; एक ही हैं।

दृढ़बद्धधर्ममूलो वेदस्कन्धः पुराणशास्त्राढ्यः।
क्रतुकुसुमो मोक्षफलो मधुसूदनपादपो जयति ।।*

महाभारतकारने लिखा है: गजेन्द्र-मोक्षकी यह कथा सुननेसे दुष्ट स्वप्नका नाश होता है। क्यों न हो? अीश्वर भले-बुरे दोनोंका कल्याण करता है। दोनों अपने अपने ढंगसे अीश्वरकी चरण-पूजा करते हैं।

सुरासुरैरर्चितपादपद्मं सनातनं अेकगुरुं नमामि।

मार्च, १९२३

---

* धर्म जिसका दृढ़ मूल है, आध्यात्मिक ज्ञान जिसका तना है, प्राचीन अितिहास जिसकी शाखा है, स्वार्थत्यागपूर्ण पुरुषार्थ जिसका पुष्प है और मुक्ति — स्वतंत्रता जिसका फल है, अैसे परमात्मा-रूपी कल्पवृक्षकी सदा जय है।

१८

स्वाद-संयम

['हमारे शास्त्र स्वादेन्द्रियके संयम पर बहुत जोर देते नहीं लगते'— गांधीजीके अिस वचनसे प्रेरित होकर काकासाहबने स्वादेन्द्रियके संयम पर कुछ सुन्दर शास्त्र-वचन भेजे हैं। अिन्हें भेजते हुअे काकासाहब लिखते हैं: 'आज जो शास्त्र अधिक रूढ़ हैं, अुनके बारेमें बापूजीकी यह टीका सही है। बड़ेसे बड़ा पुण्य ब्रह्म-भोजनमें है, अिस प्रकार लोगोंको समझा कर रोज मिष्टान्न खाने-वाले ब्राह्मण स्वाद-संयमकी बात न करें यह स्वाभाविक ही है।'

गांधीजीका यह वचन ब्रह्मचर्यको ध्यानमें रखकर कहा गया था। गांधी-जीका कहना था कि ब्रह्मचर्यकी नींव बचपनमें ही डाली जानी चाहिये और स्वादेन्द्रियके संयमकी प्रतिज्ञा लिये बिना यह नींव कच्ची ही रहती है। जितना जोर हम ब्रह्मचर्य पर देते हैं अुतना ही जोर आरंभसे हमें स्वादेन्द्रिय-संयम पर भी देना चाहिये। गांधीजीका यह वचन यहां अुद्धृत करने जैसा है: 'शैतानके लिअे पेटमें से प्रवेश करना आसान होता है। अिस द्वारको खुला रखा कि समझ लो सब पापोंके लिअे सारे द्वार खुले कर दिये गये।'

काकासाहब भी अिन अुद्धरणोंके अंतमें स्वीकार करते हैं कि बाल-ब्रह्म-चारियोंके लिअे गांधीजी स्वादेन्द्रिय-संयम पर जितना जोर देते हैं अुतना जोर शास्त्रोंमें नहीं दिया गया है। परन्तु स्वादेन्द्रियको बहकानेसे जो अनर्थ-परम्परा चालू होती है अुसका वर्णन यद्यपि यतिको ध्यानमें रख कर ही किया गया है, फिर भी वह सब लोगोंके लिअे हृदयमें अंकित करने जैसा है। अिसलिअे काका-साहबके भेजे हुए शास्त्र-वचन हम यहां देते हैं।

यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि जहां अति-आहारको वर्ज्य कहा गया है वहां स्वादेन्द्रिय-संयमकी ही बात कही गअी है, क्योंकि अति-आहारके मूलमें स्वाद ही है।
— महादेव देसाअी]

अनारोग्यं अनायुष्यं अस्वर्ग्यं चातिभोजनम्।
अपुण्यं लोक-विद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत्॥
नोच्छिष्टं कस्यचिद् दद्यात् नाद्याच्चैव तथांतरा।
न चैवात्यशनं कुर्यात् . . . . ॥

— मनुस्मृति

अति-भोजन आरोग्य, आयुष्य और स्वर्ग तीनोंको असंभव बना देता है, वह अपुण्य है, जगतमें निन्दित है, अिसलिअे त्याग करने योग्य है।

किसीको जूठा अन्न नहीं देना चाहिये; असमय नहीं खाना चाहिये तथा अति-आहार नहीं करना चाहिये।

यमस्मृतिमें नीचेके वचन आये हैं:

> अन्नसंगात् बलं दर्पो विषयासक्तिरेव च।
> कामः क्रोधः तथा लोभः पतनं नरके ध्रुवम्।।
> तावज्जितेन्द्रियो न स्याद् विजितान्येन्द्रियः पुमान्।
> न जयेद्रसनं यावज्जितं सर्वं जिते रसे।।

अन्नकी आसक्तिसे बल, अहंकार, विषयासक्ति, काम, क्रोध और अंतमें निश्चित ही नरक-पात होता है। अन्य अिन्द्रियोंको जीत लेने पर भी जब तक मनुष्य रसको नहीं जीतता तब तक वह जितेन्द्रिय नहीं कहा जाता। जिसने रसको जीत लिया अुसने सब-कुछ जीत लिया।

मनुस्मृतिमें दूसरा वचन भी है:

> अेकं कालं चरेत् भैक्षं न प्रसज्जेत विस्तरे।
> भैक्षे प्रसक्तो हि यतिर् विषयेष्वपि सज्जति।।
> अलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत्।
> प्राणयात्रिकमात्रः स्यान् मात्रा संगाद्विनिर्गतः।।

अेक जून भिक्षा मांग लेनी चाहिये, बहुत पानेकी अिच्छा नहीं रखनी चाहिये। भिक्षा प्राप्त करनेमें आसक्त यति विषयमें भी फंस जाता है।

अलाभ होने पर विषाद नहीं करना चाहिये, लाभ होने पर प्रसन्न नहीं होना चाहिये; अनेक प्रपंचोंका परिग्रह छोड़कर केवल शरीर-यात्रा चलानेका ही प्रपंच रखना चाहिये।

आगे चलकर मनुस्मृति कहती है:

> अल्पान्नाभ्यवहारेण रहःस्थानासनेन च।
> ह्रियमाणानि विषयैर् अिन्द्रियाणि निवर्तयेत्।।
> अिन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च।
> अहिंसया च भूतानां अमृतत्वाय कल्पते।।

अल्प-अन्न खाकर, अेकांत स्थान तथा आसनसे, विषयों द्वारा खींची जाने-वाली अिन्द्रियोंको (विषयोंसे) मोड़ लेना चाहिये।

अिन्द्रियोंके निरोधसे, राग-द्वेषके क्षयसे तथा भूतोंके विषयमें अहिंसाका विकास करनेसे अमृतत्व प्राप्त किया जाता है।

अब विष्णुस्मृतिको देखिये:

> ना स्वादयेद्रसं तत्र जिह्वया धर्मवित् क्वचित्।
> अनेन विधिना हुत्वा पंचप्राणाहुतिः पृथक्।।

शेषं औषधवत्प्राश्य स्थित्यर्थं श्रुतिशासनात्।
मृष्टामृष्टे न कुर्वीत रागद्वेषौ च चेतसा॥
मिताशनो भवेन् नित्यं भिक्षुर्मोक्षपरायणः।
कामदर्पादयो दोषाः न भवन्ति मिताशिनः॥

धर्मको जाननेवाला (अन्न खाते समय) जीभसे रसका स्वाद न ले। अिस विधिसे अलग अलग पंच-प्राणाहुतियां देकर बाकीका अन्न श्रुतिके शासनके अनुसार शरीर-निर्वाहके लिअे केवल औषधिकी तरह खाना चाहिये। अुसमें कच्चे या पके हुअेका, स्वादिष्ट या अस्वादिष्टका, विचार नहीं करना चाहिये तथा मनसे राग-द्वेष नहीं करना चाहिये।

मोक्ष-परायण भिक्षुको नित्य मिताहारी रहना चाहिये। मिताहारी मनुष्य काम, क्रोध आदि दोषोंसे मुक्त रहता है।

खानेमें कौनसा अन्न पसंद किया जाय, अिस विषयमें देखिये:

हितं मितं सदाऽश्नीयाद् यत्सुखेनैव जीर्यते।
धातुः प्रकुप्यते येन तदन्नं वर्जयेद् यतिः॥

सदा हितकारी और मित आहार खाना चाहिये, सरलतासे पचाया जा सके अैसा ही आहार खाना चाहिये। जिस अन्नसे धातु (वात, पित्त, कफ) का प्रकोप हो वैसे अन्नका यतिको त्याग करना चाहिये।

दत्तात्रेय कहते हैं:

आत्मसंमितम् आहारं आहरेद् आत्मवान् यतिः।
अत्यंतक्षुधितस्यापि समाधिर् नैव जायते॥

जितात्मा यतिको आत्माके अनुकूल आहार करना चाहिये। अत्यंत क्षुधित (भूखा) रहनेवालेको भी समाधि सिद्ध नहीं होती।

व्यासजी कहते हैं:

नाहारं चिन्तयेत् प्राज्ञः धर्ममेकं तु चिन्तयेत्।

समझदार मनुष्यको आहारका विचार न करके केवल धर्मका ही विचार करना चाहिये।

श्रुति-वचन अिस प्रकार है:

औषधवत्प्राश्नीयात्प्राणसंधारणार्थं यथा मेदोवृद्धिर्न जायते।

केवल प्राणोंको टिकाये रखनेके लिअे औषधकी तरह अन्न खाया जाय; अिस प्रकार खाया जाय कि मेद अर्थात् चरबीकी वृद्धि न हो।

पराशरका श्लोक तो स्पष्ट ही है:

अन्नदोषेण चित्तस्य कालुष्यं सर्वदा भवेत्।
कलुषीकृतचित्तानां धर्मः सम्यङ् न भासते॥

अन्नके दोषसे चित्त सदा कलुषित होता है; और कलुषित बने हुअे चित्त-वालोंको धर्मका सही भान नहीं होता।

वायुपुराणमें तांबूल (पान) के बारेमें लिखा है:

द्वावेतौ समवीर्यौ तु सुरा तांबूलमेव च।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन तांबूलं वर्जयेत् यतिः॥

सुरा और तांबूल दोनोंका अेकसा प्रभाव होता है, अिसलिअे सुराकी तरह तांबूलका भी यतिको हर प्रयत्नसे त्याग करना चाहिये।

मनुस्मृतिकी सुन्दर दलील लीजिये:

अिन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम्।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम्॥

जिस प्रकार चमड़ेके पात्रमें (पखालमें) अेक भी छेद हुआ कि अुसमें से सारा पानी झर जाता है, अुसी प्रकार अेक भी अिन्द्रियका पतन हुआ कि मनुष्यकी संपूर्ण प्रज्ञाका पतन हो जाता है।

शंखस्मृतिमें वानप्रस्थके विषयमें यहां तक कहा गया है:

नाग्निशुश्रूषया क्षान्त्या स्नानेन विविधेन च।
वानप्रस्थो दिवं याति याति भोजनवर्जनात्॥

अग्निसेवासे, क्षमासे, विविध तीर्थोंके स्नानसे भी वानप्रस्थ स्वर्गमें नहीं जाता; भोजन-त्यागसे ही वह स्वर्गमें जाता है।

वानप्रस्थ वृद्ध होता है। वह विषयोंका त्याग करे अिससे पहले विषय ही अुसका त्याग कर देते हैं। अेकमात्र रसेन्द्रिय ही अुसकी जाग्रत रहती है। वह तो झरती ही रहती है। रसेन्द्रियका संयम सबसे महत्त्वपूर्ण है, अैसा मान कर ही अूपरका श्लोक रचा गया होगा।

मुझे यह स्वीकार करना चाहिये कि विद्यार्थी ब्रह्मचारीके विषयमें स्मृति-योंमें आहारके संयमके बारेमें कुछ कहा ही नहीं गया है। बढ़ते हुअे शरीरकी जितनी मांग हो अुतना आहार अुसे मिलना ही चाहिये — 'यथेच्छं ब्रह्म-चारिणाम्।' गृहस्थ लोग मोक्षमार्गी, अत्यंत संयमी, नहीं होते। अिसलिअे वान-प्रस्थ और संन्यासियोंके विषयमें कहते समय ही स्वादजयकी बातें आती हैं।

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥

(रघु-राजाओंका वर्णन करते हुअे कवि कहते हैं: वे बचपनमें विद्याभ्यास करते थे, यौवनमें विषयोंका सेवन करते थे, वृद्धावस्थामें मुनिवृत्तिवाले होते थे और अंतमें योगसे शरीरका त्याग करते थे।)

कालिदासकी अिन पंक्तियोंके अनुसार ही हमारा सामाजिक आदर्श रहा है; फिर भी हमारे शास्त्रकारोंने बार-बार यह बात कही है कि मोक्षके लिअे कामको जीतना और कामको जीतनेके लिअे रसको जीतना आवश्यक है।

व्यासजी कहते हैं:

काम अेव मनुष्याणां पिधानं ब्रह्मबोधने।
तस्मात्कामं त्यजन्धीरो ज्ञानमाप्नोति मोक्षदम्॥

काम ही मनुष्यके ब्रह्मज्ञानमें बाधक होता है। अतः कामको त्याग कर ही धीर पुरुष मोक्ष देनेवाला ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

पत्र पूरा करते करते श्री शंकराचार्यका यह सुन्दर वचन याद आ गया:

क्षुद्व्याधिश्च चिकित्स्यताम्
तदुदितं भिक्षौषधं गृह्यताम्।
स्वाद्वन्नं न तु याच्यताम्
विधिवशात्प्राप्तेन संतुष्यताम्॥

क्षुधाको अेक व्याधि (रोग) मानना चाहिये और अुसके लिअे बताअी हुअी औषधि भिक्षान्न ग्रहण करना चाहिये। परन्तु स्वादिष्ट अन्न न मांग कर विधिवशात् प्राप्त होनेवाले अन्नसे संतोष करना चाहिये।

१९

सप्तपदी

सप्तपदीमें वैवाहिक जीवनके सभी आदर्श संपूर्ण रूपमें व्यक्त होते हैं। जीवनके आदर्शको अधिकाधिक अूंचा बनानेका परिश्रम करनेवाले लोगोंने सप्तपदीके मंत्रोंसे अनेक अच्छे अच्छे अर्थ निकाले हैं। वे सब सच्चे हैं, स्वीकार करने जैसे हैं; परन्तु अुन सबका आधार अिन मंत्रोंके सीधे शब्दार्थ पर है:

१. 'ॐ अीश अेकपदी भव। सा मां अनुव्रता भव।' वैवाहिक जीवन चलानेके लिअे पति-पत्नी दोनोंमें अुत्साह होना चाहिये। अेक-दूसरेको प्रेरणा देनेवाला चैतन्य होना चाहिये। सगे-सम्बन्धी, अिष्ट-मित्र, अतिथि-अभ्यागत, वृद्ध और बालक, नौकर-चाकर तथा अन्य आश्रित जन — सबका आधार गृहस्थाश्रम पर है। अिसलिअे पति-पत्नीको घरकी समृद्धि बढ़ानेके लिअे सदा तैयार रहना चाहिये। अिसमें भी कमाअी करनेकी जिम्मेदारी पतिकी है, अिसलिअे सुख-दुःखमें अपने अुत्साहको बनाये रखनेके लिअे वह अपनी पत्नीसे सहायता मांगता है। पुरुषार्थ करनेकी जिम्मेदारी मेरी है, परन्तु तेरी सहायता मुझे हमेशा ही चाहिये। जीवन-यात्रामें कांटे आयेंगे, कष्ट आयेंगे, अिसलिअे मैं आगे चलूंगा, तू मेरे पीछे पीछे आना। मैं जिन व्रतोंका पालन करूं, अुनका पालन तू भी करना। हमारा आदर्श अेक रहेगा। अिसीसे हमारा जीवन अेकरूप बनेगा। अैसा कह कर पति सर्वव्यापी परमात्मासे प्रार्थना करता है कि वह पति-पत्नी दोनोंको मार्ग दिखाये।

'अीश' का अर्थ है प्रेरणा। अुसीके बल पर घर-गृहस्थीकी गाड़ी चलती है।

२. 'ॐ अूर्जे द्विपदी भव।' अूर्जका अर्थ है शक्ति, शारीरिक सामर्थ्य। विवाह-सम्बन्धसे शारीरिक तथा दूसरी शक्तियां बढ़नी चाहिये। बड़े परिवारका भार अुठानेके लिअे पति-पत्नी दोनोंमें सब प्रकारकी शक्ति आवश्यक है। गृहस्थाश्रममें परस्पर आकर्षणके साथ अेक-दूसरेकी शक्ति बढ़ानेकी प्रवृत्ति भी होनी चाहिये।

३. 'ॐ रायस्पोषाय त्रिपदी भव।' विवाहका तीसरा आदर्श है धन-धान्यकी समृद्धि। गृहस्थाश्रम पर ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास तीनों आश्रमोंका अवलम्बन है, अतः प्रत्येक गृहस्थीको धन-धान्यकी समृद्धिके लिअे प्रयत्न करना ही चाहिये। जिस प्रकार धन-धान्यकी आवश्यकता है अुसी प्रकार ज्ञान, कुशलता और हर प्रकारके शुभ संस्कारोंकी भी आवश्यकता है। गृहस्थियोंको अिन सबके लिअे सदा ही प्रयत्नवान रहना चाहिये।

४. 'ॐ मायोभव्याय चतुष्पदी भव।' जो लोग यह समझते हैं कि विवाह केवल अेक-दूसरेके सुखके लिअे ही है, अुन्हें यह जानना चाहिये कि आपसमें प्रेमकी गहरी भावना, सब प्रकारका सामर्थ्य तथा धन्य-धान्य और ज्ञान-कुशलता — अितना प्राप्त करनेके बाद ही और अिन तीनों बातोंकी व्यवस्था तथा वृद्धि करनेके बाद ही मनुष्य सुखकी कामना कर सकता है और अुसके योग्य भी बन सकता है। अिसीलिअे विवाहके सात अुद्देश्योंमें सुख-संतोषको केन्द्रस्थानमें रखा गया है।

जिस प्रकार त्रिविध तैयारी करनेके बाद ही सुख भोगनेके लिअे मनुष्य तैयार हो सकता है, अुसी प्रकार अिस सुखसे तीन प्रकारके अिष्ट परिणाम निकलने चाहिये।

५. 'ॐ प्रजाभ्यः पंचपदी भव।' प्रजाका अर्थ है संतान और समाज। गृहस्थाश्रम अिनके हितके लिअे होना चाहिये। विवाहकी संतान संस्कारी हो, सुशिक्षित हो, तो ही माता-पिताको अिहलोक और परलोकमें, पारिवारिक जीवनमें और सनातन सामाजिक जीवनमें स्थिरता प्राप्त हो सकती है। अुपनिषदोंमें कहा गया है कि जो संतान अच्छी तरह सुशिक्षित और सुसंस्कारी होती है, वही माता-पिताको और दूसरे पितरोंको अुत्तम लोक प्राप्त कराती है, अुन्हें सद्गति अर्पण करती है। 'पुत्रं अनुशिष्टं लोक्यं आहुः।'

अिसके बादका आदर्श वैवाहिक जीवनके लिअे अत्यंत आवश्यक है। अिस आदर्शकी रक्षा और पालन हो तो ही विवाहित जीवनकी सफलता सिद्ध हो और अुसकी सुगंध अंत तक टिकी रहे।

६. 'ॐ ऋतुभ्यः षट्पदी भव।' वर्षमें जैसे अेकके बाद दूसरी, छह ऋतुएं आती हैं और सारी सृष्टि अिन ऋतुओंके अनुसार अपने जीवनमें परिवर्तन करती है, वैसे ही पति-पत्नीको भी जीवनकी ऋतुओंमें होनेवाले परिवर्तनोंके अनुसार नित-नूतन ढंगसे अेक-दूसरेके लिअे अनुकूल बनना चाहिये। व्यापार-व्यवसायमें मूल करार पर ही दृढ़तासे डटे रहनेकी जरूरत होती है, जब कि विवाह-सम्बन्धमें अेक-दूसरेके अनुकूल बननेकी जरूरत होती है। युवावस्थाके खेलाड़ीपनमें दोनों अेक-दूसरेके साथ जैसे घुलमिल जाते हैं अुसी प्रकार प्रौढ़ होते ही दोनों अेक-दूसरेकी प्रौढ़ रसिकताके अनुकूल बन जाते हैं। अिसके बाद जीवन समृद्ध होते होते अेकमें आर्य-गंभीरता आने लगी कि तुरन्त ही दूसरेको भी अुसके अनुकूल प्रसन्न-गंभीरता अपने भीतर बढ़ानी चाहिये। परेशानीके समय जो पत्नी पतिको धीरज बंधाये, दुःखके समय अुसे सान्त्वना दे, पराक्रम करनेके अवसर आने पर अुसे प्रोत्साहन दे, पतिकी विजयमें आनंद व्यक्त करे और धर्माचरणमें पूरी तरह अुसका साथ दे वही सह-धर्मिणी है। और जब जीवनके परिपक्व होने पर अेक पक्ष विरक्ति अनुभव करे अुस समय रामकृष्ण परमहंसके लिअे जिस प्रकार अुनकी

पत्नी शारदा माता अनुकूल बन गओीं अुसी प्रकार पत्नी मोक्षमार्गमें भी पतिकी साधना-सहचरी बन जाय, तो कहा जायेगा कि अुनके विवाहका परिपूर्ण अुत्कर्ष हुआ।

७. 'ॐ सखा सप्तपदी भव।' जीवन भर जिस पत्नीको पतिका अनुसरण ही करना है, अुस पत्नीके अनुयायी या गुलाम मान लिये जानेका डर रहता है। अिस डरको दूर करनेके लिअे परस्पर समानताका द्योतक सखाभाव विवाहका सर्वश्रेष्ठ और चरम अुद्देश्य माना गया है। सख्य अथवा समानता किसीका अधिकार नहीं है। जहां समृद्ध अैक्य है वहां समानताकी जिद हो ही नहीं सकती। सख्यके मूलमें परस्पर आदर और भक्ति होनी चाहिये। पतिको पत्नीके विरुद्ध स्वाभिमानकी भावनाका विकास न करके, व्यवहारमें आश्रयदाताकी स्थिति अनुभव करते हुअे भी, पत्नीके प्रति भक्तकी वृत्ति ही धारण करनी चाहिये। अिस प्रकार अेक-दूसरेके अुपासक बन जानेसे दोनोंको जीवनमें अपार आनंद तो प्राप्त होता ही है, साथ ही दोनोंका अखंड सहवास होने पर भी विवाह-सम्बन्धमें कभी बासीपन नहीं आता। न तो थकान मालूम होती, न अूब महसूस होती। जिस प्रकार अुषा प्रतिदिन आने पर भी अपनी प्रसन्नताको बनाये रखती है अुसी प्रकार विवाहमें भी पति-पत्नीको नये नये आकर्षण और नये नये संतोष निरन्तर प्राप्त होते ही रहते हैं। जिस सम्बन्धसे अैसी नित्य-नूतनता, प्रसन्नता और जीवंत शांति प्राप्त होती है, वही सम्बन्ध सच्चा विवाह है। अुसीसे सब प्रकारके कल्याण सिद्ध होते हैं। विवाह-सम्बन्धको आदि, मध्य और अंत तीनों स्थितियोंमें सुखमय, शांतिमय और कल्याणमय बनाया जा सकता है।

अैसे आदर्शका पालन करनेवाली पत्नी अपनी सेवा, नम्रता और प्रसन्नताके द्वारा केवल पतिकी ही नहीं परन्तु सास-ससुर, ननंद-भौजाओी सबकी आदरणीय सम्राज्ञी बन जाती है और अुसके अुत्पन्न किये हुअे वातावरणके कारण मनुष्य तथा देव सभी संतुष्ट होते हैं।

जुलाओी, १९३९

२०

शास्त्रोंका अुपयोग

जिस प्रकार श्वास लेनेके लिअे किसीसे पूछना नहीं पड़ता, भारतमें रहनेके लिअे जिस प्रकार हमारे लोगोंको किसीकी अिजाजत नहीं लेनी पड़ती, अुसी प्रकार सनातन धर्ममें रहनेके लिअे किसीकी मेहरबानीकी जरूरत नहीं होती। सनातन धर्म पर किसीका विशेष अधिकार नहीं है। वह सभीका है। सब हिन्दू अुसमें रह सकते हैं और अुससे लाभ अुठा सकते हैं।

सनातन धर्मके ॠषि-मुनियोंने धर्मशास्त्र रचे हैं और वे संस्कृत भाषामें लिखे गये हैं। अिसलिअे संस्कृत भाषा पवित्र मानी जाती है। लेकिन संस्कृत भाषाका अर्थ सनातन धर्म नहीं है। अकेले शास्त्रोंको भी सनातन धर्म नहीं कहा जा सकता। हिन्दू जातिके अर्थात् ब्राह्मणसे लेकर अंत्यज तककी सारी जातियोंके समझदार और पवित्र पुरुषोंका जीवन और चिन्तन ही सनातन धर्म है।

अैसे पवित्र पुरुष अत्यन्त नम्र बनकर शिष्यभावसे प्राचीन ॠषि-मुनियोंके वचनोंको स्वीकार करते आये हैं। वे ॠषि-मुनियोंके वचनोंके आधार पर अपना जीवन बनानेकी प्रेरणा प्राप्त करते आये हैं। अिसीलिअे शास्त्रोंका अितना महत्त्व है। और वह अुचित भी है; क्योंकि ॠषि-मुनि स्वयं धर्मप्राण थे -- अर्थात् वे धर्मके लिअे ही जीते थे। वे अीश्वर-प्राप्तिके लिअे प्रयत्न करते थे और प्राणी-मात्रका कल्याण चाहते थे।

धर्मका विचार करना हो तब पहले धर्मनिष्ठ, धर्म-परायण और धर्मप्राण लोगोंके वचनोंसे धर्मकी दृष्टि प्राप्त करनी चाहिये। अिसीके लिअे और अितना ही धर्मशास्त्रोंका अुपयोग है।

अीश्वरने सबको आंखें दी हैं, सभीको बुद्धि दी है, प्रत्येकको अुसके अपने लिअे और अुसके बालबच्चोंके लिअे स्वतंत्र जिम्मेदारी भी अीश्वरने दी है। मनुष्य कितना भी अयोग्य क्यों न हो, फिर भी अुसके बच्चोंके पालन-पोषणकी जिम्मेदारी अुसके हाथोंमें सौंपने जितना विश्वास तो अीश्वर अुस पर रखता ही है। यही बताता है कि मनुष्य अपनी और कुछ हद तक दूसरोंकी जिम्मेदारी अपने सिर लेनेका अधिकारी अवश्य है। कोअी भी मनुष्य अिसलिअे परतंत्र नहीं रह सकता कि वह मंदबुद्धि है, अनपढ़ है, पिछड़ा हुआ है या संस्कारहीन है। शास्त्र मनुष्यको परतंत्र बनानेके लिअे नहीं किन्तु अुसे स्वतंत्रताके अधिक योग्य बनानेके लिअे हैं। अिसलिअे शास्त्र राजा या कानूनका स्थान नहीं लेते, परन्तु

माता और गुरुका स्थान लेते हैं। जहां राजा और कानूनके पास जानेका प्रत्येकको अधिकार हो वहां माता और गुरुके पास जानेका अधिकार सिद्ध करना जरूरी नहीं होता। शास्त्रोंके अध्ययनका अधिकार ब्राह्मणोंको ही है—अैसी मान्यता यदि समाजमें फैली हुअी हो, तो अिसका कारण यही है कि शास्त्रोंके ज्ञानके लिअे जो भाषाज्ञान, जो धैर्य तथा जो अुत्साह चाहिये वह ब्राह्मणोंमें है और साधारण लोगोंमें नहीं है। ब्राह्मणोंकी आजीविका ही शास्त्रोंका अर्थ करने पर निर्भर रहती है, अिसलिअे यदि वे शास्त्रोंका अध्ययन न करें तो कहां जायें? परन्तु जब किसी भी बातका मनुष्यको अेकाधिकार मिल जाता है तब वह आसानीसे अभिमानी और आलसी बन जाता है। ब्राह्मणोंका भी अैसा ही हुआ।

यह बात सच है कि शास्त्रोंकी रक्षा करने, शास्त्रोंका प्रचार करने और शास्त्रोंका अधिकाधिक गहरा अध्ययन करनेका कार्य ब्राह्मणोंको सौंपा गया है। लेकिन समाज जाग्रत रहेगा तो ही ब्राह्मण अपना यह कर्तव्य अच्छी तरह पूरा करेंगे। ब्राह्मणोंको जो दक्षिणा और आजीविका मिलती है, वह केवल दूसरी जातियोंके लोगोंको आशीर्वाद देनेके लिअे ही नहीं मिलती। अुन्हें स्वयं ज्ञानवान और चरित्रवान रहकर सब लोगोंको पवित्रताकी और कौशल्यकी शिक्षा देनी चाहिये, लोगोंको सदाचारका ज्ञान देना चाहिये। विदेशी लोगोंके आक्रमणसे प्रजाकी रक्षा करनेके लिअे जिस प्रकार क्षत्रियोंकी सेना रहती थी, अुसी प्रकार ब्राह्मणोंकी सेना अज्ञान, अंधविश्वास और अनाचार रूपी शत्रुसे लड़कर प्रजाकी रक्षा करनेके लिअे थी। क्षत्रिय यदि लुटेरे बन जायं और ब्राह्मण अज्ञान तथा अंधविश्वासके समर्थक बन जायं, तो वे समाज-द्रोह करते हैं। फिर वे समाजसे जमीन-जागीर या दक्षिणा पानेके अधिकारी नहीं रह जाते।

समाजमें जब अेकाध मनुष्य बिफरता या बिगड़ता है, तो समाज अुसे सजा कर सकता है। परन्तु जब पूरा वर्ग ही बिगड़ता है, रास्तेसे भटक जाता है, सड़ जाता है या शिथिल बन जाता है, तब समाजको अपनी रक्षाका काम स्वयं ही करना पड़ता है। अैसे मौके पर क्षत्रिय और ब्राह्मण यदि परम्परासे चलती आअी अपने अधिकारकी बातें करें, तो वे अुन्हें शोभा नहीं देतीं और न समाजके सामने अुनका कुछ चलता है। लोगोंके तूफानी या डरपोक बननेसे जैसे राजाकी लाज चली जाती है, वैसे ही लोगोंके नास्तिक या अंधविश्वासी बननेसे धर्माचार्योंकी लाज निश्चित रूपसे चली जाती है।

अंधविश्वास ही बड़ीसे बड़ी नास्तिकता है, अीश्वरका द्रोह है, धर्मकी हत्या है। यह दुःखकी बात है कि हमारे लोग अिसे नहीं समझते। लगभग डेढ़ हजार वर्ष पहले अरबस्तानमें अेक मनुष्यने यह बात समझ ली थी कि अंधविश्वासोंका पोषण करनेमें अीश्वरका द्रोह है। अिसलिअे अुसने अंधविश्वासोंका

नाश करनेवाला अेक पंथ चलाया। जहां फोड़ा होता है वहां मक्खियां आकर बैठती हैं और अुस सड़ांधकी ओर हमारा ध्यान खींचती हैं। अुसी प्रकार जहां अंधविश्वास होंगे वहां अुनका भंडा फोड़नेके लिअे अिस्लाम जरूर पहुंच जायगा। सच्चे अिस्लामका किसी भी धर्मसे विरोध नहीं हो सकता। परन्तु अंधविश्वासोंका वह घोर विरोधी है। किसी समाजमें अिस्लामको सफलता मिले तो समझ लेना चाहिये कि अुस समाजमें धर्मके नाम पर अधर्म चलता है, सच्चे शास्त्र सो गये हैं और अंधविश्वासोंका राज्य चलता है। यह प्रत्येक धर्मके लिअे अीश्वरकी दी हुअी नोटिस है। अिस नोटिसके मिलते ही प्रत्येक समाजको जाग्रत हो ही जाना चाहिये।

हिन्दू धर्ममें जितनी भी जातियोंका समावेश होता है अुन सब जातियोंको अपने चरित्रकी शुद्धि करनी चाहिये, सभीको अपना चरित्र-बल बढ़ाना चाहिये। अिसलिअे अंधविश्वासोंकी अथवा अंधविश्वासियोंकी सत्ताको स्वीकार न करके हमें स्वयं धर्मका रहस्य जाननेका प्रयत्न करना चाहिये।

आज कोअी भी मनुष्य संस्कृत भाषा सीख सकता है। शास्त्र सबके लिअे बिलकुल खुले हैं। शास्त्रोंमें अच्छा क्या है और आज न चल सके या गले न अुतर सके अैसा कितना है, यह भी सब कोअी जान सकते हैं। स्मृतिग्रन्थ अितने पुराने हो गये हैं कि कट्टरसे कट्टर सनातनी लोग भी यह नहीं कह सकते कि वे शास्त्रोंके अक्षरार्थका पालन कर सकते हैं अथवा पालन करनेके लिअे तैयार हैं। शास्त्रोंके अेक-अेक अक्षरको पसंद करनेवाला कोअी सनातनी मिलेगा या नहीं, अिसमें भी शंका ही है। कुछ लोग वकीलकी तरह दलीलें देकर अिस स्थितिको छिपा जरूर सकते हैं; परन्तु अिससे स्वयं अुनका भी जब समाधान नहीं होगा, तब दूसरा तो कौन धोखेमें आ सकता है? अिसीलिअे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सनातन धर्मका अर्थ है तमाम हिन्दू जातियोंके सयाने और चरित्रवान लोगोंका आजका धार्मिक आदर्श।

२१

अवतारवाद

१

अवतारवाद हिन्दू धर्मका अेक विशेष अंग है। वेदान्त कहता है कि मनुष्य मूलमें अीश्वर है। प्रत्येक व्यक्तिके हृदयमें अीश्वरीय तत्त्वका वास है, यह बात कम-अधिक परिवर्तनके साथ हरअेक धर्ममें कही गअी है। रोमन, ग्रीक या पौराणिक धर्मोंमें, जिनमें देवी-देवताओंकी बहुत बड़ी संख्या है, तथा जगतमें अेक अप्रतिम मल्ल बनकर रहनेवाले अीर्ष्यालु अीश्वर पर ही श्रद्धा रखनेवाले यहूदी धर्ममें, अीसाअी धर्ममें और अिस्लाममें भी देवी-देवताओंके स्वभावोंकी कल्पना लगभग मनुष्यके स्वभाव जैसी ही की गअी है। धर्मकथाओंमें कहा गया है कि अीश्वरने मनुष्यको अुत्पन्न किया है; परन्तु विकासवादी यह कहते आये हैं कि अीश्वर ही मनुष्यकी कृति है। अैसा आभास हो सकता है कि ये सब मत अवतारवादसे मिलते-जुलते हैं। परन्तु अवतारवाद सचमुच अेक विलक्षण और अद्‌भुत परिणामवाली कल्पना है। यह वाद जितना हृदयको आश्वासन देता है अुतना ही तर्कबुद्धिके लिअे भी ग्राह्य है। अिसके यथार्थ स्वरूपको हमें समझ लेना चाहिये। अवतारवादको कुछ हद तक समझ लेनेके बाद अब मुसलमान और अीसाअी भी कहने लगे हैं कि 'अवतार ही पैगम्बर है' अिस अर्थमें हमें अवतारवाद मान्य है। कुरानमें तो स्पष्ट कहा गया है कि "अैसी अेक भी भूमि या पीढ़ी नहीं है, जिसे अीश्वरने पैगम्बर न दिया हो।" सृष्टिकी तरह पैगम्बरोंकी परम्परा अबाधित रूपमें चली आअी है। यहूदी और अीसाअी भी पैगम्बरोंकी परम्परा पर विश्वास रखते हैं। अिसलिअे अब यदि हम मूल कल्पनाका और विभिन्न धर्मोंकी अलग अलग समझके सच्चे स्वरूपका अनुसरण करके अवतारवादकी मीमांसा प्रस्तुत करें, तो न केवल हिन्दू धर्मको परन्तु सभी धर्मोंको वह मान्य होगी। अितना ही नहीं, भविष्यमें समस्त मानवजातिका समावेश करनेवाला सारे धर्मोंका जो तत्त्व-परिवार रचा जायगा, अुसमें अवतारवादको मुख्य स्थान प्राप्त हुअे बिना नहीं रहेगा। यहां हमारा अुद्देश्य केवल लाभकी या प्रतिष्ठाकी दृष्टिसे अवतारवादको सुन्दर दिखाना नहीं है; हमारा अुद्देश्य यही दिखाना है कि आज अवतार-मीमांसा कितनी महत्त्वपूर्ण और संस्कृति-पोषक है।

बौद्ध परिभाषाके अनुसार कोअी जीव जब अंतर्मुख बनकर अपनी स्थितिके बारेमें असंतुष्ट होता है और अपने सारे दोषोंको दूर करके सब शुभ गुणोंका

आत्यंतिक विकास साधनेका संकल्प करता है, तब अुसे बोधिसत्त्व कहा जाता है। अैसा बोधिसत्त्व अेकके बाद दूसरे सद्गुणकी पारमिता अर्थात् सर्वोच्च कोटि सिद्ध करते करते प्रत्येक जन्ममें अूपर चढ़ता जाता है और अंतमें बुद्ध बन जाता है। अुसमें जब अपना अुद्धार करनेकी शक्ति आ जाती है तब अुसे 'पच्चेक (प्रत्येक) बुद्ध' कहा जाता है। वही बुद्ध जब जगतका अुद्धार करनेके लिअे समर्थ बन जाता है तब वह शाक्यसिंह गौतम बुद्धके समान 'तथागत' हो जाता है।

प्रत्येक मनुष्यका स्वाभाविक अुन्नति-क्रम यही है। गीताने जिसका 'अनेक-जन्म-संसिद्ध' कहकर परिचय दिया है, अुसीको 'नर करनी करे तो नरका नारायण होय' अिस लोकोक्तिमें 'नारायण' कहा गया है।

हममें से ही हमारा अुद्धारक अुत्पन्न हुआ; हमने जो साधना नहीं की वह अुसने की; हममें से ही अेक होने पर भी वह परमात्माका अंश बन गया — यह सब आंखोंसे देखते हुअे भी मनुष्यके लिअे अिसे स्वीकार करना कठिन होता है। अिसमें अेक यह कठिनाअी तो है ही कि हमारी बराबरीका आदमी हमसे आगे चला गया अैसा स्वीकार करनेमें हमें हीनताका अनुभव होता है। लेकिन दूसरी अेक सैद्धान्तिक कठिनाअी भी है, जिसका विचार यहां किया जाना चाहिये।

यह शंका स्वाभाविक रूपमें ही पैदा होती है कि प्रत्येककी आत्मा स्वभावसे शुद्ध, बुद्ध, नित्य-मुक्त और सर्व-समर्थ होते हुअे भी अपना यह मूल पद वह क्यों खो बैठी? जो शुद्ध है वह अशुद्ध कैसे हो सकती है? जो मुक्त है वह बंधनमें कैसे फंस सकती है? जो नित्य है वह अनित्य कैसे बन सकती है? और जो सर्व-समर्थ है वह स्वयंको अधःपतनसे क्यों नहीं बचा सकती? ये प्रश्न अुठना स्वाभाविक है। तर्क कहता है कि 'आत्माका अधःपतन हुआ ही नहीं। यह सब भ्रम है। आत्मा शुद्ध, बुद्ध, नित्य-मुक्त ही है।' तो फिर यह भ्रम कैसे पैदा हुआ? जब स्वतंत्र रूपसे देखने पर अैसे परस्पर विरोधी कथन सही मालूम होने लगते हैं तब तर्कबुद्धि परेशानीमें पड़ जाती है और अुसे स्वीकार करना पड़ता है कि अिसका स्पष्टीकरण मेरे पास नहीं है। अपने पराभवकी अिस स्वीकृतिको ही 'माया' कहा गया है। माया कोअी वाद, कोअी सिद्धान्त नहीं है, परन्तु वस्तुस्थितिका स्वीकार है।

सर्वोच्च स्थितिमें होने पर भी जो आत्मा अपने स्थानको टिका नहीं सकी, वह अशुद्ध, अनित्य, अज्ञानी और बद्ध होनेके बाद फिरसे अूपर चढ़नेकी शक्ति कैसे प्राप्त कर सकती है? जो कुछ अपने पास था वही जिसे संभालते नहीं आया, वह आत्मा खोये हुअेको अब अपनी शक्तिसे वापिस पानेकी योग्यता कैसे प्राप्त करेगी? अिसलिअे जो समर्थ है अुसीको कृपालु बनकर नीचे अुतरना चाहिये और हमारा हाथ पकड़ कर हमें अूपर अुठा लेना चाहिये। अिसमें स्वयं अूपर चढ़ना नहीं है, परन्तु समर्थको हमें खींचकर अूपर चढ़ाना है। सर्व-समर्थ

परमात्मा कारुण्य-बुद्धिसे कृपालु बन कर मनुष्योंका अुद्धार करनेके लिअे नीचे अुतरता है और हाथ बढ़ाता है, अिसीलिअे पतित बने हुअे हम पुनीत हो सकते हैं। जिस जिस विभूतिमें हम अुद्धारक शक्ति देखते हैं अुस अुस विभूतिमें तारक प्रभु अुतरा है, अवतरित हुआ है, अैसा मानना ही युक्तिपूर्ण है। यह अवतार अल्प मात्रामें हो या पूर्णताको पहुंचा हुआ हो; अमुक समयके लिअे हो या जीवन-पर्यन्तके लिअे हो; किन्तु तारक तत्त्व बाहरसे आकर मनुष्यमें अवतरित अवश्य होता है, अैसी जगतके अुद्धारकी जो कल्पना है अुसीको अवतार-वाद कहा जाता है।

कुम्हारका चक्र अेक बार घूमने लगा कि फिर घूमता ही रहता है। परन्तु अुसकी गति स्वयंभू नहीं है। मिली हुअी गतिको लम्बे समय तक टिकाये रखनेमें ही अिस चक्रका सामर्थ्य है। चक्रका स्वभाव तो अैसा है कि वह — अति अल्प प्रमाणमें ही क्यों न हो — प्रतिक्षण रुकनेका प्रयत्न करता है। अिसीलिअे अुसकी गतिको बनाये रखनेके लिअे कुम्हारको हाथमें अेक डंडा लेकर बार-बार चक्रको प्रेरणा देनी पड़ती है। और अिसके फलस्वरूप ही चक्र घूमता रहता है। स्वभाव-जड़ समाजके बारेमें भी यही नियम लागू होता है। अीश्वरकी कृपासे अवतारी पुरुषोंके प्रतापकी परम्परा चालू रहती है। प्रेरणाका संबल अटूट बना रहता है। धौंकनी चालू रहती है, अिसीलिअे संस्कृति रूपी अग्नि आज तक प्रज्वलित रही है।

यह प्रेरणा बाहरसे आती है अथवा अंतःस्फूर्त है? मानुषी है अथवा अतिमानुषी है? — अिसकी चर्चामें हम नहीं जायंगे। अवतारवाद कहता है: यह प्रेरणा निःसन्देह बाह्य है, अतिमानवी है। अिस प्रेरणाको मनुष्य ग्रहण कर सकता है, धारण कर सकता है, यही अुसकी महत्ता है! विरोधी पक्ष कहेगा: घर्षणके फलस्वरूप जब गरमी बहुत बढ़ जाती है तब अुससे आग भड़क अुठती है और वह ज्वाला या प्रकाशका रूप धारण करती है, अैसा हम हमेशा देखते हैं। अुष्णता-से ही प्रकाश अुत्पन्न होता है। अुष्णता और प्रकाशमें स्वरूप-भेद है, किन्तु तत्त्वतः अुष्णताका अुत्कट रूप ही प्रकाश है, अिस विषयमें हम शंका नहीं करते। अुष्णता अत्यधिक बढ़ जाती है तब हमारे अवतारके लिअे पृष्ठभूमि तैयार होती है, अैसा कहकर चाहे जहांसे प्रकाश आकर अुसमें घुस नहीं जाता। वह भीतरसे ही प्रदीप्त होता है। अिसी प्रकार मनुष्य-जातिका तारनहार मनुष्योंमें से ही अुत्पन्न होता है और वह सर्वश्रेष्ठ मनुष्य-स्वभावका ही बना हुआ होता है।

अिस चर्चाको जरा आगे बढ़ाने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि दो पक्षोंमें मतभेद नहीं है, केवल शब्दभेद है। गांधीजी कहते हैं: "जो पुरुष अपने युगमें सबसे श्रेष्ठ धर्मवान होता है, अुसे भविष्यकी प्रजा अवतारके रूपमें पूजती है। जिस पुरुषमें अपने युगमें सबसे अधिक धर्म-जागृति होती है, वह अुस युगका

अवतार होता है।" अवतारकी कल्पनाको अैसा दोहरा रूप देकर गांधीजीने अूपरके वादको शांत ही कर दिया है। प्रत्येक पीढ़ीमें, प्रत्येक युगमें समाजको सावधान रखनेवाला कोअी न कोअी पुरुष होता ही है। अुसीकी विभूति अुसके समयके लोगोंको असाधारण जैसी लगती है। अिसलिअे बादके लोग अुसे अवतारके रूपमें पहचानने लगते हैं; और अुसकी दी हुअी प्रेरणाको अीश्वरीय प्रेरणा मान कर श्रद्धा और आदरसे अुसे स्वीकार करते हैं।

कुरानमें भी स्पष्ट कहा गया है कि अल्लाहने प्रत्येक देशको और प्रत्येक युगको अेक अेक पैगम्बर दिया है। पैगम्बरसे रहित कोअी भूमि नहीं है; पैगम्बरसे रहित कोअी समाज नहीं है; पैगम्बरसे रहित कोअी युग नहीं है। अिसका अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक स्थान और प्रत्येक कालमें कोअी न कोअी तारक पुरुष होता ही है। अुसे पहचाननेकी शक्ति समाजमें होनी चाहिये।

*

अिसी स्थान पर हम शास्त्रोंके प्रामाण्यका थोड़ा विचार कर लें। तारक विभूतिकी प्रेरणाको अेक बार श्रद्धा और आदरसे स्वीकार कर लेनेके बाद अुसके वचनोंका संग्रह होना बिलकुल स्वाभाविक है। अिस प्रकार प्रेरणा शब्दबद्ध होकर ग्रन्थोंका रूप धारण करती है, संत-वचन ही शास्त्र हैं अैसा जो मूल सिद्धान्त था वह विकृत हो जाता है तथा शास्त्र-प्रामाण्यको शब्द-प्रामाण्य अथवा ग्रन्थ-प्रामाण्यका रूप मिल जाता है। धर्मका तत्त्व गूढ़ है; अवसरके अनुसार अुसका विनियोग बदलता है। धर्मज्ञ पुरुषके द्वारा परिस्थितियोंका प्रत्यक्ष निरीक्षण करके अेक समय जो निर्णय लिया जाता है वह काल और परिस्थितियोंके बदल जाने पर लागू नहीं होता। शंकराचार्यने भी कहा है: 'यस्मिन् देशे काले निमित्ते च यो धर्मोऽनुष्ठीयते स अेव देशकालनिमित्तांतरेषु अधर्मो भवति।' (शांकर शारीरभाष्य – ३. १, २५.) अैसी स्थितिमें व्याकरणशास्त्र, तर्कशास्त्र और मीमांसाशास्त्रके बल पर प्राचीन वचनोंका अर्थ करना और मृतप्राय ग्रन्थों पर जीवंत समाजके जीवन-क्रम तथा भाग्यका आधार रखना अत्याचार है और आत्मद्रोह है। 'शिष्टाः प्रमाणम्' यही मार्ग सच्चा है। वह पवित्र जीवित व्यक्ति शिष्ट है, जिसकी बुद्धि और हृदय शुद्ध हैं, जो समाज-हितको समझता है और जिसका हृदय समाज-हितकी ओर ही मुड़ता है। सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह अित्यादि व्रत जिनके लिअे स्वाभाविक बन गये हैं, वे विरल व्यक्ति ही शिष्ट कहे जाते हैं। अैसे लोगोंने जो मार्ग बताया हो वही शास्त्र है। भर्तृहरि तो अिससे आगे जाकर कहते हैं कि सत्पुरुष सहज रूपमें जो कह देते हैं वह भी शास्त्र ही बन जाता है।

परिचरितव्याः सन्तः यद्यपि कथयन्ति ते न अुपदेशम्।
यास्तेषां स्वैरकथाः ता अेव भवन्ति शास्त्राणि॥

प्राचीन शास्त्र-वचनोंका अर्थ करना हो तो वह भी अैसे शिष्ट लोगों द्वारा ही किया जाना चाहिये। जीवनके जीते-जागते तत्त्वज्ञानको केवल पंडितोंके हाथमें नहीं फंसने देना चाहिये।

१९३०

२

हमारे पूर्वज कह गये हैं कि भूमिका भार हरण करनेके लिअे प्रत्येक युगमें अवतार आते हैं। अिन वचनोंका केवल शब्दार्थ ग्रहण करनेसे बहुतसे लोगोंमें यह समझ घर कर बैठी है कि जैसे नावमें मुसाफिरोंका भार बढ़ने पर नावसे वह भार सहन नहीं होता और वह पानीमें डूब जाती है, वैसे ही जनसंख्याके बढ़नेसे पृथ्वीको अपनी पीठ परका भार असह्य मालूम होता है। वास्तवमें पृथ्वीके तत्त्वोंसे ही बने हुअे मानवोंकी संख्या बढ़ने या घटनेसे पृथ्वीके भारमें और पृथ्वीके जड़ द्रव्योंमें कोअी घटती-बढ़ती नहीं होती।

राअी जितने अेक छोटेसे दानेमें से बड़ जैसा विशाल वृक्ष जमीन पर खड़ा होता है, परन्तु अिस विशाल वृक्षका अितना बड़ा बोझ बाहरसे नहीं आता; हवा, पानी और मिट्टीसे ही वह पैदा होता है। वृक्षके बढ़नेसे धरतीका बोझ कैसे बढ़ेगा? घोड़े पर बैठे बैठे कोअी सवार थैलीमें रखी रोटियां खा ले, तो थैलीका बोझ कम हो जायगा और सवारके पेटका बोझ बढ़ जायगा। लेकिन अिससे घोड़ेको क्या? अुसे तो अुतना ही बोझ ढोना पड़ेगा। पृथ्वीको भी यही बात लागू होती है। पृथ्वीका बोझ जो बढ़ता है वह भौतिक नहीं परन्तु नैतिक होता है। अुस बोझको अुतारनेका कार्य अवतारका होता है। जब समाजमें अनाचार बढ़ जाता है, स्वार्थ, विद्रोह, कलह और नास्तिकता फूलते-फलते हैं, तब पृथ्वीके लिअे अुनका बोझ असह्य हो जाता है। अुस स्थितिमें पृथ्वी गरीब गायकी तरह दीन बनकर अपने पालन-कर्ता विधाताके पास जाती है; और सर्व-अंतर्यामी परमात्मा दया करके धर्म-परायण व्यक्तिमें अवतरित होता है। जिस प्रकार हम सिगड़ीको हिला-हिलाकर और फुंकनीसे फूंक-फूंक कर अुसकी आगको प्रज्वलित करते हैं, अुसी तरह अवतारी पुरुष समाजको हिला कर, धर्मको फूंक कर, धर्मका शुद्धीकरण करके फिरसे सज्जनता, मनुष्य-प्रेम और दैवी संपत्तिकी स्थापना करता है। समाजके सयाने और समझदार लोग अिस धर्म-प्रेरणाको पहचान कर आस्तिकतासे अुसका स्वीकार करते हैं।

अवतारका अुद्देश्य है मानव-समाजमें धर्मकी संस्थापना करना। धर्म-संस्थापनाका अर्थ कोअी मत अथवा पंथ चलाना नहीं, किन्तु सत्य, प्रेम, दया, वासना-संयम, सर्वभूत-हितमें रत रहनेकी भावना आदि शुभ मंगलमय तत्त्वोंके प्रति लोगोंमें विश्वास जगाना है। धर्म वही है जिसमें सबका कल्याण समाया हुआ हो। सर्वत्र

समस्त प्रजाओंको सनातन रूपमें धारण करनेवाला तत्त्व धर्म है। यह धर्म विश्व-व्यापी होता है, सनातन होता है और अिसी कारण नित्य-नूतन होता है। चित्रकार जीवंत, चलते-फिरते, चैतन्ययुक्त शरीर पर मोहित होकर अुसका चित्र बनाता है और मूर्तिकार अैसे शरीर पर मुग्ध होकर अुसकी मूर्ति बनाता है। जिस व्यक्तिने जीवंत शरीरका दर्शन किया है, जिसने जीवंत शरीरके साथ सत्संग किया है, अुसे चित्र या मूर्ति देखकर भी मूल चैतन्यका स्मरण होता है और अुससे चैतन्यमयी प्रेरणा मिलती है। किन्तु जिनके अनुभव और कल्पना अुस चित्र या मूर्तिके बाहर जाते ही नहीं, अुनके लिअे वह चित्र और मूर्ति बन्धनरूप हो जाते हैं। चैतन्यकी भूख जड़ मूर्तिसे कैसे मिट सकती है? जीवंत मूर्ति मनुष्यका अुद्धार करती है। निष्प्राण मूर्ति गलेका पत्थर बनकर मनुष्यको डुबा देती है।

अवतारी पुरुषोंके नाम पर जो धर्म चलते हैं वे सचमुच अुनके नहीं होते। प्रेमका संदेश दूसरे गांव भेजनेके लिअे प्रेमपत्र भेजना पड़ता है। प्रेमपत्र ले जानेवाला संदेश-वाहक प्रेमी नहीं होता; पत्रका कागज, स्याही, स्याहीका रंग, अक्षरोंका मोड़, शब्द, भाषा, भाषाके अलंकार -- अिनमें से अेक भी तत्त्व प्रेम नहीं होता। प्रेम तो अमूर्त है; परन्तु अिन सब साधनोंके बिना अुसका वहन कैसे हो? प्रेमको समझनेवाला अिन सब साधनोंका अुपयोग करते हुअे भी अिन पर निर्भर नहीं रहता। साधनोंसे प्रेम भिन्न है, यह समझ लेनेके कारण वह साधनोंको ही सर्वस्व नहीं मान लेता। अिसी न्यायसे धर्म-संस्थापक अपने समाजमें रूढ़ हो चुकी कल्पनाओं, रीति-रिवाजों और सिद्धान्तोंका आधार लेकर अुन्हींमें अपने संदेशको अुंडेलता है और अुसे लोगोंके सामने रखता है। पुरानेमें से जितना बुरा और त्याग देने जैसा अुसे विश्वासपूर्वक लगता है, केवल अुतनेका ही वह विरोध करता है। अुसकी वृत्ति जितनेको निभाया जा सके अुतनेको निभा लेनेकी ही होती है। वह जो नये साधन, जो नअी प्रथायें अथवा नअी संस्थायें अुत्पन्न करता है और जिन वस्तुओंके प्रति अत्यंत आदर और आग्रह बढ़ाता है, अुन सबको अुसके संदेशके वाहकके रूपमें ही महत्त्व दिया जाना चाहिये। परन्तु अविद्या -- अज्ञान -- से जकड़ी हुअी मनुष्य-जातिने तत्त्वके साथ सम्बन्ध बांधनेके बजाय तत्त्व-वाहक अथवा तत्त्व-संग्राहक बाहरी साधनोंको ही महत्त्व दिया है और कभी कभी अुनके लिअे अनेक भयंकर युद्ध किये हैं।

साधन-भेदके कारण अैसे युद्ध होते देख कर कुछ लोग तत्त्वको केवल बौद्धिक रूपमें ग्रहण करके ही संतोष मान लेते हैं। साधनाके विषयमें अुनका विश्वास न होनेके कारण वे साधना-मात्रकी अुपेक्षा करते हैं। वे लोग अिस बातको भूल जाते हैं कि धर्म केवल तत्त्वके ज्ञानके लिअे ही नहीं है -- धर्म जीवन-परिवर्तनके लिअे है, आत्मशुद्धिके लिअे है, आत्म-साक्षात्कारके लिअे है। सामान्य जन-समुदाय देवको छोड़ कर देवालयकी या मसजिदकी ही अुपासना करते हैं, जब कि

कुछ अुत्साही किन्तु अज्ञानी विद्रोही मंदिरोंको तोड़ कर देवको बचानेका प्रयत्न करते हैं। परन्तु सच्ची जरूरत अिस बातकी है कि मनुष्य मंदिरको मंदिर और अीश्वरको अीश्वरके रूपमें पहचाने। अैसा होने पर मनुष्य साधनके विषयमें साध्यके जितना ही आग्रह रखते हुअे भी साधन-पूजक नहीं बनेगा। प्रत्येक धर्म-संस्थापक या पैगम्बर जो कुछ दे जाता है अुसका शुद्ध रूपमें सेवन हो, अिसके लिअे अुसकी विरासतका प्रतिक्षण संस्करण और परिष्करण होना चाहिये। जिसका नित्य संस्करण होता है अुसका नाश नहीं करना पड़ता। नित्य संस्करण ही जीवन-को प्राणयुक्त अथवा चैतन्यमय बनाये रखनेका साधन है।

मुहम्मद पैगंबरसे पहले अरबस्तानमें बाबा अब्राहमका धर्म चलता था। अुस धर्ममें अनेक प्रकारके दोष घुस गये थे। अुनमें से जो दोष मुहम्मद साहब-को असह्य मालूम हुअे, अुन्हींका अुन्होंने डटकर विरोध किया। परन्तु मक्काकी यात्रा (हज), काबाका चुम्बन, काबाका स्नान, अेकवस्त्री स्नान आदि विधियोंको निर्दोष समझ कर अुन्होंने चालू रहने दिया। बक्र-अीदका पशु-बलिदान भी मुह-म्मद साहबने स्वयं आरंभ नहीं किया, परन्तु अिसके मूलमें शिबि-श्रियाल अथवा रुक्मांगदके जैसे भक्तोंकी अलौकिक अीश्वर-निष्ठाको देखकर ही मुहम्मद साहबने अुसे रहने दिया। मांसाहारी लोगोंको बक्र-अीदका बलिदान स्वभावतः शोभा देता है; परन्तु अिसी बक्र-अीदका बलिदान भारतमें महाकलहका मूल बन गया है। तटस्थ दृष्टिसे अिस्लामका अध्ययन करनेसे पता चला है कि बक्र-अीदका बलिदान अिस्लामका मुख्य अंग नहीं है। अिस्लामका अर्थ है अीश्वरके विषयमें अनन्य निष्ठा। अिस्लामका सच्चा आग्रह अीश्वरके अद्वैतके बारेमें है। अनात्माको आत्मा मानना, अनीश्वरको अीश्वर मानना — अिससे अिस्लामको अतिशय चिढ़ है। प्रत्येक धर्मनिष्ठ साधक और भक्तको भी अिस बातसे चिढ़ होती है। जो लोग विलास-निष्ठ हैं, धन-लोलुप हैं, जान-माल-परस्त हैं, किताब-परस्त हैं, वे सच्चे भक्त नहीं हैं, सच्चे मुसलमान नहीं हैं। आजकलके कुछ मुसलमान दूसरोंका अनुकरण करके ताबूत निकालते हैं और मसजिद-परस्तीका दोष करते हैं, यह दूसरी बात है। परन्तु सच्चे अिस्लामका अर्थ है अीश्वर-निष्ठा, गरीबोंके लिअे दया, अीश्वर-प्रार्थना और धर्मसेवा। यही बात हर धर्मके बारेमें कही जा सकती है। धर्मके कारण होनेवाले झगड़ोंको देखकर व्याकुल बने हुअे अेक निरक्षर भक्तने पूछा है:

"भाळा भोळा ठाकुर हारु
बाझी कां मरो ?" *

१९३३

* भले और भोले अीश्वरके लिअे तुम क्यों आपसमें लड़ते-झगड़ते हो ?

जीवन-व्यवस्था

दूसरा खण्ड

विविध धर्म

२२

हिन्दू धर्म बनाम हिन्दू समाजशास्त्र

हमारे समाजमें धर्मके नाम पर अूंच-नीच-भावकी तालीम व्यवस्थित रूपमें दी जाती रही है। हिन्दू लोग आज अिस भावको सनातन धर्मका अेक अभिन्न अंग मानने लगे हैं। हिन्दू धर्म अपने विशुद्ध रूपमें आर्य, अुदात्त और मुक्ति-परायण धर्म है। यदि किसी घातक दोषने अुसे निष्प्राण, अनार्य और जहरीला बना दिया हो, तो वह है अूंच-नीचका भाव।

हम यह बात क्यों नहीं समझते कि हिन्दू धर्म और हिन्दू समाजशास्त्र दोनों अलग अलग हैं। हिन्दू धर्म 'निर्दोषं' और 'समं' ब्रह्मकी अुपासना सिखाता है। वह 'साधुष्वपि च पापेषु' 'समबुद्धि' का प्रतिपादन करता है। वह 'विद्याविनय-संपन्न' ब्राह्मणसे लेकर 'श्वपाक' तक सबके प्रति 'समदर्शित्व' तथा 'समवर्तित्व' का अुपदेश करता है। परन्तु हिन्दू समाजशास्त्र अूंच-नीचकी भावनाके अभद्र और अमंगल तत्त्व पर जोर देता है। यदि हम अपनी स्मृतियोंसे अूंच-नीचकी भावनाको मान्य रखनेवाले वचन निकाल डालें, तो अुनमें बाकी कितना भाग बचेगा!

अिसीलिअे भगवान मनुने अपनी स्मृतिमें ही अेक 'भेषज-रूप' (औषधि-रूप) वचन दिया है कि स्मृतियोंमें यदि कोअी धर्म (वेद) विरोधी वचन हो, तो अुसे अप्रमाण मानना चाहिये। अिसका कारण यह है कि स्मृतियां सदा धर्मशास्त्रोंका विवेचन ही नहीं करतीं; वे धर्म-विरोधी परन्तु तत्कालीन शिष्ट-जन-मान्य समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र और रूढ़ियोंका भी समर्थन करती हैं। परन्तु प्रगति न करनेका आदी बना हुआ समाज अेक बड़े हितकारी न्यायको भूल जाता है। वह न्याय यह है: समाजशास्त्र अथवा अर्थशास्त्रकी अपेक्षा शुद्ध धर्मतत्त्व अधिक प्रबल है। देश और कालसे मर्यादित धर्मशास्त्रकी अपेक्षा सनातन और सार्वभौम धर्मतत्त्व परम प्रमाण है।

अिसलिअे जब समाजमें धार्मिकता बढ़ती है, धर्मका आकलन विशुद्ध बनता है, तब आचार और समाज-रचनामें तत्त्वके अनुरूप परिवर्तनकी जरूरत स्वीकार की जाती है। अब वह समय आ गया है जब हमें शुद्ध हिन्दू धर्मको समाज-व्यवस्था (जिसमें पुराना अर्थशास्त्र और परम्परागत किन्तु भेददर्शक शिष्टाचार समाये हुअे हैं) के चंगुलसे छुड़ा लेना चाहिये। अपनी स्मृतियोंको अब हमें अपने अध्यात्मके सिद्धान्तके अनुकूल बना लेना चाहिये।

जनवरी, १९३९

२३

आर्य संस्कृतिका आधार

[सामान्य जानकारी]

हिन्दू धर्मको वेदधर्म भी कहा जाता है। वेद संसारमें प्राचीनसे प्राचीन और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। वेदोंमें अिन्द्र, मित्र, वरुण, द्यावा-पृथिवी, अुषा, सविता, रुद्र आदि अीश्वरके अनेक रूपोंका वर्णन और स्तुति है। ये सारे मंत्र अृषिगण जब ध्यानमें बैठते थे अुस समय अुनमें स्फुरित होते थे। वेदोंमें हिन्दू धर्मके सभी तत्त्वोंका सूक्ष्म मूल है। कुछ मंत्रोंमें सुन्दर काव्य है। वेद चार हैं। अृग्वेदमें अधिकांश स्तुतिके ही मंत्र हैं। यजुर्वेदमें यज्ञका प्रकरण है। सामवेदमें हमारा प्राचीन गायन है। अथर्ववेदमें विविध प्रकारकी अनेक बातें हैं।

अिन वेदोंसे ही **ब्राह्मण** नामक अेक दूसरा भाग अुत्पन्न हुआ। यहां **ब्राह्मण** अमुक प्रकारके ग्रन्थोंका नाम है। **ब्राह्मणोंमें** यज्ञ-सम्बन्धी और धर्मतत्त्व सम्बन्धी लंबी लंबी चर्चायें हैं।

ब्राह्मण-ग्रंथोंसे ही अुपनिषदोंका जन्म हुआ। अुपनिषदोंमें हमारे धर्मकी सारी अुदात्त कल्पनायें और अुसके विशाल तत्त्व आ गये हैं। अुपनिषदोंमें गुरु-शिष्यके कुछ संवाद बड़े ही सुन्दर हैं। भगवद्गीतामें श्रीकृष्णने अिन अुपनिषदोंका ही दूध दुह कर रखा है। (बादशाह शाहजहांके बड़े पुत्र दाराने अिन अुपनिषदोंका फारसीमें अनुवाद किया था।) अुपनिषदोंके बाद अध्ययन और अध्यापनका कार्य खूब बढ़ा, अिसलिअे स्मरण-शक्ति पर बहुत बोझ पड़ने लगा। अिसके फल-स्वरूप सूत्रग्रन्थोंका निर्माण हुआ। सूत्रग्रन्थोंमें छोटे छोटे वाक्य अैसे ढंगसे रचे गये हैं कि बहुतसी जानकारी ध्यानमें रह जाय। परन्तु अिन वाक्योंका अर्थ करनेकी कुंजी गुरुसे मिली हो, तो ही अिन सूत्रग्रंथोंका अुपयोग हो सकता है। यह कुंजी और सूत्रोंका विवरण विद्वान आचार्योंने अपने भाष्योंमें दिया है।

जैसे जैसे फलप्राप्तिके लिअे अेक निश्चित पद्धतिसे यज्ञविधि करनेका आग्रह बढ़ा वैसे वैसे जीवनका हर काम लोग नियमके अनुसार और धर्मके अनुसार करने लगे। **चार वर्णोंमें से** ब्राह्मणोंको कैसा आचरण करना चाहिये, क्षत्रियका क्या कर्तव्य है, वैश्योंका धर्म क्या है और शूद्रोंको कौनसी मर्यादामें रहना चाहिये — यह सब विस्तारसे लिखा गया। मनुष्य क्या खाये, क्या न खाये, क्या पहने, दूसरोंके साथ कैसा व्यवहार करे, जीवनके मुख्य मुख्य अवसरों पर कौनसे संस्कार प्राप्त करे अथवा विकसित करे, आदि सब बातोंके नियम रचे गये। अिन नियमोंको स्मृति अिसलिअे कहते हैं कि अृषि-मुनियोंने पुराने समयके आचारोंका स्मरण

करके ये स्मृतियां लिखी हैं। अिन स्मृतियोंमें मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य-स्मृति बड़ी हैं। वेदके मंत्र देवताओंसे सुने गये थे, अिसलिअे अुन्हें श्रुति कहते हैं। ब्राह्मणों और अुपनिषदोंका समावेश भी श्रुतिमें ही होता है।

जिस प्रकार मनुष्यके आचरणोंकी व्यवस्था स्मृतियोंमें हुअी है अुसी प्रकार धार्मिक और तात्त्विक विचारोंकी व्यवस्था दर्शनोंमें हुअी है। आत्माका दर्शन करनेके लिअे ये ग्रन्थ अुपयोगी हैं, यह जानकर अिन ग्रन्थोंको ही दर्शन कहा जाने लगा। दर्शन छह हैं। जो दर्शन वेदोंको महत्त्व नहीं देते, अुन्हें नास्तिक दर्शन कहा जाता है। वे सर्वथा भिन्न हैं। जिस वेदान्तके बारेमें हम बहुत सुनते हैं, वह अुपर्युक्त छह दर्शनोंमें से अेक प्रधान दर्शन है।

(नास्तिक दर्शनोंमें जैन दर्शन भी आ जाता है। जैन लोग वेदोंको नहीं मानते, अिसीलिअे यहां अुन्हें नास्तिक कहा गया है। आज तो नास्तिक शब्द बिलकुल अलग ही अर्थमें प्रयुक्त होता है। नास्तिक शब्दका आजका अर्थ है अैसा मनुष्य जो आत्मा, अीश्वर अथवा धर्ममें विश्वास नहीं करता। जैन दर्शनको नास्तिक कहनेमें नास्तिक शब्दका यह अर्थ नहीं लिया जाता।)

प्रत्येक धर्मके साथ धार्मिक कथायें तो रहती ही हैं। कथाओंके द्वारा धर्मके सारे सिद्धान्त, प्रसंग, धर्म-संकट, परम्परा सब कुछ समझाया जाता है। अैसी कथाओंका संग्रह पुराणोंमें किया गया है। सृष्टिकी अुत्पत्तिसे लेकर ताम्रमुखी (गोरे) लोगोंके भारतमें आने तककी अनेक बातें अिन पुराणोंमें हैं। पुराणकारोंने अैसी अेक भी बात नहीं छोड़ी, जिसका समावेश पुराणोंमें न हुआ हो। पुराण अठारह हैं। अुपपुराण भी अितने ही हैं। रामायण और महाभारत पुराण नहीं हैं। अिनकी गिनती अितिहासमें होती है।

आजका हिन्दू धर्म श्रुति, स्मृति और पुराणोंके अनुसार चलता है। अिसलिअे अुसे श्रुति-स्मृति-पुराणोक्त धर्म कहा जाता है। अिसके सिवा, आगमों या तंत्रोंके नामसे अेक अलग धर्म-संग्रह है। वे भी धर्मग्रन्थ ही माने जाते हैं। बंगाल, आसाम, नेपाल और काश्मीरमें अिन तंत्रोंका अधिक महत्त्व है, यद्यपि हिन्दू धर्म पर सर्वत्र ही अिन तंत्रोंका प्रभाव है। अिन तंत्रोंमें कुछ विधियां अैसी हैं, जिनका सर्वथा त्याग कर दिया जाना चाहिये।

१९२३

२४

हिन्दू धर्म-संस्कार

[अेक चिन्तनीय अुपपत्ति]

महाभारतके युद्धके कुछ समय बाद वैदिक या ब्राह्मण धर्ममें सड़ांध पैठ गअी। अुपनिषद्-कालके अुच्च आध्यात्मिक आचार-विचारोंके स्थान पर लोग आत्म-अनात्मकी शुष्क नीरस चर्चाओंको ही धर्मका अंतिम ध्येय मानने लगे। सब कोअी यह समझने लगे कि यज्ञ-यागके आडंबरपूर्ण कर्मकांडसे ही स्वर्ग आदि सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है। अैसे समय बुद्ध भगवानने सही रास्तेसे भटके हुअे संसारको सत्य और सदाचारके मार्ग पर मोड़ा; और महावीर स्वामीने सबके मन पर आग्रहके साथ यह बात जमाअी कि अहिंसामें ही धर्म निहित है। अिसके सिवा, जब बुद्ध भगवानके अनुयायी अुनके अुपदेशको अमुक धर्म अथवा संप्रदायका रूप देकर सर्वत्र अुसका प्रसार करने लगे तब अुसमें अनेक परिवर्तन करने पड़े और अिसके फलस्वरूप बौद्ध धर्मके भी दो पंथ हो गये। बौद्ध साधु बुद्ध भगवानके मूल अुपदेशों पर स्थिर रहनेके बजाय जब अपने संप्रदायको लोकप्रिय बनानेका प्रयत्न करने लगे और संप्रदायके प्रचारके लिअे राज्याश्रय भी खोजने लगे तबसे अुनके संघमें सड़ांध पैठ गअी। हम बुद्ध भगवानके अुपदेशोंकी सूक्ष्म जांच करें तो पता चलेगा कि अुनके अुपदेशोंमें किसी नये धर्मकी स्थापनाकी अपेक्षा धर्म-परिष्करणका ही भाग अधिक था। अुनका आग्रह परम्परागत प्रचलित धर्मके मूलभूत सिद्धान्तोंका विरोध करनेका नहीं था। बुद्ध भगवानने तो अपनी नजरके सामने धर्मके नाम पर चल रहे ढोंगके खिलाफ अपनी आवाज अुठाअी थी। अुनके अुपदेशोंकी खूबी यह थी कि अुनका पूरी तरह पालन करते हुअे भी मनुष्य हिन्दू रह सकता था; अितना ही नहीं बल्कि वह ज्यादा अच्छा हिन्दू बनता था। परन्तु जबसे बौद्ध धर्मका साम्प्रदायिक स्वरूप ही अधिक बढ़ने लगा तबसे बौद्ध साधु नैतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टिसे जीवनका रहस्य समझने और समझानेके बजाय अपने अधिकारोंकी रक्षामें ही अधिकाधिक जुटे रहने लगे। ब्राह्मणोंमें अपने अूंचेपनकी जो शेखी थी वह बौद्ध साधुओंमें भी आने लगी। जिस प्रकार वैदिक यज्ञके पुरोहित केवल अपने लाभके लिअे लोगोंमें अंध-विश्वास फैलाते थे अुसी प्रकार बौद्ध साधु भी अपने स्वार्थके लिअे तथा लोगोंकी नजरमें अपनी महत्ताको बढ़ानेके लिअे अनेक अंधविश्वासोंका पोषण करने लगे। बुद्ध भगवानके अवशेषोंकी पूजा करनेकी प्रथा आडंबरमें वैदिक कर्मकांडसे जरा भी कम नहीं थी। साथ ही बौद्ध साधुओंके दांत, नख, अस्थि, राख आदि

पर बड़े बड़े स्तूप बनानेमें तथा मठ खड़े करनेमें भारी खर्च करनेकी प्रथा चल पड़ी। अिसके सिवा, अशोकने बुद्ध भगवानके अहिंसा और संयमके अुपदेशसे जिस सार्वत्रिक शांतिकी स्थापनाकी कल्पना की थी, वह शांति भी दुनियामें नहीं आअी। प्राचीन कालमें क्षत्रिय राजा अश्वमेध यज्ञ करके बड़े बड़े युद्ध लड़ते थे, वैसे ही बौद्ध राजा भी बुद्ध भगवानके अवशेषोंके लिअे आपसमें युद्ध करने लगे।

कुछ लोग अैसा मानते हैं कि हिन्दू धर्ममें कोअी परिवर्तन करनेकी सुविधा है ही नहीं। हिन्दू धर्म बिलकुल प्रगतिशील नहीं है। लेकिन यह बात सच नहीं है। हिन्दू धर्मकी मान्यताओंमें, रीति-रिवाजों और संस्कारोंमें धीरे-धीरे रूपांतर होता आया है। बात अितनी ही है कि जैसे मनुष्यके शरीरमें रोज परिवर्तन होता है, परन्तु सूक्ष्म होनेके कारण अुसका पता नहीं चलता, वैसे ही हिन्दू धर्ममें धीरे-धीरे सूक्ष्म परिवर्तन होते रहे हैं। अमुक सिद्धान्तोंकी, जिन्हें वह अपने सनातन सिद्धान्त मानता है, रक्षा करके हिन्दू धर्म योग्य परिवर्तन स्वीकार करनेके लिअे सदा ही तैयार रहा है। आर्य राजकुमार सिद्धार्थ द्वारा अुपदिष्ट बौद्ध धर्मसे अुसका जरा भी विरोध नहीं था। संभव है कि लोगोंका विरोध हयुअेची, यवन और शक जैसे विदेशी राजाओंके नेतृत्वमें विकृत रूप ग्रहण करनेवाले बौद्ध धर्मके खिलाफ रहा होगा। स्थिति अैसी अुत्पन्न हो गअी थी कि यदि भारतमें अिन राजाओंका और अिनके बौद्ध धर्मका प्राबल्य बढ़ता, तो भारतमें आर्य संस्कृति टिक नहीं पाती।

शाक्य मुनिने स्वयं समाजमें नया चैतन्य जगानेके लिअे जैसा प्रयास आरंभ किया था, कुछ वैसा ही प्रयास अीसाकी तीसरी और चौथी शताब्दीमें भी भारतकी आर्य प्रजाने आरंभ किया था।

अशोकके बाद मुख्यतः बौद्धोंको राज्याश्रय मिलने लगा और ब्राह्मणोंकी सत्ता राजकाजमें घटने लगी। लेकिन अिसकी वजहसे ब्राह्मण धर्म डूब नहीं गया। देशके कोने-अंतरेमें पड़े हुअे कुछ साधु-चरित ब्राह्मण पंडित अुसकी रक्षा कर रहे थे और वनके आश्रमोंमें रहनेवाले ब्राह्मण अृषि-मुनि अुसके मूलभूत सिद्धान्तोंका संशोधन कर रहे थे। अुन्होंने बुद्ध भगवानके बताये हुअे दोषोंको स्वीकार कर लिया, जी-तोड़ परिश्रम करके शुद्ध वैदिक धर्मका स्वरूप निश्चित किया और अुस पर बौद्ध धर्मका मुलम्मा चढ़ाकर वैदिक कर्मकांडका स्थूल जड़वाद अुसमें से निकाल दिया। यज्ञ-याग और अुनके नाम पर होनेवाली हिंसाका (जिसके विरुद्ध बुद्ध भगवानने प्रबल आन्दोलन किया था) हिन्दू धर्ममें लगभग अंत हो गया। नीति और सदाचारको अुनका स्वाभाविक महत्त्व प्राप्त हुआ। हिन्दू संन्यासी भी बौद्ध भिक्षुओंके समान अुपदेश करनेके लिअे सर्वत्र घूमने लगे। बोधिसत्त्व और बुद्धकी पूजाकी तरह राम और कृष्णकी भी पूजा होने लगी। अिस तरह बौद्ध धर्ममें हिन्दू धर्मसे श्रेष्ठ अथवा अधिक आकर्षक कोअी चीज नहीं रह गअी।

अिसके विपरीत, बौद्ध धर्मके महायान सम्प्रदायमें विदेशी राजा अपनी अिच्छानुसार हस्तक्षेप कर सकते थे, जब कि अिस हिन्दू धर्ममें तो स्वदेशी परम्पराकी ही प्रतिष्ठा रह सकती थी। अिसके फलस्वरूप नया हिन्दू धर्म सर्वत्र फैल गया। विदेशोंसे आये हुअे राजाओंको भी अैसा हिन्दू धर्म स्वीकार करके अुसे प्राधान्य देनेमें अपना हित मालूम हुआ। हिन्दू धर्मके अवतारवादने बुद्धको अुस समयके अत्यन्त लोकप्रिय भगवान विष्णुके अेक अवतारका रूप दे दिया और शुद्ध बौद्ध धर्मको आत्मसात् करनेका हिन्दू धर्मका प्रयत्न सफल हुआ।

हिन्दू धर्ममें मूर्तिपूजा कबसे आरंभ हुअी यह निश्चित रूपसे कहना कठिन है। परन्तु यह माननेके कारण मिलते हैं कि मूर्तिपूजा बौद्ध धर्मके प्रभावका फल है। कुछ लोग कहते हैं कि बौद्धोंने बुद्ध भगवानके अवशेषों पर स्तूप बनवाना शुरू किया और विहार बनाकर अुनमें बुद्ध भगवानकी मूर्तिकी स्थापना वे करने लगे, अुससे पहले हमारे देशमें मंदिर बनवानेकी प्रथा नहीं रही होगी; ये लोग मानते हैं कि हमारे पुराणोंमें मंदिरोंका जो अुल्लेख है वह बादमें जोड़ा गया होगा।

कुछ लोग तो यह मानते हैं कि अीश्वरके अवतारकी कल्पना भी बौद्ध कालसे आरंभ हुअी होगी। परन्तु अेक ही अीश्वरके अनेक रूप हैं, यह कल्पना तो वेदोंमें भी है। अिसी प्रकार वेदोंके कुछ अृषि अैसा भी कह गये हैं कि 'मैं ही अीश्वर हूं।' अतः लोगोंके अुद्धारके लिअे अीश्वर मनुष्य-रूप धारण करता है, यह कल्पना वेदधर्मके लिअे अपरिचित नहीं है। भगवद्गीतामें तो अवतारवादका सिद्धान्त संपूर्ण रूपमें पाया जाता है।

१९२३

२५

बुद्धका समय और बुद्धका कार्य

[ढाअी हजार वर्ष पूर्व]

पहाड़ी प्रदेशमें रहनेवाले लोगोंको कुदरतके साथ और आपसमें अेक-दूसरेके साथ सदा लड़ना पड़ता है। अुनके बीच स्वतंत्रताका और लड़ाअीका वातावरण हमेशा जाग्रत रहता है। लेकिन जब ये ही पहाड़ी लोग समतल मैदानमें आ बसते हैं और समृद्ध खेती चलाते ह, तब अुनके अिस स्वभावमें परिवर्तन हो जाता है। विस्तीर्ण और अुपजाअू प्रदेशको देखकर मनुष्यमें या तो साम्राज्यकी कल्पना दृढ़ होती है या स्वभावमें संतोषकी मात्रा बढ़कर अुसकी अहिंसा-वृत्ति दृढ़ हो जाती है।

गंगा-यमुनाके तटों पर महान साम्राज्योंकी स्थापना हुअी, महान युद्ध लड़े गये और कुछ समयके लिअे तो लगभग सारा ही देश वीरान हो गया — अिसका

अितिहास महाभारतमें आ गया है। अुसके बाद संपूर्ण भारतवर्षको पुनः अेक जीवन-सूत्रमें बांधनेका प्रयत्न बुद्ध भगवानकी प्रवृत्तिसे आरंभ हुआ। युधिष्ठिरने भारतवर्षको अेक साम्राज्यके छत्रके नीचे लानेका प्रयत्न किया था। भगवान बुद्धने अहिंसा अथवा प्रेमके धर्मछत्रके नीचे सारी दुनियाको लानेका प्रयत्न किया। वह काल भी अिसके अनुकूल ही था। देशमें मगध, कोसल, वत्स, काशी, अवंती जैसे छोटे छोटे राज्य बिखरे हुअे थे। शाक्य, मग्ग, कालाम, कोलीय, मोरीय, मल्ल, विदेह, लिच्छवी आदि गणोंके छोटे प्रजासत्ताक राज्य भी थे। राजा लोग साम्राज्यके प्राचीन आदर्शको नजरके सामने रखकर सम्राट् बननेके लिअे आपसमें लड़ते थे। स्थलाभिमान और वर्णाभिमान खूब बढ़ गये थे; मूलमें कुलाभिमान तो था ही। लोगोंका जीवन आजकी तुलनामें कितना ही सादा और सरल क्यों न रहा हो, फिर भी मौज-शौककी वृत्ति खूब बढ़ गअी थी। बाह्य विधियोंके नीचे धर्मका सच्चा स्वरूप दब गया था। भयसे या लालचसे कुदरती शक्तियोंको संतुष्ट करनेमें ही धर्मका सर्वस्व समा जाता था। मंत्रोंकी शक्तिके बारेमें भ्रामक कल्पनायें बढ़ गअी थीं। लोगोंमें अैसी मान्यता रूढ़ हो गअी थी कि मंत्रों द्वारा भली-बुरी सब वासनायें तृप्त की जा सकती हैं और यज्ञ-याग करके अुनमें देवताओंके लिअे पशुओंका बलिदान देनेसे सारे पाप धुल जाते हैं।

जिन थोड़ेसे लोगोंको अिस स्थितिसे घृणा होती थी, वे दूसरे छोर पर जाकर शरीरको तरह तरहके निरर्थक कष्ट देनेमें ही जीवनकी सफलता मानते थे। सुखोपभोगमें डूबे हुअे लोगोंमें अैसे देह-दमन करनेवाले तपस्वियोंकी प्रतिष्ठा अत्यधिक बढ़ गअी थी। मनुष्य-जीवनका ध्येय क्या है, धर्म किस बातमें है, मनुष्यका मनुष्यके प्रति और अन्य प्राणियोंके प्रति क्या कर्तव्य है — अिसकी सच्ची कल्पना ही लोगोंके मनसे नष्ट हो गअी थी। पंडित लोग निठल्ले बैठे बैठे अीश्वरके सम्बन्धमें अनेक चित्र-विचित्र कल्पनायें खड़ी करके आपसमें लड़ते-झगड़ते थे। आत्मा है या नहीं, अीश्वरका स्वरूप कैसा है, कौनसा यज्ञ करनेसे कौनसा फल प्राप्त होता है — आदि चर्चाओंमें ही वे लोग दिन-रात लीन रहते थे।

विचारशील लोग अिन शुष्क चर्चाओं और शुष्क जीवनसे अूब गये थे। नीची जातियोंके अनपढ़ और अज्ञान लोग तो बिलकुल ही दब गये थे। अिन सब दुःखोंसे मुक्त होनेका मार्ग खोजनेके लिअे किसी समाज-हितैषी और स्थिर बुद्धि-वाले व्यक्तिकी जरूरत थी। बुद्ध भगवानने अेक ओर कर्मका अटल नियम लोगोंको समझा कर बड़े-बड़े यज्ञ-यागोंका दंभ दूर किया और दूसरी ओर आत्मा परमा-त्माकी शुष्क चर्चाओंकी प्रतिष्ठा घटाअी, देह-दमनके नशेकी निन्दा की तथा वर्णा-भिमानका मद भी तोड़ा, सुखकी लालसाके कारण लोगोंको पामर बना देखकर अुन्हें ब्रह्मचर्य और त्यागका महत्त्व समझाया और अपने धर्मका दृढ़तासे पालन करनेवाले लोगोंका अेक महान संघ रचकर अुनके द्वारा भोग और भ्रमसे कलुषित

बने हुअे समाज पर मानो सदाचारका आक्रमण किया। बुद्धके समयमें शास्त्रोंमें जो अच्छे धर्मतत्त्व थे अुन्हींका अनुवाद जनभाषामें करके अुन्होंने सब वर्णोंके लोगोंको अुनका अुपदेश किया; और सब लोगोंको अुन्होंने यह समझा दिया कि सदाचार ही धर्मकी बुनियाद है, अहिंसा और त्याग ही धर्मका आधार है।

बुद्धके कुछ पंडित शिष्योंने यह मांग की कि आज समाजमें सर्वत्र वैदिक भाषाकी ही अधिक प्रतिष्ठा है, अिसलिअे अुसी भाषामें आपके अुपदेशोंको व्यवस्थित रूप देना ठीक होगा। बुद्धने स्पष्ट शब्दोंमें कहा : "मैं अैसी प्रतिष्ठाको तोड़ना चाहता हूं। मैं तो यह चाहता हूं कि लोगोंमें बोली जानेवाली सभी भाषाओंमें तुम मेरे अुपदेशोंको फैलाओ। धर्म सबके लिअे है।"

अिससे समाजके सामान्य जन अूपर अुठे। आगे चलकर संतोंने भी यही कार्य किया।

१९२३

२६
जीता-जागता संघ

१
आर्य-समाज*

आर्य-समाज अेक जीता-जागता संघ है; वह आंखें खुली रखकर दुनियाकी ओर देखनेवाली अेक संगठित संस्था है।

आप असहिष्णु नहीं हैं, यह सिद्ध करनेका प्रयत्न आप किसलिअे करें? क्या असहिष्णुता हमेशा दुर्गुण ही होती है? और सहिष्णुता क्या सदा सद्गुण ही होती है? महाभारतमें अेक स्थान पर कहा गया है कि सहिष्णुता बोझ ढोनेवाले गधेका भूषण है। पड़े रहना, अपमान सहन करना, लुट जाना और फिर भी अिसका बिलकुल ही प्रतिकार न करना यदि सहिष्णुता हो, तो अैसी सहिष्णुता सद्गुण नहीं है; वह अधर्म है, पाप है। हम पर दुःख आ पड़े और हम अुसे दूर करनेका प्रयत्न न करें, अिसमें पुरुषार्थ नहीं है। यह तो पातक है, क्योंकि जो भी वस्तु हमें नीचे गिराती है, हमारा पात करती है, वह पातक है।

सहिष्णुता दो प्रकारकी होती है: अेक निष्क्रिय जड़ताकी, पामरताकी, कायरताकी; और दूसरी व्यापक दृष्टिकी, प्रेमकी, सर्व-समर्थ अुदारताकी। पामर

* ता० ३१-८-'२८ को सूपा गुरुकुलके वार्षिक अुत्सवके अवसर पर अध्यक्ष-पदसे दिया गया भाषण।

मनुष्य अुदारताके नाम पर अपनी निर्बलताको छिपाता है और स्वयं अत्यन्त सहिष्णु होनेका ढोंग करता है। किन्तु अुसके जीवनमें तेज नहीं दिखाअी देता। अैसी सहिष्णुताके बजाय तो असहिष्णुता ज्यादा अच्छी है। भयसे डर जानेके बजाय साहसी बनकर भयका सामना करनेमें ही मनुष्यकी अुन्नति है। आपके धर्मके अेकाध सुन्दर तत्त्वका भले ही नाश हो जाय, परन्तु अुसकी आत्माका कभी नाश नहीं होना चाहिये। आत्माका नाश हुआ वहां संपूर्ण धर्मका नाश हुआ समझिये। प्रतिकार मनुष्यकी जीवंत दशाका लक्षण है। तेजस्वी पुरुष अपकारको सहन करके शांत कैसे बैठ सकता है?

परन्तु विचारवान शूर-वीर मानव दीर्घ दृष्टिसे देख लेता है कि विचारहीन बनकर लड़नेमें कोअी लाभ नहीं होगा, सहन करके ही हम जीतेंगे; सहन करनेसे हम बाजी खोयेंगे नहीं, बल्कि परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करेंगे। धैर्यवान मनुष्य आत्मत्याग करके बड़े बड़े कष्ट सहन करता है और मानव-संस्कृतिको अूंचा अुठाता है। जिस प्रकार गालीका जवाब गालीसे देकर हम अेक प्रकारका 'न्याय' भले ही प्राप्त करें, परन्तु अपनी या समाजकी कोअी अुन्नति नहीं करते; अुसी प्रकार प्रत्येक विरोधीका विरोध करनेसे भी हम सदा श्रेय ही साधते हैं अैसा नहीं कहा जा सकता। जब हम अपनी शक्तिके भानके साथ ज्ञानपूर्वक कष्ट सहन करते हैं तब हमारा धर्म सोलहों कलाओंमें चमकता है; और अंतमें अुससे सबका कल्याण होता है। दुष्ट मनुष्य पर विजय प्राप्त करनेके बजाय यदि हम दुष्टता पर ही विजय पा सकें तो वह श्रेष्ठ कदम होगा, अिसे कौन स्वीकार नहीं करेगा? 'क्षमा वीरस्य भूषणम्'—क्योंकि वीरकी क्षमाके पीछे डर नहीं होता। लेकिन अगर हमें यह लगे कि सहिष्णु रहनेसे हम सब-कुछ खो बैठेंग, सहिष्णु बनने जितने समर्थ हम नहीं हैं, तो समर्थ होनेका ढोंग करनेके बजाय अच्छा यही होगा कि हम विरोधका प्रतिकार करें। अिसीमें से हमें आगेका रास्ता मिलेगा।

आर्य-समाजका प्रथम परिचय मुझे अुत्तर भारतमें हुआ था। प्रथम दर्शनमें ही मैंने देख लिया कि आर्य-समाजी किसीके साथ टक्कर लेनेमें संकोच नहीं करते। वे अिस बातका विचार करने नहीं बैठते कि हमारे विचारोंका प्रचार करनेसे विरोधियोंको बुरा लगेगा या नहीं। अपने मतों और सिद्धान्तोंके बारेमें वे अितने अधिक पारमार्थिक (serious) होते हैं कि कहीं भी विवाद करनेके लिअे तैयार हो जाते हैं। 'मैं यह खड़ा हूं और ये मेरे विचार हैं। या तो तुम अिन्हें स्वीकार करो, या अिनका खंडन करो।'—अिस प्रकार आर्य-समाजियोंको कहते सुनकर मुझे लगता था कि अुनके रूपमें मंडनमिश्रका नया अवतार हुआ है। अुस समय आर्य-समाजी प्रचारकोंके साथ वाद-विवादमें अुतर कर मैंने आर्य-समाजके बारेमें अुनसे खूब जानकारी प्राप्त कर ली। फर्क अितना

ही था कि मेरी वाद-विवादकी मर्यादा अलग थी। वाद-विवादमें अेक आदमी दूसरेको हरा तो सकता है, लेकिन खुद जीत नहीं सकता। विवादके समय दोनों ही वादी किसी हद तक प्रतिनिविष्ट* होते हैं। जब दोनोंको यह विश्वास हो जाय कि वे अेक-दूसरेका पक्ष समझ गये हैं तब अुन्हें विवादका अंत कर देना चाहिये। मनुष्य बहुत बार विवादके बाद मिलनेवाले अेकान्तमें ही विरोधी पक्षकी दलीलोंको हजम कर पाता है।

शांत वाद-विवादके फलस्वरूप यह मालूम हो जाता है कि प्रत्येक धर्ममें कोअी न कोअी खूबी तो है ही। मैं यह बात समझ गया हूं कि मुसलमान मूलतः हिन्दुओंको चिढ़ानेके लिअे मूर्तिपूजाका विरोध नहीं करते, परन्तु वे सचमुच मूर्तिपूजामें अीश्वरका घोर अपमान मानते हैं। आप भले ही मूर्तिपूजाको भ्रम मानें, परन्तु अुसके पीछे अीश्वरकी भक्ति ही है, अीश्वरका अपमान करनेकी नीयत नहीं है, अिस प्रकार मैं अुन्हें समझानेका प्रयत्न करता था। मैं अुनसे कहता था कि मूर्तिमें परमेश्वरको देखनेवाले मनुष्यमें जड़ता भी हो सकती है और अुच्च आध्यात्मिक दृष्टि तथा कवि-हृदय भी हो सकता है।

आर्य-समाजियोंके तर्कके पीछे भी मैं अुनकी धर्मसेवाकी सुधारक-वृत्तिको देख सकता था। हिन्दू धर्ममें पैठे हुअे चमत्कारों, अंधविश्वासों, पामरता और सत्तावादसे ये लोग अूब गये हैं, अिसीलिअे अुनका ये विरोध करते हैं — यह देखकर मेरी आत्माको संतोष होता था। कुछ हिन्दू शास्त्रोंमें लोगोंके मन पर धर्मके तत्त्वोंको जमानेके लिअे भय और लालचका छूटसे अुपयोग किया गया है। घरमें भय, बाहर भय, जलमें भय, स्थलमें भय! और मानो जमीन पर रहनेवाले अत्याचारी काफी न हों, अिसलिअे आकाशमें भी शनि, राहु और केतुका भय खड़ा कर दिया गया। यदि अैसा भय ही धर्मका आधार हो, तब तो अुस धर्मका नाश होना ही अच्छा है।

आर्य-समाजियोंमें भी शास्त्र-वचनोंका आग्रह देखकर मुझे लगता था कि मुझमें यह वृत्ति क्यों नहीं है? मैं तो सनातनी हिन्दू हूं, समस्त शास्त्रोंमें विश्वास करनेवाला यानी अुनके प्रति आदर रखनेवाला हूं। परन्तु मैंने कभी अिन शास्त्रोंको 'पीनल कोड' जैसा माना ही नहीं। मैं तो शास्त्रोंको अनुभवी और पूज्य लोगोंके वचन मानता हूं। मेरे मनमें अुनके प्रति आदरका भाव रहता है, अश्रद्धा नहीं रहती। लेकिन अुनमें से मैं जितना समझ सकूं और जितना मेरे गले अुतरे अुतनेको ही मैं स्वीकार कर सकता हूं और अुस पर अमल कर सकता हूं। श्रद्धा रखते हुअे भी यदि किसी वस्तुके बुरी या हानिकर होनेकी प्रतीति मुझे हो जाय, तो केवल अिसीलिअे मैं अुसका स्वीकार या अुस पर अमल नहीं करूंगा कि शास्त्रोंमें अुसका विधान है।

---

* प्रतिनिविष्ट = विरोधी बनकर बैठे हुअे, हठाग्रही।

अुत्तर भारतमें जब आर्य-समाजी और सनातनी आपसमें लड़ते थे, अुस समय सनातनियोंकी दशा बड़ी विषम हो जाती थी। आर्य-समाजी तो केवल वेद-शास्त्रको ही प्रमाण मानते थे, जब कि सनातनियोंके लिअे वेदोंके अुपरान्त ढेरों अन्य शास्त्र-ग्रन्थ भी प्रमाण थे। अिन सबका बचाव करें तो ही सनातनी वाद-विवादमें जीत सकते थे। और वेदोंका विरोध तो अुनसे हो ही नहीं सकता था। अैसे वाद-विवादमें जब मैं अुतरता था तब कहता था कि मेरे लिअे सभी शास्त्र श्रद्धापात्र अर्थात् आदरणीय हैं, परन्तु प्रमाणके रूपमें मैं किसी शास्त्रग्रन्थको नहीं मान सकता। आर्य-संस्कृतिके अुद्गमके रूपमें और अनुभवी ॠषियोंके मुखसे निकले हुअे अुद्गारोंके रूपमें वेद मेरी दृष्टिमें पूज्य हैं। किन्तु अुनका निश्चित अर्थ जाने बगैर मैं अुन्हें प्रमाणके रूपमें कैसे स्वीकार करूं? सायणाचार्य वेदोंका अर्थ अेक प्रकारसे करते हैं, तो यास्काचार्य दूसरे प्रकारसे करते हैं। लोकमान्यका अर्थ अलग है, तो अरविन्द घोषका अर्थ भी अलग है। स्वामी दयानन्द सरस्वतीका अर्थ तो अुनसे भी अलग है। और वे स्वयं ही यह बात कह गये ह कि प्रत्येक मनुष्यको वेदोंका अर्थ करनेका अधिकार है। अैसी स्थितिमें वेदोंके प्रामाण्यके बारेमें शास्त्रार्थ करनेसे क्या लाभ होग? जितना समझमें आये अुतनेको हम स्वीकार करें; बाकीका समझमें नहीं आता अैसा कहकर छोड़ दें, किन्तु अुसकी निन्दा न करें। जहां तक मेरी शुद्ध बुद्धि चलती है, मेरा अनुभव पहुंचता है और मेरी श्रद्धा टिक सकती है वहां तक मैं शास्त्रोंको मानता हूं। मेरी दृष्टिमें प्राचीन कालके शास्त्रोंके व्याकरण-शुद्ध अथवा तर्कशुद्ध अर्थकी अपेक्षा श्रद्धावान और अनुभवी धर्मद्रष्टा सत्पुरुषोंके जीवंत वचन अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। अुनके शब्दों पर विश्वास रखकर अपना मार्गदर्शन करनेका काम मैं अुन्हें सौंप देता हूं।

अैसी वृत्तिसे की हुअी चर्चाओंमें हमें बड़ा आनंद आता था। आर्य-समाजियोंकी धर्मचर्चाकी अपेक्षा अुनकी समाजसेवा और अुनका आत्मत्याग मुझे सदा अधिक अुज्ज्वल लगा है। अैसे लोगोंके कड़वे वचन भी मुझे मीठे लगते थे। 'काश्मीरजस्य कटुताऽपि नितान्त रम्या।' — काश्मीरके केसरका कडुआपन भी स्वादिष्ट लगता है। दयानंद सरस्वती जैसा तेजस्वी ब्रह्मचारी और समाज-हितैषी पुरुष ही निर्भयतासे किसी राजासे भी कह सकता था कि "तू कुत्ता मत बन।" जिस समाजमें स्वामी दयानन्दसे लेकर स्वामी श्रद्धानन्द तक बलिदान देनेवाले वीर अुत्पन्न होते जाते हैं, अुस समाजका तेज सदा अुज्ज्वल ही रहनेवाला है। किसी भी धर्मका प्रचार अुसके पेशेवर या प्राकृत गायकों और प्रचारकों द्वारा नहीं होता। शुद्ध बलिदानसे ही धर्मका प्रचार होता है। धर्मका प्रचार अुस धर्मके अपने सच्चे तेजसे होता है।

आज शुद्धिकी और गुण-कर्मानुसार चातुर्वर्ण्यकी बहुत चर्चा हुअी है। सच कहूं तो आप अस्पृश्योंकी जो शुद्धि करते हैं, वह मुझे बिलकुल नापसन्द है।

अस्पृश्योंकी शुद्धि हम किसलिअे करें? अुन्होंने अैसे कौनसे पाप या अपराध किये हैं कि हम अुन्हें अशुद्ध मानें? वे मृत पशुओंको चीरते हैं, चप्पल-जूते बनाते हैं या पाखाना साफ करते हैं, अिसीलिअे क्या वे अशुद्ध हो गये? ये सब तो समाजके लिअे अुपयोगी धन्धे हैं। अिनके द्वारा अस्पृश्य लोग समाजकी कीमती सेवा करते हैं। पाखाने साफ करके वे समाजको स्वास्थ्य प्रदान करते हैं। अेक बंगाली कविने अपनी कवितामें अस्पृश्योंकी तुलना स्वयं हलाहल पीकर देवोंको अमृत देनेवाले नीलकंठ महादेवके साथ की है। अैसे वर्गको भला शुद्धिकी आवश्यकता कैसे हो सकती है? मैं तो 'अस्पृश्यों'को दूर रखनेवाले 'स्पृश्य' वर्गकी शुद्धि चाहता हूं। मैं स्पृश्योंसे कहता हूं कि भाअियो, आपके हृदय शुद्ध कीजिये और अपनी अुत्तम प्रकारकी सेवासे आपको अृणी बनानेवाली अिस अभागी जातिको अपनाअिये। अस्पृश्योंको दूर रखनेसे हिन्दू जातिका संगठन नहीं होगा। अेक अस्पृश्यताको यदि हम खतम कर दें, तो हिन्दू, मुसलमान, अीसाअी सभीके साथ हमारा झगड़ा मिट जायगा। यह झगड़ा यदि पूर्णतया न मिटा, तो भी मंद अवश्य पड़ जायगा।

आर्य-समाज अस्पृश्यताको नहीं मानता। फिर भी गुजरातके कुछ आर्य-समाजी अस्पृश्यता-निवारणमें शिथिल हैं, भीतर ही भीतर या छिपे रूपमें अस्पृश्यताका बचाव करते हैं। रूढ़िग्रस्त सनातनी हिन्दू यदि अस्पृश्यताका बचाव करें, तो यह बात समझमें आ सकती है। लेकिन आप लोग तो धर्मका अुद्धार करने निकले हैं। आप रूढ़िके शत्रु हैं। आप यदि अस्पृश्यताका बचाव करें तब तो हद हो गअी **न!** अंधविश्वाससे मुक्ति पाकर यदि आप अपनेको पुण्यपात्र मानते हों, तो अेक प्राचीन वचन अुद्धृत करके मैं आपसे कहूंगा:

अन्यक्षेत्रे कृतं पापं पुण्यक्षेत्रे विनश्यति।
पुण्यक्षेत्रे कृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति॥

दूसरी बात यह है कि आप चातुर्वर्ण्यको जन्मसिद्ध नहीं मानते, बल्कि गुण-कर्मके अनुसार मानते हैं। भगवद्‌गीतामें श्री भगवानने कहा है:

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म-विभागशः।

अिसमें भार 'गुणकर्म-विभागशः' शब्दों पर दिया जाय या 'मया सृष्टं' पर दिया जाय, अिस प्रश्नकी चर्चामें यहां मैं नहीं अुतरूंगा। मैं तो आपसे अितना ही कहूंगा कि चातुर्वर्ण्यका आधार चाहे जो हो, अुसमें अूंच-नीचका भाव तो कभी होना ही नहीं चाहिये। सब कोअी अपने अपने स्थान पर समान हैं। अूंच-नीचका भाव आया कि प्रतिस्पर्धा आयी ही समझिये। प्रत्येक मनुष्यकी अिच्छा सर्वोच्च स्थान पर पहुंचनेकी होती है। अुसे मना कैसे किया जा सकता है? प्रतिस्पर्धा और चातुर्वर्ण्य अिन दोनोंमें कोअी मेल नहीं हो सकता। यदि आर्य-समाजमें भी ब्राह्मण

श्रेष्ठ और शूद्र कनिष्ठ जैसा अूंच-नीच-भाव चालू रहेगा, तो यह समाज सनातनी समाजकी अपेक्षा जल्दी नीचे गिरेगा। सबको संस्कार प्राप्त करनेका, मोक्ष पानेका तथा समाज-सेवा और भूतमात्रकी सेवा करनेका समान अधिकार होना चाहिये। अिसमें बाहरसे मर्यादा लगानेका अधिकार किसीको नहीं है। चातुर्वर्ण्य केवल समाजमें आजीविकाकी शांति-मूलक और प्रगति-पोषक व्यवस्था करनेके लिअे ही है। जहां आपसी हित-सम्बन्धोंके परस्पर विरोधी होनेकी संभावना हो, जहां अेकका लाभ बढ़नेसे दूसरेकी हानि होती हो, वहां व्यवस्थाकी जरूरत होती है।

वर्ण-व्यवस्थाको मैं मनुष्य-स्वभावमें निहित [अेक प्रयोगरूप] संस्था मानता हूं। और जब तक हम यह मानते हैं कि मनुष्य-स्वभावके निर्माणमें अीश्वरका हाथ है तब तक चातुर्वर्ण्यके अीश्वर-कृत अथवा मनुष्य-कृत होनेकी चर्चा मेरी दृष्टिसे बेकार है। मनुष्यका स्वभाव तुरन्त नहीं बदलता। हमारा पुनर्जन्ममें विश्वास है, वंश-परम्परागत संस्कारोंमें विश्वास है और अिस बातमें भी हमारा विश्वास है कि शिक्षा द्वारा तथा धर्म-संस्कारोंके द्वारा मनुष्यके स्वभावको बदला जा सकता है। अिन सब बातोंका विचार करके हम अपने मनमें चातुर्वर्ण्यकी व्यवस्थाको स्थिर कर सकते हैं।

चारों वर्णोंको मिलाकर समाजका विराट् शरीर बनता है; किसी भी वर्णको केवल अपना ही विचार करके स्वतंत्र अथवा अलग रहनेका अधिकार नहीं है — यह बात वेदके पुरुष-सूक्तमें स्पष्ट है। मुझे लगता है कि जबसे हिन्दुओंमें प्रत्येक वर्ण और प्रत्येक जाति अपने अपने अलग मंडल बनाकर दूसरे वर्ण या दूसरी जातिके प्रति अुदासीन अथवा लापरवाह हो गये तभीसे चातुर्वर्ण्यका नाश हुआ है। ब्राह्मण यदि ब्राह्मणोंका ही विचार करें और अन्य तीन वर्णोंके अुत्कर्षकी परवाह न करें, तो वे वर्णोंके गुरु न रहकर शैतान बन जाते हैं। क्षत्रिय अपनी जातिके आत्म-बलिदानसे समस्त समाजकी रक्षा करनेके बजाय यदि अपनी जातिके अधिकारोंकी रक्षा और जातिकी श्रेष्ठता सिद्ध करनेमें लग जायं, तो यही कहना पड़ेगा कि वे चातुर्वर्ण्यको नहीं मानते। वैश्य यदि सारे समाजके लिअे खेती और गोरक्षा करना छोड़ दें और अपने दानके प्रवाहको अपनी जातिका भला करनेकी दिशामें ही मोड़ दें, तो वे आर्य हिन्दू धर्मके शत्रु कहे जायंगे। चारों वर्णोंको मिलाकर अेकजीव समाज बनता है, यह दिखानेके लिअे ही वैदिक ऋषिने 'सहस्रशीर्षा' पुरुषकी कल्पना की है। परन्तु अिस अुपमाको खींच-तानकर हम अैसा अनुमान न निकालें कि पांव शरीरका आधा और निचला भाग हैं, अिसलिअे शूद्र समाजका आधा और अुपेक्षणीय भाग हैं। प्रत्येक समझदार मनुष्यका कर्तव्य है कि वह अपने आसपासके मनुष्य-मात्रको संस्कारी बनाये। ब्राह्मण अर्थात् शिक्षक यदि यह कहे कि 'अमुक अमुक वर्गोंको मैं संस्कारों द्वारा द्विज बनाअूंगा ही नहीं', तो समझना चाहिये कि ब्राह्मण वर्णका दिवाला निकल गया है।

समाजमें कुछ लोग तो दुर्भाग्यसे जड़, मंद या अपंग रहेंगे ही। प्रयत्न करने पर भी जो लोग संस्कार ग्रहण नहीं कर सकते अैसे लोगोंके लिअे द्विजोंकी अर्थात् संस्कारी लोगोंकी परिचर्या करके अपनी आजीविका पानेकी व्यवस्था शूद्र वर्णमें है। परिचर्याका अर्थ है मनुष्यकी व्यक्तिगत सेवा। अंग्रेजीमें असे '**menial service**' कहा जाता है। स्वाश्रयी और स्वावलम्बी समाजमें परिचर्याके लिअे कमसे कम स्थान होता है। संस्कारी लोग समाज-सेवाके रूपमें बीमारोंकी या अपाहिजोंकी परिचर्या करें, विद्यार्थी धर्मबुद्धिसे अपने गुरुओंकी परिचर्या करके अध्यापनके लिअे जरूरी फुरसत अुन्हें जुटा दें, हर परिवारमें युवक और युवतियां कृतज्ञताकी भावना और भक्तिसे परिवारके अतिवृद्ध गुरुजनोंकी परिचर्या करें, यह स्वाभाविक है। अैसी परिचर्या करनेवाला मनुष्य हमेशा अूंचा उठता है। लेकिन अैसी परिचर्या अेक नैमित्तिक धर्म है। परिचर्याका धन्धा करनेवाला और अुससे आजीविका प्राप्त करनेवाला अेक वर्ग खड़ा करके अुसकी संख्याको बढ़ाना समाजकी नावको डुबानेवाली प्रवृत्ति है।

जिस प्रकार शिक्षाशास्त्री ब्रह्मचारिणी मॉन्टेसोरीने अपंग बालकोंको भी संस्कार प्रदान करनेकी नअी नअी पद्धतियां खोजनेका बीड़ा अुठाया, अुसी प्रकार हमें भी समस्त शूद्रोंको शिक्षा और संस्कारों द्वारा द्विज बनानेका बीड़ा अुठाना चाहिये। ब्राह्मणको अैसा लगना चाहिये कि समाजका अेक अेक अनपढ़ या संस्कार-शून्य शूद्र विद्यागुरु ब्राह्मणके पराजयकी पताका है। समाजमें शूद्रोंकी संख्या जितनी कम होती है अुतना ही समाज अधिक हलका और अधिक शक्तिशाली बनता है।

जितने लोग स्वतंत्र धन्धा करके आजीविका प्राप्त करते हैं और समाजके योग-क्षेममें पूरा भाग लेते हैं, वे सब वैश्य हैं। भले वह धन्धा राज्य-व्यवस्थाका हो, आभूषण बनानेका हो, दवा-दारू करनेका हो या जूते सीनेका हो। विराट् वैश्य वर्णमें अनेक जातियोंका और कौमोंका समावेश होता है। वेदोंमें तो 'वैश्य' अथवा 'विश्' शब्दका प्रयोग सामान्य मनुष्यके अर्थमें किया गया है। ब्राह्मण-पुत्र शुनःशेप वरुणकी प्रार्थना करते हुअे कहता है: "हे देव वरुण, हम सब विश् होनेके कारण स्खलनधर्मी हैं। हम तुम्हारे नियम प्रतिदिन तोड़ते हैं। तुम हम पर कोप न करना।" मनुष्य-समाजका बड़ा भाग वैश्य-समाज ही हो सकता है।

ब्राह्मण और क्षत्रिय ये दो वर्ण समाजकी विशिष्ट और अुत्कट पारमार्थिक सेवाके लिअे अुत्पन्न हुअे हैं। धर्म-प्रचार अथवा शिक्षा-प्रचारके प्रतापसे यदि सारा समाज सात्त्विक हो जाय, तेजस्वी बन जाय, तो क्षत्रिय वर्णके लिअे अधिक काम न रहे। धर्मकी शक्ति पर यदि हमारा सच्चा विश्वास हो तो हमें अवश्य यह लगेगा कि अेक समय अैसा आने ही वाला है जब मनुष्य-समाजमें अन्याय, अत्याचार और विग्रहका नाश हो जायगा। तेजस्वी समाज अपनी रक्षाका काम किसी अेक वर्गको ही सदाके लिअे नहीं सौंप सकता। 'स्ववीर्यगुप्ता हि मनोः

प्रसूतिः ।' मनुकी प्रजा — मानव-जाति — अपने वीर्यसे ही अपनी रक्षा करे, दूसरोंसे रक्षाकी अपेक्षा न रखे, अैसी स्थिति किसी न किसी दिन तो आनी ही चाहिये । अुस समय तक प्रजाकी रक्षाके लिअे अपना बलिदान देनेको तत्पर रहनेवाला अेक वर्ण समाजसे अपनी आजीविका प्राप्त करनेका अधिकारी रहेगा ही। क्षात्रवृत्तिका समाजके प्रत्येक मनुष्यमें विकास हो, यह वांछनीय है। परन्तु क्षात्रवर्ण बड़ा रहे या छोटा, यह तत्कालीन परिस्थितियों पर आधार रखता है।

ब्राह्मणका धर्म विद्याकी अुपासना, विद्यावृद्धि और विद्या-प्रचार, धर्मका पालन, धर्मका संस्करण और धर्मका प्रचार करना ही है । जब तक मानव-प्राणी जन्मसे ही अपने साथ ज्ञान लेकर नहीं आता, जब तक वह संस्कारोंकी शिक्षाकी अपेक्षा रखता है, तब तक ब्राह्मण-वर्ण अवश्य रहेगा । ब्राह्मण अपने ज्ञान और दीर्घ दृष्टिसे समाजका स्वाभाविक नेता बन सकता है। वह समाज-भक्षक न बन जाय, अिसके लिअे हमारे शास्त्रकारोंने अुस पर तीन प्रकारकी मर्यादायें लगा दी हैं: (१) ब्राह्मणको संपत्ति, सत्ता और सुख तीनोंके बारेमें विरक्त रहना चाहिये; (२) ब्राह्मणको अपनी अिन्द्रियों पर विजय प्राप्त करनी चाहिये, गरीबीमें रहना चाहिये, धन-संचयकी लालसा त्याग देनी चाहिये; तथा (३) ब्राह्मणको सत्ताधीश बननेका लोभ नहीं रखना चाहिये। महान चाणक्यने सत्ताका अुपयोग करके विदेशके शक्तिशाली लोगोंको देशसे बाहर निकालनेके लिअे मगध देशमें महान हिन्दू साम्राज्य स्थापित करनेकी हिमायत की। परन्तु अंतमें ब्राह्मण-धर्मके विरुद्ध यह कर्म करनेके लिअे अुन्होंने भारी प्रायश्चित्त किया। आज देखिये, यूरोपके ब्राह्मण किस प्रकार दुनियाको सुलगाने लगे हैं!

आज मुझे कहीं भी वर्णधर्म दिखाअी नहीं देता। जहां-तहां जातियां ही जातियां दिखाअी पड़ती हैं। जाति खूनके सम्बन्ध पर रची गअी संस्था है। यह संस्था समूह-धर्मी है। वर्ण सांस्कृतिक है; जाति प्राकृतिक है। जिस प्रकार घास अपने आप अुग आती है अुसी प्रकार जातियां अपने आप बन जाती हैं । वे धर्मके वश नहीं परन्तु कुदरतके वश रहती हैं। संस्कार-प्रधान वर्ण-व्यवस्थाको टिकाये रखनेके लिअे धर्मको जातीय व्यवस्थाका जंगल नष्ट कर देना चाहिये।

धर्म-परिवर्तनके बारेमें मेरे विचार अलग हैं। अपने अपने समूहकी संख्या बढ़ानेकी अिच्छासे किया जानेवाला धर्म-परिवर्तन धार्मिकताको भूलकर समूह-धर्मको प्रधानता देता है। भारतमें अीसाअियोंके अनुभवको देखिये। कोअी व्यक्ति जब अपना धर्म छोड़कर अीसाअी बनता है तो वह अपने समाजसे पूरी तरह अुखड़ जाता है, समाजसे अुसका कोअी सम्बन्ध नहीं रह जाता। नये समाजमें अुसकी जड़ें स्वाभाविक रूपमें जमतीं नहीं। जब बड़ी तादादमें या सारी जातिका धर्म-परिवर्तन किया जाता है तब अैसा समाज अपने पुराने संस्कारों और अंधविश्वासोंको छोड़ता नहीं। धर्म-परिवर्तन करनेसे केवल नामका 'लेबल' ही बदलता है। अैसे वर्ग

पुराने समाजसे अलग पड़ जाते हैं और नये समाजके लिअे बोझ बन जाते हैं। आवश्यकता है हृदयके परिवर्तनकी, हृदयकी शुद्धिकी, संस्कारोंकी अुच्चताकी। अिसके लिअे तो सभी धर्मोंमें गुंजाअिश है। प्रत्येक मनुष्य अपने आचरण द्वारा अपने जीवन-सिद्धान्तोंका अुत्कर्ष दिखाये, तो अुसका असर आसपासके समाज पर स्वाभाविक रूपमें जितना हो सकता है अुतना अवश्य होगा। जब तक लोग कहेंगे कि 'अेकमात्र हमारा ही धर्म सच्चा है, बाकी सब धर्म झूठे हैं' तब तक धार्मिक विग्रह रहेगा ही, धर्मके नाम पर अधर्म फैलेगा ही। अिस्लाममें भी यह कहा गया है कि अीश्वरने प्रत्येक देशको और प्रत्येक युगको धर्म-पुरुष दिये हैं; अुसने किसी भी समाज या किसी भी युगको अनाथ नहीं रखा है। हमारा भी यह विश्वास है कि 'धर्मसंस्थापनार्थाय युगे युगे' अवतार होते हैं। अीश्वरकी व्यवस्था अैसी ही हो सकती है। भिन्न-भिन्न परिस्थितियोंके अनुसार, भिन्न-भिन्न जन-स्वभावके अनुसार धर्मका कलेवर भले ही भिन्न-भिन्न रूप धारण करे, परन्तु धर्मतन्त्र बीजरूपमें तो सर्वत्र अेकसा ही ओतप्रोत है। जब अिस व्यवस्थाको सर्वत्र समझ लिया जायगा तभी जगतमें शांति स्थापित होगी। हमारे वेद सबके लिअे खुले हैं — 'विवृताश्च वेदाः।' सभी धर्मग्रन्थ सब लोगोंके लिअे हैं। प्रत्येक मनुष्यको अपने धर्मका पालन करते हुअे भी सब धर्मोंके ग्रन्थोंका, रीति-रिवाजोंका और संस्कारोंका अध्ययन करना चाहिये और अीश्वरकी विविध लीलाको समझ कर अपने जीवनको धन्य बनाना चाहिये। जब हम अिस तरह चलेंगे तभी हमें यह विश्वास होगा कि दुनियाके सभी धर्म सच्चे हैं, सभी धर्म मांगल्य-परायण हैं। और तभी हमारे अिस भारतवर्षमें सब धर्मोंका अेक विश्व-कुटुम्ब स्थापित होगा। हमारी शिक्षण-संस्थायें अैसे धर्म-कुटुम्बका आदर्श अपने समक्ष रखें और अुसे सिद्ध करनेका यथाशक्ति प्रयत्न करें, यह सर्वथा वांछनीय है। हमें अिस दिशामें चलनेकी शक्ति प्राप्त हो और हम सब मनुष्योंकी ओर मित्रताकी दृष्टिसे देख सकें, अैसी प्रार्थनाके साथ मैं अपना भाषण पूरा करता हूं।

२

सनातन आर्य-समाज

आर्य-समाजमें संन्यासी हैं, गृहस्थी हैं, राजनीतिज्ञ हैं, शिक्षाशास्त्री हैं, राजनीतिसे घबरानेवाले पेंशनर हैं और संपूर्ण नागरिकताका अनुभव न करनेवाले सरकारी अधिकारी भी हैं। आर्य-समाज अेक सुधारक पंथ है, यद्यपि अुसमें भी प्रगतिको देखकर चौंकनेवाले, राजनीतिसे घबरानेवाले और 'हमने बहुत काम कर लिया है, अब तो जो कुछ किया है अुसकी रक्षा करनेका काम ही रह जाता है', अैसा माननेवाले क्षेम-परायण लोग भी हैं। कभी कभी अैसे लोगोंके

हाथमें समाजकी धुरा आ जाती है और सुधारक लोग आर्य-समाजके भविष्यके बारेमें क्षणिक अुद्वेगका अनुभव करके निराश हो जाते हैं।

अिस सबके बावजूद आर्य-समाज अेक जीवंत समाज है। अुसने काफी प्रगति की है। सनातनियोंका सफलतापूर्वक मुकाबला करनेकी पद्धति भी अुसने अब बड़ी हद तक बदल डाली है। आर्य-समाजका भविष्य अुज्ज्वल है। किसी समय आर्य-समाजका अस्त हुआ तो वह अपने आदर्शोंमें अुसकी श्रद्धा घटनेके कारण अथवा अपने प्रयासोंमें अुसे निष्फलता मिलनेके कारण नहीं होगा; परन्तु अिसलिअे होगा कि अुसने सुधारका जो कार्य हाथमें लिया था अुसके पूरा हो जानेसे वह कृतार्थता अनुभव करके अपना पुराना स्वरूप छोड़ देगा और पुरानी प्रेरणाको नया रूप देनेके लिअे नया शरीर धारण करेगा।

सनातनका अर्थ है नित्य-नूतन। प्राण-विसर्जन करके भी मूल सिद्धान्तोंकी रक्षा करना और अुनके बाह्य स्वरूपमें समय समय पर परिवर्तन करना -- अिसीमें सच्चा सनातनत्व समाया हुआ है। मेरा विश्वास है कि अैसा सनातनत्व आर्य-समाजमें पूरी मात्रामें है। अिसीलिअे मेरा यह विश्वास है कि आर्य-समाजका भविष्य अुज्ज्वल है।

२१-१२-'३७

३

आर्य-समाजकी सफलता

अिस बारेमें किसीका मतभेद नहीं था कि (निजाम हैदराबादमें हुअे सत्याग्रहके सम्बन्धमें) आर्य-समाजकी मांगें न्याययुक्त थीं। सामाजिक शांति और सामाजिक हितका भंग न हो अुस समय तक प्रत्येक मनुष्यको अपनी मान्यताके अनुसार धार्मिक जीवन बितानेका अधिकार होना चाहिये। अिस सिद्धान्तको प्रस्थापित करनेके लिअे मनुष्य-जातिने कितने ही युगों तक पुरुषार्थ किया है और न जाने कितने ही बलिदान दिये हैं। आज अिस विषयमें किसी प्रकारका मतभेद होनेका कोअी कारण नहीं है। फिर भी यदि कोअी पिछड़ी हुअी या मूढ़ाग्रही सरकार मनुष्यके सामान्य अधिकारोंकी रक्षाके लिअे भी नये बलिदानकी मांग करे, तो प्रत्येक धर्मप्रेमीको अितनी कीमत चुकानेके लिअे तैयार रहना चाहिये। परन्तु यह सवाल मनमें अुठे बिना नहीं रहता: 'कोअी भी सरकार अैसा बलिदान किसलिअे मांगे?' जो बात अनेक बार सिद्ध हो चुकी है, अुसे पुनः सिद्ध करनेके लिअे क्या बार-बार कीमत चुकानी होगी?

अिसका अुत्तर यह है: स्वतंत्रता प्राप्त करना जितना मनुष्यका कर्तव्य है अुससे भी अधिक सतत जाग्रत रहकर अुस स्वतंत्रताकी रक्षा करना अुसका अधिकार है। यदि हम किसी न किसी कारणसे अपनी स्वतंत्रता खो बैठें, तो

अुसकी पुनःस्थापना करनेके लिअे अितनी कीमत तो चुकानी ही पड़ती है। अिसके बिना यदि स्वतंत्रता मिले, तो हम अुसे पचा नहीं सकते।

आर्य-समाज हिन्दू धर्मका सेनामुख है।

जो लोग अपनी स्वतंत्रता खो बैठते हैं अुन्हें फिरसे स्वतंत्रता प्राप्त करनेके लिअे जैसे कीमत चुकानी पड़ती है, वैसे ही जो लोग दूसरोंकी स्वतंत्रता छीन कर अुसे पुनः लौटानेके लिअे बलिदान मांगते हैं अुन्हें भी अपने अैसे दुर्व्यवहारकी कीमत चुकानी पड़ती है। अितिहास जानता है कि अिस कीमतका स्वरूप कैसा होता है।

१२–८–'३९

२७

प्रार्थना-समाजकी सेवा*

'अभंगमाला' के भक्तकवि भोलानाथ साराभाअी द्वारा स्थापित यहांके प्रार्थना-समाजकी षष्ठिपूर्तिका अुत्सव मनानेके लिअे आज हम यहां अेकत्र हुअे हैं। साठ वर्षमें अेक संवत्सर-चक्र पूरा होता है, सारा जमाना बदल जाता है और नये युगका आरंभ होता है। साठ वर्ष पहले आजके ही दिन अिंग्लैण्डके शाहजादेका स्वास्थ्य-चिन्तन करनेके लिअे अनेक-धर्मी लोग अेक-हृदय बनकर प्रार्थना करनेके लिअे अेकत्र हुअे थे। अुसीमें से गुजरातके प्रार्थना-समाजका अुदय हुआ था! आज साठ वर्ष बाद जब गुजरात पूर्ण स्वराज्यकी लड़ाअीमें सबसे आगे रहकर अेक-हृदय हो गया है, अुस समय हम यह अुत्सव मना रहे हैं। साठ वर्ष पहले सरकारी शिक्षा-विभागकी ओरसे प्रार्थना-समाजको प्रोत्साहन मिला था; आज राष्ट्रीय शिक्षासे सम्बन्ध रखनेवाले हम कितने ही लोग आदर और भक्तिसे अिस मणि-महोत्सवमें शामिल हुअे हैं। प्रार्थना-समाजके साथ शिक्षा-जगतके लोगोंका यह सम्बन्ध विशेष ध्यान खींचनेवाला है।

साठ वर्ष पूर्व प्रार्थना-समाजके कारण गुजरात और महाराष्ट्रका सम्बन्ध दृढ़ हुआ था। आज अेक महाराष्ट्रीयके नाते अिस समाजके अुत्सवमें भाग लेते हुअे मुझे आनंद होता है। प्रार्थना-समाज पश्चिम हिन्दुस्तानके अनेक प्रान्तोंके बीचकी प्रथम प्रेम-शृंखला है।

मैं यह कहूं तो गलत नहीं होगा कि प्रार्थना-समाजके साथ बचपनसे ही मेरा सम्बन्ध रहा है। लगभग ३३ वर्ष पहले मैं कारवारके हिन्दू स्कूलमें पढ़ता था।

---

* ता० १७–१२–'३१ को अहमदाबाद प्रार्थना-समाजके मणि-महोत्सवके अवसर पर दिया गया भाषण।

वहां हमारे अध्यापकोंका झुकाव प्रार्थना-समाजकी ओर था। अुनके प्रवचन मैं रसपूर्वक सुनता था। ठेठ बचपनमें पंढरपुरके साधु-संतोंका मुझ पर जो असर हुआ था, वह प्रार्थना-समाजके संस्कारोंसे विशुद्ध और दृढ़ बना। जिस अुमरमें जाग्रत हृदय जराजीर्ण रूढ़ियोंके खिलाफ विद्रोह आरंभ करता है, अुसमें रूढ़ियोंके साथ धर्म-संस्कारोंका भी नाश हो जानेका भय रहता है। शास्त्रधर्मकी अपेक्षा हृदय-धर्मको अधिक समझनेवाले साधु-संतोंने अपनी आर्षवाणीसे अुस समय मुझे अिस भयसे बचा लिया था। रूढ़ियोंके खिलाफ विद्रोह करते हुए भी मनुष्य अपनी नीतिनिष्ठा और अीशनिष्ठाकी रक्षा कर सकता है, यह जो विश्वास और मार्गदर्शन साधु-संतोंने मुझे दिया अुसे वर्तमान परिस्थितियोंमें लागू करनेका कार्य मेरे लिअे प्रार्थना-समाजने किया है। अुन दिनों यह कल्पना रूढ़ हो गअी थी कि धर्म केवल अैहिक और पारलौकिक आत्मोन्नतिके लिअे ही है। अिसमें समाज-सेवाको जोड़कर जनसेवा ही अीश्वर-सेवा है अिस प्रकारका समन्वय हमारे जमानेने विशेष रूपसे किया है।

परन्तु आगे चलकर जब अिसमें समाज-सेवाका जोर बढ़ा, तो अीश्वर और शास्त्रधर्म दोनोंकी ओर लोगोंकी अनास्था बढ़ गअी। मैं मानता हूं कि संशय-वाद और नास्तिकता सामान्य मनुष्यके लिअे लगभग अपरिहार्य हैं। जवानीके साथ जैसे मुंह पर मुंहासे निकलते हैं वैसे ही विचार-जागृतिके साथ मनुष्यमें संशयवाद और नास्तिकता आते ही हैं। ऑगस्टस कॉन्ट, हर्बर्ट स्पेन्सर, जॉन स्टुअर्ट मिल और जॉन मोर्ली जैसे बुद्धिवादी तथा अीश्वर-विमुख पंडितोंकी रचनायें पढ़नेके बाद यदि नास्तिकता अधिक जोर पकड़े, तो अिसमें आश्चर्यकी कोअी बात नहीं। मनुष्यके जीवनमें नास्तिकता और संशयवादकी लहर अुठे, तो अिसमें मैं कोअी खतरा नहीं देखता। खतरा है अुसके साथ आनेवाली अलंबुद्धिमें और अुद्दाम अहंकारमें। बचपनके संस्कार यदि अच्छे हों, अथवा यदि सत्यनिष्ठा और धर्म-जिज्ञासा अुत्कट हो, तो नम्रता और शुद्धता अवश्य बनी रहेगी। मेरा संशय-वाद और बुद्धिवाद महामति रानडेकी रचनाओंसे दूर हो गया। अुसी अरसेमें डॉक्टर भांडारकरका अेक भाषण मुझे सुननेको मिला। अुनके भाषणमें मुझे तुकारामके जैसी हृदयकी शुद्धता दिखाअी दी। लेखक और वक्ता अधिकतर कलाकार होते हैं। वे अपनी साहित्य-छटासे लोगों पर विशेष प्रभाव डालनेका प्रयत्न करते हैं। परन्तु डॉ० भांडारकरमें अैसा कुछ नहीं था। नग्न बालककी स्वा-भाविकतासे वे अपने विचार प्रकट करते थे। अिस प्रकार अुन्होंने श्रोताओंके सामने अेक सुन्दर आदर्श प्रस्तुत किया। राजनीतिक क्षेत्रमें अुनके विचार अुन्नति या स्वाभिमानके पोषक नहीं हैं, यह मैं जानता था। किन्तु अिस कारणसे अुनकी दूसरी अच्छी बातोंकी अुपेक्षा करने जितना मतांध मैं अुस समय भी नहीं था।

प्रार्थना-समाजकी अैसी नींव पर मेरे लिअे स्वामी विवेकानन्द तथा रामकृष्ण परमहंसके लेखोंने अपनी अिमारत खड़ी की और मेरे चित्तको अेक प्रकारका आश्वासन और प्रोत्साहन मिलने लगा। १९०८ में मैं 'लॉ-टर्म' भरनेके लिअे बम्बअीमें रहा। अुन दिनों मैं प्रार्थना-समाजकी अुपासनाको यथासंभव चूकता नहीं था। अुस अरसेमें वहांके अेक अुपासकने विलियम जेम्सकी 'वेरायटीज़ ऑफ रिलीजियस अेक्सपीरियन्स' नामक पुस्तक मुझे पढ़नेको दी। धर्मानुभवका विश्लेषण करने तथा अुसका मूल्यांकन करनेकी दृष्टिसे यह पुस्तक बड़ी अुपयोगी है। बुद्धि और भावना, श्रद्धा और संकल्प अिन सबका सुन्दर समन्वय स्वामी विवेकानन्दके लेखों द्वारा मुझे वेदांतमें मिला। द्वैत-अद्वैतके झगड़े व्यर्थ हैं, यह मैं आसानीसे समझ गया। हिन्दू सामाजिक जीवनमें और धर्म-व्यवस्थामें हम अपने तत्त्वज्ञानके प्रति वफादार नहीं रहे, यह बात ध्यानमें आनेसे धार्मिकताके आधार पर सामाजिक सुधार करनेकी आवश्यकता मेरे सामने अधिकाधिक स्पष्ट होने लगी। भगिनी निवेदिता और आनन्द कुमारस्वामी आदि प्रतिभावान लेखकोंकी रचनाओंके कारण धर्मका सामाजिक पहलू अधिकाधिक स्पष्ट होने लगा। जीवनकी समग्र कल्पना करनेके लिअे जो दृष्टि चाहिये, अुसका मुझमें विकास होने लगा। अितनी तैयारीके बाद गीता, अुपनिषद्, तुकाराम, कबीर आदि आध्यात्मिक शक्तियोंका स्वरूप और सामर्थ्य मेरे समक्ष अुत्तरोत्तर अधिक प्रकट होने लगा।

हिन्दू धर्ममें अन्य धर्मोंके प्रति तिरस्कारका भाव है ही नहीं। 'तुम्हारे लिअे तुम्हारा धर्म और हमारे लिअे हमारा धर्म'—यह कुरानका वचन सम्प्रदाय-बहुल हिन्दू धर्मका प्राण है। 'अेकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति'। प्रार्थना-समाज सभी धर्मोंसे समान रूपमें प्रेरणा ग्रहण करता था, अिसलिअे हिन्दू धर्ममें निहित सर्वधर्म-सद्भाव अधिक स्पष्ट हुआ; और जिसे आधुनिक लोग धार्मिक अुदारता कहते हैं तथा मैं जिसे जागृतिकी स्वाभाविकता कहता हूं, अुसका दर्शन मुझे हुआ। अब मेरे मनमें यह विचार भी स्पष्ट हो गया कि वेद और स्मृति, बाअिबल और कुरान, शास्त्रोंके संस्कार और लोगोंमें रूढ़ बनी हुअी विधियां—अिन सबको किस दृष्टिसे देखना चाहिये और किस दृष्टिसे अिनकी परीक्षा करनी चाहिये। अिससे मुझे हिन्दू धर्मसे भी अधिक विशाल भारतवर्षीय सार्वभौम धर्मका साक्षात्कार हुआ। बचपनसे मिली हुअी प्रार्थना-समाजकी यह अुदार सहायता मेरे लिअे अनेक प्रकारसे अुपकारक सिद्ध हुअी है और अिसलिअे प्रार्थना-समाजके प्रति मेरे मनमें सदा कृतज्ञता बनी रही है।

अिसके बादकी मेरी प्रवृत्ति अिस नूतन विकसित दृष्टिसे भारतके सब धर्मों और सम्प्रदायोंका निरीक्षण करनेकी थी। प्रार्थना-समाज अथवा ब्राह्म-समाज, आर्य-समाज और देव-समाज, रामकृष्ण-मिशन और थियॉसॉफी, चैतन्य सम्प्रदाय और स्वामीनारायण सम्प्रदाय—सबकी ओर अिसी दृष्टिसे देखनेका मन होने लगा।

अिस दृष्टिसे देखने पर मालूम हुआ कि प्रार्थना-समाज भारतवर्षीय धर्म-परिवारके संगीतका तानपूरा है। आत्माकी अनंतताको व्यक्त करनेवाला भाववाही संगीत चाहे जितने सप्तक चढ़े अथवा अुतरे, आरोह-अवरोह तथा आलापके चाहे जितने विविध विलास दिखाये, फिर भी अिस तानपूरेके साथ तो अुसे अपना मेल बैठाना ही होगा। अर्थात् सभी धर्मोंको प्रार्थना-समाजके साथ सुमेल साधना चाहिये। तानपूरेके अभावमें संगीत खिल नहीं सकता; किन्तु सारा संगीत तानपूरेमें ही नहीं समा जाता।

प्रत्येक धर्ममें बुद्धि, दिव्य अनुभव, श्रद्धा, अंत:करणकी भावनायें, काव्य-कल्पना और कला-रसिकता होती है—होनी ही चाहिये। साथ ही, व्यक्तिका समाज और विश्वके साथ सम्बन्ध, जीवन-व्यापी संघ स्थापित करनेकी वृत्ति और आवश्यकता तथा क्षेमवृत्ति (conservatism) और परिवर्तन-वृत्ति (radicalism) ये दोनों पहलू धर्ममें स्वभावत: होते हैं और होने चाहिये। अिनमें से अेक भी अंगको यदि हम कम कर दें, तो धर्म विकलांग हो जायगा और मनुष्य-जीवनके लिअे अपर्याप्त सिद्ध होगा। धर्ममें श्रद्धाकी मात्रा बढ़नेसे धर्म बिगड़ता नहीं। भावना और कोमलताके बढ़नेसे धर्म कमजोर नहीं बनता। काव्य-कल्पनाओंके बढ़नेसे वह असत्यका प्रेरक नहीं होता और कला-रसिकताके बढ़ जानेसे वह हीनताका संग्राहक नहीं बनता। विश्वके साथ अपने सम्बन्धको पूर्णतया स्वीकार करनेसे वह अव्यावहारिक नहीं हो जाता। क्षेमवृत्तिको अंगीकार करनेसे वह जड़ नहीं बन जाता। और न परिवर्तनशीलताका स्वागत करनेसे वह विनाशक हो जाता। धर्मकी मृत्यु अज्ञान, विलासिता और बाह्य सत्ताके कारण होती है। भ्रममूलक सत्यसे सत्य ढंक तो सकता है, परन्तु अुसका नाश कभी नहीं हो सकता। अिसका कारण यह है कि असत्यके पेटमें भी सत्य ही छिपा रहता है। सत्यकी पराजय सत्तामें है। कोअी भी धर्म जब अज्ञानको बरदाश्त करता है, विलासिताके साथ समझौता करता है, अथवा सत्ताकी अुपासना करता है, तब पहले वह धर्म सुलभ हो जाता है, रोचक बनता है, विशाल होता है और अंतमें जलके बड़े बुलबुलेकी तरह फूट जाता है। शासनकी सहायतासे फैला हुआ धर्म क्षीणवीर्य और क्षणजीवी बनता है, अिसका सम्राट् अशोकने भी अनुभव किया था और अकबरने भी अनुभव किया था।

प्रार्थना-समाजने अीश्वरके अद्वैत पर विशेष जोर दिया है। यह अिस्लामकी देन मानी जायगी। राजा राममोहनरायने अिस्लामका गहरा अध्ययन किया था। अीश्वरके अद्वैतका जाग्रत भान अिस्लामकी असाधारण सुन्दरता है। सर्वोपरि सत्ताकी पूजा करनेवाले यहूदी लोगोंका अीश्वर अीर्षालु 'Jealous God' हो, तो अिसमें कोअी आश्चर्य नहीं। यह विरासत अिस्लामको और अीसाअी धर्मको समान रूपमें मिली है। भारतवर्षमें जीव-ब्रह्मैक्यका विचार पहलेसे ही चलता

आया है, असिलिअे हमारे देशमें 'अेक या अनेक' का झगड़ा अुत्पन्न नहीं हुआ, हमारे मार्गमें बाधक नहीं बना। अीश्वर है, वह अद्वितीय है, सर्व-समर्थ है और प्रेममय है, यह भावना अथवा अनुभव प्रत्येक धर्मकी पूंजी है। वह अीश्वर अंतर्यामी है, आत्म-स्वरूप है, सर्व-सह है, अपार धैर्य रखनेवाला है, जाग्रत है और भक्तानुकूल है, यह शोध बादमें हुअी है। अिस शोधके अभावमें मनुष्यने धार्मिक जीवनमें बड़े बड़े कष्ट भोगे हैं, बड़ी बड़ी आपत्तियोंका सामना किया है। परन्तु बादमें हुअी अिस शोधका विस्तार करनेका यह स्थान नहीं है। अिस शोधके कारण धर्मकी पूंजी बढ़ी है। जो मनुष्य यह मानता है कि अीश्वर अनेक हैं, अेक नहीं, अुसका नाश निश्चित है। 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य अिह नानेव पश्यति।'

छोटे छोटे देवोंकी अुपासनासे जो नुकसान होता है, अुसे दूर करनेके दो ही अुपाय हैं: (१) मुख्य देवको रहने देकर बाकीके सब देवोंकी हत्या कर डालो, अेकेश्वरवादकी लकड़ीसे अुनका स्पर्श करके अुन्हें अपने स्थानोंसे नीचे गिरा दो; (२) अथवा यह समझो कि अेकके ही ये अनेक रूप हैं, अनेकसे अुस अेकका अेकत्व कभी नष्ट होता ही नहीं। भारतवर्ष पहलेसे ही अिस दूसरे मार्ग पर चलता आया है। सच पूछा जाय तो जिस अीश्वरकी अुपासना हम अपने ढंगसे करते हैं, वह भी परमेश्वरकी मानवीय आवृत्ति है। हमारा अीश्वर मनुष्यका बनाया हुआ तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु मनुष्यका पहचाना हुआ जरूर कहा जा सकता है। अीश्वरके स्वरूपके नाते हम जिसे पहचानते हैं, वह मनुष्यके अंतिम प्राप्तव्यका स्वरूप है। मनुष्य स्वयंको पहचान कर ही अीश्वरको पहचानना सीखा है। असिलिअे हम अीश्वरको अंतर्यामी कहते हैं, आत्माराम कहते हैं। अुपनिषद्-कालीन ॠषियोंने अीश्वरके स्वरूपका जो चिन्तन किया है, अुसी चिन्तनको प्रार्थना-समाजने पुनः प्रचलित किया है और रूढ़िधर्मसे अुसने आग्रह-पूर्वक कहा है:

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते।

प्रार्थना-समाजने पहलेसे ही मूर्तिपूजाका विरोध किया है। मुझे लगता है कि हिन्दू धर्ममें मूलतः मूर्तिपूजा नहीं थी; संभवतः वह बाहरसे यहां आअी होगी। आजकी मूर्तिपूजाका विरोध भी बाहरसे ही आया है। भारतके सभी धर्मोंने मूर्तिपूजाका कला-रसिकताके अुत्साहसे स्वागत किया है, असिलिअे हमारे यहां मूर्तिपूजाका विरोध करना आसान बात नहीं है। मूर्तिपूजाकी अपेक्षा मूर्तिपूजाके आसपास जो आडंबर और अनाचार लिपटा रहता है, वह अधिक घातक होता है। प्रार्थना-समाजने मूर्तिपूजाका जो विरोध किया, वह आरंभमें बहुत जोशीला था। प्रारंभमें प्रार्थना-समाजकी यह मान्यता थी कि मूर्तिपूजा असत् मार्ग है, अीश्वर-का अपमान करनेवाली है, मनुष्यमें नीचता पैदा करनेवाली है और अुसे दुरा-

चारकी ओर ले जानेवाली है। डॉ० भांडारकरने अिसमें परिवर्तन करवाया था। अुन्होंने प्रार्थना-समाजमें यह मत दृढ़ किया कि मूर्तिपूजामें पाप नहीं है, लेकिन वह निरर्थक है। आगे चलकर कहीं कहीं मूर्तिपूजाका विरोध अितना मंद पड़ गया कि प्रार्थना-समाजकी अपनी अुपासनाके समय मूर्तिका अुपयोग न करना ही काफी माना गया। मूर्तिपूजाके निषेधको दिया गया अत्यधिक महत्त्व भीतरसे ही कम होने लगा, यह अेक तरहसे अच्छा हुआ है। मूर्तिपूजामें कोअी खास रहस्य तो है ही नहीं। मूर्तिपूजा मनुष्यकी कलावृत्तिको सन्तुष्ट करनेवाला अथवा खिलौनोंके साथ खेलनेकी बालवृत्तिका पोषण करनेवाला अेक प्रकार है। मूर्तिपूजाका त्याग प्रौढ़ या परिपक्व वृत्तिके मनुष्यके लिअे स्वाभाविक होना चाहिये। लेकिन आज-की परिस्थितियोंमें अिस छोटीसी बात पर विस्तृत चर्चा करना जरूरी नहीं है। प्रार्थना-समाजमें मूर्तिपूजाके निषेधका जोश कम हो गया अिसलिअे प्रार्थना-समाज शिथिल पड़ गया है, अैसा माननेका मैं कोअी कारण नहीं देखता।

प्रार्थना-समाज द्वारा किया गया सुधारका तीसरा कार्य है जातिभेदका विरोध। जातिभेद कोअी धार्मिक संस्था नहीं है, परन्तु मानवके स्वभावमें गहरी जमी हुअी समूह-वृत्तिका ही अेक रूप है। मैं मानता हूं कि हिन्दू धर्मने अिसे अुन्नत करके वर्ण-व्यवस्थाका रूप देनेका सतत प्रयत्न किया है। प्रार्थना-समाजने जातिभेदका सर्वत्र अेकसा विरोध नहीं किया। बंगालने अुसका अधिक विरोध किया; महाराष्ट्रका विरोध नहीं-जैसा ही कहा जायगा; और गुजरातकी तो अुसका विरोध करनेकी हिम्मत ही नहीं हुअी। जातिभेदकी संस्था मनुष्यकी प्रकृतिसे पैदा हुअी है, अिसलिअे अुसका विरोध करना कठिन है। भारतमें अुसे धर्मकी मान्यता मिल जानेसे अुसकी शक्ति पहाड़ी किलेमें घुसकर बैठी हुअी सेनाके समान सुदृढ़ हो गअी है। बाहरी विरोध या आक्रमणसे यह प्रथा मर नहीं सकती। अिसका भीतरसे ही अंत करना चाहिये। आजकी परिस्थितियां और राजनीतिक आकांक्षायें यह काम कर रही हैं।

आज तकके अनुभवसे मालूम होता है कि प्रार्थना-समाजने अेक ओर जीवन-विमुख वैराग्य तथा दूसरी ओर अनाचारपूर्ण विलासिता दोनोंका खातमा कर दिया है। प्रार्थना-समाज स्वभावसे गृहस्थाश्रमी है। प्रोटेस्टेन्ट अीसाअी लोगोंकी अंग्रेजी शिक्षा पाकर हम बड़े हुअे हैं, अिसलिअे पिछली आधी शताब्दीमें न तो हम अपने जीवनमें अलौकिक त्याग और वैराग्यको दृढ़ कर सके और न कल्पना-शक्तिको अुन्नत बनानेवाले नये अुत्सवों या त्योहारोंका ही आयोजन कर सके। यही कारण है कि प्रार्थना-समाजमें अनेक आदरणीय सत्पुरुष तो हुअे हैं, परन्तु अुसमें भव्य पुरुषोंकी दीर्घ परम्परा हम नहीं पाते। जीवन-कुशल लोग जीवन-वीर होते ही हैं, अैसी बात नहीं। प्रार्थना-समाजके लिअे अब अध्यात्मके क्षेत्रमें वीरवृत्तिका विकास करनेका समय पक गया है।

मेरी दृष्टिमें प्रार्थना-समाजका मुख्य कार्य तो यह है कि अुसने धर्मग्रन्थोंके प्रामाण्यका अंत कर दिया। वैसे तो नास्तिक, तर्कवादी और धर्मशून्य लोग सदा ही शास्त्रग्रन्थोंको अस्वीकार करते रहे हैं, परन्तु समाजके मानस पर अुसका कोअी अच्छा असर नहीं हुआ। धर्म-परायण सात्त्विक लोग जब बुद्धि, अनुभव और श्रद्धा पर आधार रखकर शास्त्रग्रंथोंके प्रामाण्यको स्वीकार करनेसे अिनकार करते हैं, ग्रन्थोंके अधीन होनेसे अिनकार करते हैं, तभी समाज बौद्धिक और धार्मिक स्वातंत्र्य प्राप्त कर सकता है। प्रार्थना-समाजने यह कार्य कर दिखाया, यह अुसकी सबसे कीमती सेवा है।

प्रार्थना-समाजके भांडारकर तथा रानडे जैसे आदि-पुरुषोंने शास्त्रों और संत-वचनोंके प्रति आदरका भाव बनाये रखा, परन्तु बुद्धिको स्वतंत्रता देकर ग्राह्य और अग्राह्यका विवेक मनुष्यके ही हाथमें रखा। 'केवल मेरे धर्मके ही शास्त्र-ग्रन्थ सच्चे हैं,' अिस संकुचितताको दूर करके अुन्होंने समाजको यह अुदार वृत्ति सिखाअी कि सत्य जहांसे भी मिले वहांसे उसे ले लेना चाहिये, 'सत्य हमारी ही खोयी हुअी वस्तु है, हम अधिकारपूर्वक अुसे ले सकते हैं।' अग्नि शीतल है —अैसा सौ श्रुति-वचन कहें, तो भी हम अुसे स्वीकार न करें, यह शंकराचार्यने कहा है। अपने पूर्वजोंने हमें सिखाया है कि सत्य-ज्ञान यवनाचार्योंसे भी ग्रहण किया जा सकता है। हमारे सुभाषित कहते हैं कि अुत्तम विद्या किसी भी मनुष्यसे सीखी जा सकती है। फिर भी हम ग्रन्थोंके प्रामाण्यसे चिपटे ही रहते थे। अिसके फलस्वरूप हमारी बुद्धिको ग्रन्थ-परतंत्रताकी रुंधी हुअी हवामें रहना पड़ता था और बेचारे शास्त्रग्रन्थोंको तार्किकों द्वारा की जानेवाली शास्त्रार्थकी चमत्कारपूर्ण कसरतका शिकार बनना पड़ता था।

संसारमें मनुष्यको वकील, डॉक्टर और पुरोहितके बगैर अपना काम चलाना चाहिये। अेक जर्मन दार्शनिकने कहा है कि मनुष्य स्वयं ही अपना वकील बने, स्वयं ही अपना डॉक्टर बने और स्वयं ही अपना शास्त्रज्ञ धर्मगुरु बने यह जरूरी है। मानव-स्वातंत्र्यकी अिन त्रिविध शिक्षाओंका अेक भाग प्रार्थना-समाजने पूर्णतया सिद्ध किया है। और सौभाग्यसे अिस सम्प्रदायमें आरंभसे ही मत-वैविध्य दाखिल होनेसे आप्तवाक्यका जुआ भी अिसके सिर पर नहीं लदा। राजा राम-मोहन रायने अुपनिषदों और अिस्लामके प्रभावको स्वीकार किया। महर्षि देवेन्द्र-नाथने अुपनिषदों और बौद्ध साहित्यसे प्रेरणा ग्रहण की। न्यायमूर्ति रानडे और भांडारकरने अुपनिषदोंके साथ साधु-संतोंकी वाणीका छूटसे अुपयोग किया। केशव-चन्द्र सेनने अीसा मसीहकी विशेष अुपासना की। और रवीन्द्रनाथ ठाकुरने कबीर-पंथ तथा लोकगीतोंमें फैले हुअे अनेक स्वतंत्र लोकधर्मोंका प्रभाव समाज पर पड़ने दिया है। यह सब प्रार्थना-समाजकी अुदारताका हितकारी फल है। महाराष्ट्रके प्रार्थना-समाजने मराठी साधु-संतोंके भजनों और गीतोंको कुछ परिवर्तनोंके साथ

अपना लिया। भोलानाथ साराभाअीकी 'अभंगमाला' में महाराष्ट्रका प्रभाव दिखाअी देता है। और साहित्य-शूर बंगालने तो गद्य और पद्य, अितिहास और विवेचन प्रत्येक क्षेत्रमें अेक नया ही साहित्य निर्माण किया है।

प्रार्थना-समाजने समाज-सेवाका कार्य भी काफी किया है; परन्तु अुसमें नअी दिशा अथवा अलौकिक त्याग जैसा कुछ नहीं है। अनाथालय, रुग्णालय, विद्यालय, पुस्तकालय या चर्चालय चलाना कोअी विश्वव्यापी धार्मिक प्रवृत्तिका पर्याप्त फल नहीं माना जा सकता। प्रार्थना-समाज यह भी नहीं कह सकता कि अुसने संपूर्ण जनताको मंत्रमुग्ध करनेवाली धार्मिक पुस्तकें बड़ी संख्यामें प्रकाशित की हैं। प्रार्थना-समाजकी संपूर्ण प्रवृत्ति मध्यमवर्गके घर-बार और अुसके रहन-सहनकी, अुसकी धर्मबुद्धि और सेवाबुद्धिकी शुद्धि करनेमें ही समाप्त हो गअी है। अीश्वर-निष्ठा और सदाचार प्रार्थना-समाजका मुख्य स्वर माना जायगा। यह सच है कि बंगालके बहुतसे शिक्षाशास्त्री ब्राह्म-समाजी हैं; परन्तु हमारे देशमें राष्ट्रव्यापी, जीवन-स्पर्शी, स्वतंत्र और प्राणवान शिक्षाका प्रचार-प्रसार करनेका तो प्रार्थना-समाजने विचार तक नहीं किया। जिस प्रवृत्तिके प्रभावसे संपूर्ण समाज देखते ही देखते द्विज नहीं बन जाता, अुस प्रवृत्तिमें धर्मबल है अैसा नहीं कहा जा सकता। 'The religion of a thorough-going gentleman' तक ही जिसका स्वरूप सीमित है, वह प्रवृत्ति मनुष्यके हृदयको आकर्षित नहीं कर सकती। केवल वीर-धर्मका ही प्रसार और प्रचार होता है।

अेक जमाना अैसा था जब मनुष्यका संपूर्ण जीवन — वैयक्तिक और कौटुम्बिक, सामाजिक और राजनीतिक — धर्म-व्यवस्थाके अधीन था। अुसके समग्र जीवन पर धर्मका साम्राज्य था। आज वह जमाना चला गया; और वह सकारण गया। अुसके स्थान पर आज लोकमान्य राज्यसत्ताका जमाना आया है। राज्य-सत्ता अेक व्यक्तिके हाथमें रहे अथवा अनेक व्यक्तियोंके, अिस सवाल पर लोग चाहे जितने लड़े-झगड़े हों; परन्तु समग्र जीवनको राज्यसत्ताके, राजनीतिक संस्थाओंके हाथमें सौंप देनेकी वृत्ति तो जड़ जमाती ही जाती है। अेक राष्ट्र और दूसरे राष्ट्रके बीचका व्यवहार, संस्कृतियोंका सहयोग, विभिन्न वर्गोंके बीचका सम्बन्ध, शिक्षा, व्यापार-अुद्योग, धर्म-व्यवस्था, परिवार-संस्था — अितना ही नहीं, स्वास्थ्यकी रक्षा और सार-संभाल सब-कुछ सरकारके द्वारा हो और कानूनके नियंत्रणमें रहे, अिस तरहकी वृत्ति आजकल बढ़ती जा रही है। जगतमें जितनी भी शक्तियां हैं, समाजमें जितने भी बल हैं, वे सब आज राज्यतंत्रके अधीन रहते हैं, अुसीकी सेवा करते हैं और अुसीकी कृपासे परिपुष्ट होते हैं। परन्तु यह स्थिति दीर्घ काल तक नहीं बनी रह सकती। अिस जमानेका अंत देर-सबेर आना ही चाहिये। देरसे नहीं बल्कि जल्दी ही अिसका अंत आना चाहिये। अेक

समय धर्म-व्यवस्था सार्वभौम थी; आज राज्य-व्यवस्था सार्वभौम है। परन्तु हमें यह समझना चाहिये कि भविष्यमें शिक्षा-व्यवस्था ही सार्वभौम बननेवाली है।

प्रार्थना-समाजने शिक्षाका कार्य थोड़ा-बहुत किया है। परन्तु शिक्षामें स्वतंत्र विचारकी दृष्टिसे, दीर्घ तपस्याकी दृष्टिसे अथवा व्यापक संगठनकी दृष्टिसे प्रार्थना-समाजकी कोअी देन नहीं है। प्रार्थना-समाजको अपनी जीवन-दृष्टिका प्रकाश फैलाकर शिक्षाका अेक स्वतंत्र, संपूर्ण और समर्थ दर्शन निर्माण करना चाहिये था। वह चाहे तो आज भी अैसा कर सकता है। आजके सर्व-साधारण धर्मका प्रसार शिक्षाके द्वारा ही हो सकता है। गांधीजीने अेक बार अिसी स्थान पर कहा था कि 'प्रार्थना-समाज सुशिक्षित लोगोंका धर्म है।' गांधीजीके अिस वचनमें प्रार्थना-समाजकी विशेषता और दोष, शक्ति और अशक्ति दोनों ही प्रतिबिम्बित होती हैं। हम चाहें तो अिस स्थितिको बदल कर अपनी नअी शक्ति, नअी प्रेरणा और नअी दिशाका निर्माण कर सकते हैं।

"अंतर्यामी परमात्मा ही मेरा स्वामी है, मेरा आधार है; सर्वात्मैक्य और सर्वसद्भाव ही मेरा परम पुरुषार्थ है। शिक्षा—सर्वांगीण शिक्षा—ही अुसकी साधना है।" यह है भविष्यका ब्राह्मधर्म, यही प्रार्थना-समाज है। अिस नूतन शिक्षामें पांच बातोंका समावेश होना चाहिये : प्रार्थना, बोध, धैर्य, सेवा और बलिदान — Prayer, Persuasion, Patience, Service and Sacrifice.

शिक्षाका प्रथम क्षेत्र मनुष्यका हृदय है। हृदयका यदि पूरा विकास हुआ होगा, तो ही बुद्धिका विकास व्यक्ति और समाजके लिअे हितकर, आशीर्वाद-रूप सिद्ध होगा। हृदयका यदि सुन्दर विकास हुआ हो, बुद्धि प्रगल्भ बनी हो और शरीर नीरोग और कसा हुआ हो, तो ही धर्मका जीवन जीना मनुष्यके लिअे संभव होगा। जब अैसी शुद्ध धर्म-प्रधान शिक्षा प्रत्येक मनुष्यको मिलेगी तभी व्यक्ति और समाजका परस्पर सम्बन्ध मंगलमय बनेगा। समाजकी सर्वांगीण सेवा ही आत्मोन्नतिका अेकमात्र अुपाय है।

अब हम भलीभांति यह समझ सकेंगे कि आदर्श सोशियालिज़्म ही जगतका भावी धर्म है। सोशियालिज़्मका अर्थ है समाज-सेवाका धर्म। आज जिस सोशियालिज़्मकी चर्चा अनेक देशोंमें होती है और अुसके सम्बन्धमें जो प्रयोग होते हैं, अुनमें अनेक पहलुओंसे संशोधन और परिवर्धन करना आवश्यक है। आजके सोशियालिज़्मने **तीन** गलतियां की हैं। अुसने केवल संपत्तिशास्त्रका आधार लिया, यह अुसकी पहली गलती है। अुसकी दूसरी गलती है राजनीतिक संस्थाओं पर अुसका अपार विश्वास। और अुसकी तीसरी गलती यह है कि धर्म-व्यवस्थाको तोड़नेके प्रयत्नमें अुसने मूल धार्मिकताके प्रति ही घृणा बढ़ाअी है और अुसका विरोध किया है। सोशियालिज़्म मानता है कि ये अुसकी गलतियां

नहीं हैं, परन्तु यही भविष्यके लिअे अुसका कीमतीसे कीमती योगदान है। अिसके बिना सोशियालिज़्मकी स्थापना जगतमें हो ही नहीं सकती।

यदि सच्चे सोशियालिज़्मका पूरा पूरा अमल हो, तो केन्द्रित राज्यसत्ताका अपने आप नाश या रूपान्तर हो जायगा। यहां तक कि शारीरिक बल पर टिकने-वाली राज्यसत्ताका भी अंत आ जायगा। अुस समय जीवन अितना सादा, अितना स्वावलम्बी और अितना परस्परावलम्बी हो जायगा कि आजका अटपटा अर्थशास्त्र टिक ही नहीं सकेगा; और लोगोंमें सर्वत्र अैसी संस्कारी शिक्षा फैल जायगी कि अुससे शुद्ध आध्यात्मिक ज्योति प्रकट हुअे बिना नहीं रहेगी। सोशियालिज़्मकी शोध सच्ची है, अुसकी प्रेरणा शुद्ध है और अुसका समय भी आ चुका है, अिसलिअे दोषमुक्त होनेमें अुसे बहुत समय नहीं लगेगा। गरीबोंका देव अब जाग्रत हो गया है। शिक्षाशास्त्रियोंको अपने अपने ढंगसे अब अुसके अुपासक बन जाना चाहिये। सत्य और अहिंसा ही अुनकी प्रतिज्ञा हो सकती है, सत्य और अहिंसा ही अुनके जीवन-मंत्र हो सकते हैं, यह समझ कर अुन्हें लोकसेवाका काम अपने हाथमें लेना चाहिये।

सरकारका शिक्षा-विभाग आज तक निर्वीर्य सिद्ध हुआ है। धर्म और समाजने तथा राजनीतिक प्रचारकोंने लोक-शिक्षणका जितना कार्य किया है अुतना शिक्षा-विभागने नहीं किया। सच्चे शिक्षकों और अध्यापकोंको शुद्ध धर्मसे प्रेरणा लेकर और शालाकी चारदीवारीसे बाहर निकल कर लोक-शिक्षण और लोकसेवाका कार्य करना चाहिये। आज धर्मका संस्करण, समाजका संस्करण, परिवारका संस्करण —— संक्षेपमें संपूर्ण जीवनका संस्करण करनेका समय आ गया है। आ क्या गया है, वह कभीका आरंभ भी हो गया है। अब हम अुच्च वर्णके, शरीर-श्रम न करनेवाले, सुरक्षाके अुपासक मध्यमवर्गको संस्कारी बनानेके पीछे थोड़ी-बहुत शक्ति खर्च करके ही संतोष नहीं मानेंगे। हमें दीन, अनाथ, पतित और परित्यक्त लोगोंके हृदयमें बसे हुअे नारायणकी अुपासना करनी है। आज तक धार्मिक लोगोंने पार्थिव मूर्तिमें प्राण-प्रतिष्ठा करनेके मंत्रोंका खूब अुच्चार किया है। अब हमें दलित-मूर्ति देशवासियोंमें स्वातंत्र्य, स्वावलम्बन और स्वाभिमानकी प्राण-प्रतिष्ठा करनी है। हमें स्त्रियों, मजदूरों, किसानों, कारीगरों और कारकुनों-का जीवन सुवासित और सारयुक्त बनाना है। जातिभेद तोड़नेका यह अर्थ कभी न किया जाय कि हम केवल मध्यमवर्गके अुच्च वर्णवाले लोगोंके लिअे ही रोटी-बेटी-व्यवहारकी असुविधायें दूर करना चाहते हैं। अितना तो अनाचारी और स्वच्छंदी लोग भी कर सकते हैं। आज पिछड़े हुअे और पतितोंके केवल हितेच्छु आश्रयदाता बननेमें भी बड़ी बहादुरी नहीं है। यह तो सात्त्विक लोगोंका आनंद और अुदात्त विनोद कहा जायगा। सच्ची धार्मिकता अिस बातमें है कि हम गरीबोंके साथ, पतितोंके साथ, अज्ञान और असंस्कारी लोगोंके साथ अेकताकी भावनासे घुलमिल

जायं। अुन्हें हम अपना बनायें, हम अुनके बन जायं और अुन्हें अपने साथ लेकर अुन्नतिके पहाड़ पर चढ़ें। अिस तरहकी वीरवृत्तिके बिना धार्मिकता संभव ही नहीं हो सकती। वीरत्व ही सच्चा धर्म है। हमें केवल दूसरोंको मार कर वीर नहीं बनना है, परन्तु निर्वैर वृत्तिसे स्वार्थी संकुचितताको मार कर वीर बनना है।

यहां हमने जिस ब्राह्मधर्मके और धर्म-समाजके दर्शन किये हैं, वह तो अेक अलग-थलग धर्मकी तरह रहनेसे अिनकार ही करेगा। वह धर्ममात्रमें ओतप्रोत होकर रहेगा। विभिन्न सब धर्म समाजकी अुन्नतिके लिअे ही प्रवृत्त हुअे हैं। अिन सब धर्मोंको अूंचा अुठानेवाले 'लीवर' की — अुन्नयन-दंडकी गरज पूरी करेगा यह ब्राह्मधर्म। अिसके आधार पर धर्ममात्रकी अुन्नति होगी। यह ब्राह्मधर्म किसी भी धर्मका नाश किये बिना सर्वत्र अपना साम्राज्य स्थापित करेगा।

यह श्रद्धा रखकर हम प्रार्थना करें कि परम-मंगल परमेश्वरकी कृपासे प्रत्येक हृदयमें अैसा धर्म प्रकट हो और अुसीका विकास हो।

२८
दोनों धर्म अनादि

मेरी मान्यताके अनुसार जैन धर्म और वैष्णव धर्म दोनों अनादि हैं। अर्थात् दोनों धर्म वेदोंके जितने ही प्राचीन हैं। दोनों धर्मोंके मुख्य मुख्य सिद्धान्त अुसी कालके हैं जब मनुष्यके हृदयमें धर्मकी स्फुरणा जागी थी। भागवतमें तो अृषभ-देवका वर्णन है ही। लेकिन मैं अहिंसा-धर्म अर्थात् जैन धर्मको अृग्वेदमें भी देखता हूं। आज जिस रूपमें जैन धर्म हमारे देशमें विकसित हुआ है, अुसका निर्माण तो महावीरसे आरंभ हुआ था। यह अितिहाससे सिद्ध होता है। महावीर गौतम बुद्धके समकालीन थे, यह भी सब कोअी जानते हैं।

मैं मानता हूं कि महाभारतके युद्धमें जो महान संहार हुआ अुसीके फल-स्वरूप आर्य जातिके मन पर यह बात जम गअी है कि हिंसा व्यर्थ है, हिंसासे किसी भी पक्षका भला नहीं होता; हिंसासे कोअी भी स्थायी कार्य सिद्ध नहीं होता। विजयी धर्मराज पश्चात्तापसे जलकर कहते हैं कि 'जयोऽपि अजयाकारो भगवन् प्रतिभाति मे।' भगवन्, यह विजय तो मुझे पराजय जैसी ही लगती है। महाभारतके युद्धका यह कड़वा अनुभव राष्ट्रके हृदयमें गहरा अुतरा, अुसके बाद ही भारतमें बौद्ध धर्म और जैन धर्मका अधिक प्रचार हुआ।

वैसे तो दोनों ही धर्म व्यापक सनातन हिन्दू धर्मकी ही शाखायें हैं। दोनों धर्मोंके मुख्य सिद्धान्त बीजरूपमें पहलेसे ही हिन्दू धर्ममें मौजूद हैं। परन्तु ये सिद्धान्त राष्ट्रके हृदय पर व्यापक रूपमें अंकित तो महाभारतके युद्धके बाद ही

हुअे। अिसलिअे अुन्हीं सिद्धान्तोंके आधार पर जीवन-क्रम रचनेका आग्रह रखनेके कारण ये दो पंथ सनातनियोंके जीवन-क्रमसे थोड़े अलग पड़ गये।

जो लोग आत्मामें अथवा किसी अतीन्द्रिय अमर शक्तिमें विश्वास रखते हैं और अुसके सम्बन्धमें पुनर्जन्मकी कल्पना करके अुसके द्वारा कर्म-धर्मकी व्यवस्था करते हैं, वे सब आर्य अथवा हिन्दूधर्मी ही हैं। मैं नहीं मानता कि दार्शनिक वाद-विवादमें अुतरनेसे यह बात अधिक समझमें आयेगी।

१९३०

२९

सुधारक धर्ममें सुधार*

आपका आमंत्रण स्वीकार करके मैं यहां आया, अिसमें अेक अुद्देश्य यह था कि अिस निमित्तसे अेकाध दिन परमानन्द भाअीके साथ रहनेका आनन्द मिलेगा। अभी अभी अुनके अहमदाबादके भाषणके विरुद्ध अेक बड़ा झगड़ा खड़ा हुआ है। मुझे बार बार आश्चर्य होता है कि परमानन्द भाअीके समान सौम्य और संतुलित व्यक्तिके भाषणमें लोगोंको अैसा क्या मिल गया कि वे अुन्हें मार्टिन ल्यूथर बनानेके लिअे तैयार हो गये हैं! तीव्र विचार रखनेवाले प्रत्येक मित्रको वस्तुका दूसरा पहलू बताकर अुसे सौम्य और जिम्मेदार बनाना ही आज तक परमानंद भाअीका प्रिय कार्य रहा है। अुनका पूरा भाषण पढ़े बिना ही मैं कह सकता हूं कि अुसमें अुत्पात मचानेवाला अथवा विनाशक कोअी तत्त्व नहीं है। अुसका अर्थ अितना ही है कि क्रांतिकारी या सुधारक युग परमानंद भाअीके समान सौम्य मूर्तिके द्वारा भी अपनी आवाज प्रकट कर सकता है।

मैं सुनता हूं कि अमुक समाजने अथवा समुदायने अुनका बहिष्कार कर दिया है। अिसलिअे मैं पहले अिस बहिष्कारके बारेमें ही दो शब्द कहूंगा।

बहिष्कार प्रत्येक सुसंस्कृत और संगठित समाजका स्वाभाविक अधिकार है। वह सभ्य समाजके हाथमें अेक प्रभावशाली और सात्त्विक शस्त्र है। लेकिन यह शस्त्र दुधारी तलवार है। जिनके खिलाफ अिसका अुपयोग किया जाता है अुन्हें तो जब यह मारेगा तब मारेगा; परन्तु जो लोग अिस शस्त्रका अुपयोग करते हैं वे यदि अुचित अवसर, अुचित पद्धति और स्वाभाविक मर्यादाको न जानें, तो यह पहले अुन्हींका नाश करता है। अेक समय हमारी जातिके अेक सयाने वृद्ध पुरुषने बहिष्कारकी जो मीमांसा की थी, अुसे अिस समय मैं अपनी भाषामें

* संवत् १९९२ के पर्युषण-पर्वके अवसर पर बम्बअीमें दिया गया भाषण।

आपको सुना दूं। सत्याग्रहाश्रममें जाकर मैंने हरिजनके हाथका खाना खाया था। अिसलिअे जब मैं अपने गांव गया तो मैंने अपने जातिवालोंसे कहा कि मैं अिस तरह व्यवहार करता हूं। गुजरातके जैसी जातियोंकी रचना और जातियों द्वारा खड़ी की जानेवाली परेशानी हमारे प्रदेशमें बिलकुल नहीं है। फिर भी जातिके लोग चाहते तो मेरा बहिष्कार कर सकते थे। मैंने हरिजनोंके साथ भोजन करनेकी बात अुनके सामने कबूल की, तो कुछ भाअी बोल अुठे : "बैठो, बैठो। हम पूछने आयें तब तुम अैसी बातें हमसे कहना।" अिसी रुखके समर्थनमें अेक वृद्ध पुरुषने कहा : "कोअी बड़ा अमीर आदमी होता है तब तो अुसका बहिष्कार करनेकी हम बात भी नहीं करते। दंभी आदमी समाजमें पाखंड चलाते हैं, लेकिन हम अुन्हें अपने शिकंजेमें पकड़ नहीं सकते। तब यदि अेकाध मनके शुद्ध और सज्जन आदमीका ही हम बहिष्कार करें, तो क्या यह हमें शोभा देगा? अैसा करनेसे समाजका कल्याण भी नहीं होगा। अिनके जैसे लोग रूढ़ आचारको जरूर तोड़ते हैं, परन्तु वे अनाचार नहीं करते। अिसलिअे जाति अुनके खिलाफ हो जाय, तो भी अुनकी प्रतिष्ठाको कोअी धक्का नहीं पहुंचता। अुलटे बहिष्कार करनेवाले लोगोंकी ही बदनामी होती है। यदि निर्मल और शुद्ध-हृदय लोगोंका बहिष्कार करके हम अुन्हें खो देंगे, तो फिर जातिमें रह ही क्या जायगा? अिसलिअे समझदारीका मार्ग यही है कि अैसे लोगोंका हम नाम ही न लें। यह कलियुग है; अिसमें जो कुछ हो अुसे हम चुपचाप देखते रहें।" अिन वृद्ध पुरुषकी मुख्य दृष्टि सच्ची थी, यद्यपि कलियुगकी अुनकी दलील निरर्थक थी।

यह जरूरी है कि समाजके आचारोंकी (रहन-सहनकी) प्रत्येक युगमें जांच की जाय। अुनमें आवश्यक परिवर्तन होना भी जरूरी है। शरीरको हम रोज नया पोषण देते हैं और गंदगी भी रोज शरीरसे बाहर निकालते रहते हैं, जिससे शरीर नीरोग रहकर अच्छी तरह अपना काम करता है। यही बात समाज-शरीरको भी लागू होती है। जिस प्रकार खाये हुअे आहारका कुछ समय बाद रक्त बनता है और अुसका निकम्मा भाग गंदगीके रूपमें शरीरसे बाहर निकल जाता है, अुसी प्रकार अच्छीसे अच्छी प्राचीन व्यवस्था अपने अपने समयको पोषण देनेके बाद सड़ांधके रूपमें बची रहती है। अुसे यदि हम समाजसे निकाल न फेंकें, तो समाज-शरीर बदबू करता है और रोगी हो जाता है। प्रतिदिन होनेवाले विकासको जब हम रोक देते हैं, तो किसी समय सन्निपातकी तरह समाजमें अेकाअेक क्रांति फूट पड़ती है। विकासको रोकनेका अर्थ है क्रांतिको निमंत्रण देना, फिर यह क्रांति विदेशी आक्रमणके रूपमें हो या भीतरी विद्रोहके रूपमें।

सामयिक सुधारोंके बिना धार्मिक जीवन टिक ही नहीं सकता, अिसलिअे सामाजिक सुधार — सामाजिक प्रगति — के सार्वभौम नियमोंको हमें जान लेना

चाहिये। जिन लोगोंके पास हजारों वर्षोंका अनुभव और अितिहास है, वे यदि धर्म-विकास और जीवन-परिवर्तनका शास्त्र न रचें, तो वे अृषि-मुनियोंकी परंपराको कलंकित कर देंगे। हमारे स्मृतिकार समय समय पर धर्म-व्यवस्थामें परिवर्तन करते ही आये हैं। अब हमें अैसे परिवर्तनोंका अेक संपूर्ण शास्त्र बनाना चाहिये। तभी हम अपने समाजका जहाज जीवन-सागरमें सुरक्षित रूपमें चला सकेंगे। अिस प्रकार जीवन-व्यवस्थाकी बार-बार परीक्षा करके जीवनके तत्त्वज्ञानको नये सिरेसे रचनेवाले लोगोंमें भगवान महावीर अेक अग्रगण्य महापुरुष थे। अब हम देखें कि अुनका युग कैसा था।

*

महाभारतके युद्धकी घटना आर्योंके जीवनमें बड़ीसे बड़ी क्रांति करनेवाली सिद्ध हुअी। अंग्रेजों और जर्मनोंके बीचके भातृद्वेषका विग्रह जिस तरह विश्वव्यापी बनकर आजकी दुनियाको अभी भी परेशान कर रहा है, अुसी तरह कौरव-पांडवोंके बीचका वह सर्वनाशी महायुद्ध भारतकी प्राचीन संस्कृतिके लिअे घातक सिद्ध हुआ। अिस भारतीय युद्धके पहले रंतिदेव जैसे सम्राट् अिस प्रकारके महायज्ञ करनेमें जीवनकी सार्थकता मानते थे, जिनमें प्रतिदिन पचीस पचीस हजार पशुओं-का वध होता था। अुस समयके राजा लोग सम्राट् बननेके लिअे प्रतिस्पर्धा करके अेक-दूसरेका नाश करते थे और अेक दिग्विजय सिद्ध करनेके लिअे किये गये राज-संहारका पाप धोनेके लिअे अुतना ही हिंसक दूसरा यज्ञ करते थे। अिसी कारणसे भीष्माचार्य तथा धर्मराजके समान पुण्य-पुरुषोंने क्षात्रधर्मको पापपूर्ण मानकर अुसे धिक्कारना चाहा। मनुष्यकी अखंड सेवाके कारण अुसके कुटुंबी बने हुअे असंख्य पशुओंका — गाय, बैल और घोड़ोंका — यज्ञके नाम पर संहार करनेकी सिफ़ारिश करनेवाले वेदोंसे संत्रस्त होकर अेक अृषि यह विद्रोही वचन बोल अुठे : 'धिग् वेदाः।' वैदिक संस्कृतिके सुवर्ण-कालमें अैसा वचन कहना अुतना ही साहसपूर्ण था जितना वरडूनका युद्ध लड़ रहे हिंडनबर्गके समक्ष युद्धका निषेध करना। हमारे वैदिक धर्मके अभिमानी पूर्वजोंने यह वचन भी लिख रखा है। यह बात अुनकी अैतिहासिक प्रामाणिकताको सूचित करती है; साथ ही यह अुस कालकी अूबी हुअी धर्मबुद्धिकी भी द्योतक है।

भारतीय युद्ध, काठियावाड़की भूमि पर परस्पर लड़ा गया यादवोंका संहारक युद्ध तथा आस्तिक अृषि द्वारा बंद कराया हुआ राजा जनमेजयका सर्पसत्र — अिस सारे वातावरणका जिन लोगोंको स्मरण था, अुन्होंने संपूर्ण जीवन-दृष्टिमें परिवर्तन करनेका निश्चय किया।

यह विचार धीरे धीरे परिपक्व और दृढ़ होता गया; छह सौ वर्ष तक यह प्रक्रिया चलती रही और अुसमें से आर्य-परम्पराके दो पन्थोंका जन्म हुआ। अिन पंथोंको हम बौद्ध धर्म और जैन धर्मके नामसे पहचानते हैं।

नहि वेरेण वेराणि सम्मन्तीध कुदाचनं।
अवेरेण च सम्मन्ति अेस धम्मो सनन्तनो ।।

अिस प्रकार कहकर बुद्ध भगवानने अवैरका सन्देश दिया । 'दुखं सेते पराजितो'—प्रजाका यह अनुभव होनेसे अुसने अिस सन्देशको अपना लिया । बुद्ध भगवानने मांसाहारका निषेध भले ही न किया हो, किन्तु यह अुन्होंने स्पष्ट कहा है कि जब मानव-जाति यज्ञके नाम पर पशुहत्या नहीं करती थी अुस समय मनुष्योंमें रोग नहीं-जैसे ही थे । पशुहत्याके फलस्वरूप ही मानव-जातिको अनेक रोग लग गये हैं ।

और, ज्ञातृपुत्र वर्धमान महावीरने तो अहिंसाको ही परम धर्म कहकर मानव-जीवनके सम्पूर्ण आधारको ही बदल डाला । वैदिक कालमें अवैर, अहिंसा और गौरक्षाकी कल्पना थी ही नहीं अैसा नहीं; परन्तु धर्मका पूर्ण साक्षात्कार भी तो अनुभवसे ही होता है । बुद्ध और महावीरके समयमें ही अृषि-दृष्ट अहिंसा-का प्रेमधर्म लोक-दृष्ट हुआ । यह तो नहीं कहा जा सकता कि अुनके समयके बाद भारतमें यज्ञ हुअे ही नहीं; परन्तु राष्ट्रधर्मके हृदयमें यज्ञ अप्रतिष्ठित बन चुके थे । वे प्राचीन संस्कृतिकी गूंजकी तरह सुने गये और अनादरके मौनमें विलीन हो गये । जहां तहां जन-हृदय पूछने लगा कि वृक्षोंका संहार करनेसे, पशुओंकी हत्या करनेसे और रक्त-मांसका कीचड़ फैलानेसे यदि स्वर्गमें जाया जाता हो, तो फिर नरकमें जानेका मार्ग कौनसा है ?

जब अनुकूल और प्रतिकूल तटों पर बसनेवाले किसानोंमें बीचकी नदीके पानीके लिअे युद्ध होनेका अवसर खड़ा हो गया, तब बुद्ध भगवानने दोनोंके नेताओंको अिकट्ठा करके पूछा : 'पानी कीमती है या भाअियोंका खून ? पानीके लिअे भाअियोंका खून बहाना कहांकी बुद्धिमानी है ?'

राजा ययातिने अपने और अपने पुत्रके यौवनका अनुभव करके सम्राट्-के लिअे सुलभ सारे भोग भोग लेनेके बाद यह अनुभव-वचन कहा कि जगतमें जितने भी चावल और तिल हैं, जितने भी अैश-आरामके साधन हैं, अुन सबको कोअी अपना बना ले, तो भी अेकके सुखोपभोगके लिअे वे पर्याप्त नहीं होंगे; वे अुसके मनमें तृप्ति अुत्पन्न नहीं कर सकते । अिसलिअे स्वयं वासनाका ही त्याग करके संतोष माननेमें जीवनकी सफलताकी कुंजी है । भगवान महावीरने भी लोगोंसे यही कहा । हिंसाके द्वारा दूसरोंको दबानेकी अपेक्षा तपके द्वारा अपनी वासनाओंको दबाना ही विश्वजित् यज्ञ है । अिसीमें जीवनकी सफलता और कृता-र्थता है । मनुष्यका जीवन अपने आसपासके लोगोंके लिअे शापरूप और त्रासरूप बननेके बदले आशीर्वाद बने, अिसीमें धर्म निहित है । तपके मूलमें यही बात है । तपके बिना मनुष्यका जीवन निष्पाप नहीं बन सकता ।

जिस प्रकार यज्ञके जैसे भव्य जीवन-सिद्धान्तको अुस समयके लोगोंने पशु-हत्या करके भ्रष्ट कर दिया, अुसी प्रकार अुसके बादके लोगोंने तपके सर्वमंगलत्व-को भूलकर अुसे निरर्थक देह-दमनका रूप दे दिया। सचमुच हमारे देशके लोगोंने महानसे महान धर्म-सिद्धान्तोंको अर्थ-विहीन यांत्रिक क्रियाका रूप देकर बहुत बड़ा बुद्धिद्रोह और समाज-द्रोह किया है।

आहारशास्त्र, जीवनशास्त्र, प्राणीशास्त्र, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, मानस-शास्त्र, तर्कशास्त्र आदि मनुष्योपयोगी शास्त्रोंका जिन्होंने अुत्तम और अद्यावधि (up-to-date) अध्ययन किया है, अुन समाज-हितैषी लोगोंको धर्मशास्त्रों पर बार-बार विचार करना चाहिये और अपने जमानेके स्वजनोंका मार्गदर्शन करना चाहिये।

यदि यह सनातन आवश्यकता न होती तो भगवान बुद्ध और महावीर जैसे महापुरुषोंको पुरुषार्थ करके जनताको सनातन धर्मकी नये सिरेसे दीक्षा देना आवश्यक नहीं लगता। धर्म कितना भी अुज्ज्वल क्यों न हो, मानवीय बुद्धि अथवा अबुद्धिकी जड़ताके कारण अुस पर राख चढ़ ही जाती है। अिस राखको हटाकर तथा प्राचीन धर्मतत्त्वोंका संस्कार करके धर्मको नये सिरेसे गति देनेका कार्य प्रत्येक युगमें होता आया है, अिसीलिअे धर्म टिका है। धर्मके ग्रन्थ, धर्मके मंदिर तथा अहिंसा, सत्य और क्षांति सबको भूलकर धर्मका ही द्रोह करनेवाले धर्मान्ध आचार्य धर्मकी रक्षा नहीं कर पायेंगे। क्षांति, तितिक्षा और अुदारता जिनमें है, विरोधी पक्षके तर्कमें रहे सत्यांश और शुभ हेतुको समझने और स्वीकारने जितना स्याद्वाद जिनके गले अुतर गया है, अैसे धर्म-परायण लोग ही धर्मके रक्षक होते हैं। अुच्च धर्ममें जन्म पानेसे मनुष्य अुच्च नहीं होता, परन्तु अुच्च जीवनसे ही वह अुच्च बनता है, यह बुद्ध और महावीरने अनेक बार कहा है।

धर्मका अर्थ ही है जीवन-सुधार। प्राकृत मनुष्यका जीवन सामान्यतः आहार-निद्रादि आवश्यकताओंके, राग-द्वेषादि वासनाओंके तथा दंभ-मत्सरादि विकृतियोंके अनुसार ही बहता रहता है। अिसमें सुधार करके जीवनको सु-संस्कृत बनाना ही धर्मका मुख्य कार्य है। जिस प्रकार जीवन पर जंग चढ़ता है अुसी प्रकार धर्म-वचनों और धार्मिक संस्थाओं पर भी जंग चढ़ता है। अिस जंगको दूर करनेका कार्य यदि धर्म स्वयं न करे, तो दूसरा कौन करेगा? सामाजिक सुधार ही धर्मका प्रयोजन है। यदि कोअी यह कहे कि बुद्ध और महावीरके बाद समाज-सुधारकोंकी आवश्यकता नहीं रही, तो अिससे यही सिद्ध होगा कि बुद्ध और महावीरकी भी अुनके जमानेमें कोअी आवश्यकता नहीं थी। प्रत्येक धर्म-संस्थापकको यही न्याय लागू होता है, भले ग्रन्थ-वचन कुछ भी कहें। 'अैसा अेक भी देश नहीं है और अैसा अेक भी युग नहीं है, जिसे समाज-सुधार करनेके

लिअे धर्म-संस्थापक प्राप्त न हुअे हों।' अिसलिअे हमें धर्मसे ही समाज-सुधारके सिद्धान्त मिल सकते हैं। और अिन सिद्धान्तोंका अुपयोग सर्वप्रथम हमें प्रगति सिद्ध करने, धर्मसंस्थाको सुधारनेके लिअे ही करना चाहिये।

प्रगतिका अर्थ क्या है? — यह प्रश्न हमेशा अुठता है। जहां जीवनके आदर्श बार-बार बदलते हैं वहां प्रगतिकी दिशा निश्चित करना आसान नहीं होता। सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक समयके लोगोंको तात्कालिक जो कुछ वांछनीय मालूम हो अुसकी ओर जानेके लिअे आवश्यक परिवर्तन करना प्रगति है। लोगोंको जो दिशा पसंद होगी अुसी दिशामें वे जायंगे। अेक समय हमारे लोगोंने संगीत और नृत्यकी निन्दा की थी। अुन्होंने अिन दोनों कलाओंको सामाजिक बुराअी मान लिया था। अुस समयके कुछ लोगोंने अिन कलाओंके खिलाफ जोरोंका आंदोलन किया था। आज अुसी संगीत और नृत्यको अपनी संस्कृतिकी विशेषताओंके रूपमें हम सीखते हैं और अुनका विकास करते हैं तथा दुनियाको अुनकी कदर करनेके लिअे निमंत्रित करते हैं। अेक जमानेमें अपने बालकोंको खेलकूदमें समय बिगाड़नेके लिअे हम सजा देते थे; आज खेलकूदमें जो विद्यार्थी भाग नहीं लेते अुनसे हम नाराज होते हैं। हमारी पोशाकके बारेमें भी यही बात लागू होती है। हमारे देशमें अेक अैसा जमाना भी हो गया है, जो मांस और मदिराके सेवनमें ही प्रगति मानता था। आदर्श सदा झूलेकी तरह दो सिरोंके बीच झूलते रहते हैं। फिर भी प्रगति जैसी कोअी स्थायी चीज अवश्य है। और सभी जमानोंको वांछनीय लगें अैसे कुछ तत्त्वोंका भी विकास होना चाहिये। अिसका विचार हम आगे करेंगे।

सामान्यतः यह देखा गया है कि समाजको स्थिरता और प्रगति दोनों तत्त्वोंकी रक्षा करनी होती है। यदि स्थिरता न हो, तो सामाजिक सद्गुणोंकी पूंजी अेकत्र नहीं हो सकती; चरित्रका विकास नहीं हो सकता और मनुष्यका सामाजिक जीवनमें विश्वास भी नहीं बैठ सकता। अुलटे यदि हम अपरिवर्तन-वादी बन जायं, तो जीवनको जंग लग जायगा, जीवन सड़ जायगा और सारे जीवन-रस सूख जायंगे। स्थिरता और प्रगति ये अेकसाथ रहनेवाले तत्त्व कभी कभी श्रम और विश्रामकी तरह अेकके बाद अेक आते हैं। यह भी प्रगतिका अेक बड़ा सिद्धान्त है। अिन दोनोंकी अपरिहार्यताको ध्यानमें रखकर ही सामाजिक जीवनके नियम बनाये जाने चाहिये। धर्मशास्त्रोंने समय समय पर सामाजिक नियमोंकी रचना की है। हमारे समाजकी मान्यता अैसी बना दी गअी है कि नियम अीश्वरके दिये हुअे हैं अथवा सामान्य बुद्धिसे परे रहनेवाले अलौकिक दृष्टिके लोग ही नियम बना सकते हैं। प्रत्यक्ष व्यवहारमें तो सभी लोग परिवर्तन करते हैं, किन्तु मान्यतामें सब लोग अिस विचारको ही प्रोत्साहन देते हैं कि धर्मकी दी हुअी समाज-व्यवस्थामें कोअी परिवर्तन करनेका अधिकार समाजको

नहीं है। समाज-व्यवस्था प्रत्यक्ष अनुभव, अुस अनुभवके आधार पर होनेवाला विचार, समाजकी भावनायें और समाजमें विकसित होनेवाली सनातन श्रद्धा — अिन्हीं सब पर आधार रखती है। अिनमें से श्रद्धा प्रत्येक समाजका मूल धन है। अिस धनकी रक्षा करना सामाजिक शक्तिका मूल मंत्र है।

यदि हम प्रतिक्षण परिवर्तन करते रहेंगे, तो समाज बालूके ढेर जैसा हो जायगा। अुसमें धृति (cohesion) का गुण आयेगा ही नहीं। और यदि हम किसी भी तरहका परिवर्तन न करनेका निश्चय कर लें, तब तो समाज मुर्देकी तरह सड़ने लगेगा।

समाजमें आवश्यक परिवर्तन करने पर भी कोअी परिवर्तन नहीं किये गये हैं अैसा मानने-मनवानेमें प्रत्येक समाज अपना श्रेय समझता आया है। न्यायाधीश प्रत्येक मुकदमेमें अपना निर्णय देते समय कानूनमें परिवर्तन करते हैं, परन्तु अुनका प्रयत्न यह दिखानेका होता है कि कानूनमें कोअी परिवर्तन नहीं किया गया है। अिसे 'legal fiction' कहते हैं। समाज-व्यवस्थाको धर्मशास्त्रोंके हाथोंमें सौंपनेके बाद अुसमें कोअी परिवर्तन नहीं किया गया, अैसा दिखाना पड़ता है। अिसके लिअे भाष्यकार भाष्य रचते हैं और अेक ही शास्त्रमें श्रद्धा रखते हुअे भी अलग अलग भाष्यकारोंके अर्थके अनुसार लोगोंके गुट बन जाते हैं। लोग शास्त्र-वचनके प्रामाण्यकी रक्षा करके अपने स्वीकृत भाष्यकारके वचनको अधिक महत्त्व देते हैं। सब देशोंके आज तकके अितिहासको देखते हुअे प्रगतिका यह भी अेक सार्वभौम नियम कहा जा सकता है।

सामाजिक प्रगतिका अेक दूसरा महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त भी सर्वत्र देखा गया है। अेक जमाना धर्म-व्यवस्थाके बाह्य आकारकी रक्षा करके अुस आकारमें पूरे या भरे जानेवाले मसालेमें परिवर्तन करता है। पशुके मांसका यज्ञ करनेके बदले वह माशका (अुड़दका) पशु बनाकर अुसकी बलि देता है और मानता है कि मांस-यज्ञकी रक्षा हो गअी। अिस प्रकार भीतरका मसाला पूरी तरह बदल जानेके बाद नये लोग तर्क करते हैं कि मुख्य चीज मसाला है, आकार तो गौण चीज है। अिसलिअे भीतरकी चीजकी रक्षा करके अुसे कैसा भी आकार देनेमें धर्मद्रोह नहीं होता; तत्त्वकी रक्षाका ही वास्तविक महत्त्व है। अिस प्रकार आकारके बदल जानेके बाद नये आकारको ही महत्त्व प्रदान किया जाता है। अुड़दके आटेके पशु बनानेके बदले गेहूंके आटेके पिंड बनाये जाते हैं और फिर अुसमें नया मसाला स्वीकार करनेकी तैयारी हो जाती है। अेक प्राचीन वचन है: 'चलत्येकेन पादेन तिष्ठत्येकेन पण्डितः।' अेक पैरको उठाकर आगे रखनेके लिए दूसरा पैर अडिग और स्थिर रखना होता है। अुठाया हुआ पैर आगे स्थिर हो जाय अुसके बाद पीछेके अडिग पैरके डिगनेकी या अुसे डिगानेकी बारी आती है। अिसी

तरह समाजकी प्रगति होती आअी है। जो लोग अिस सिद्धान्तको जान लेते हैं, अुनकी समाज-सेवा करनेकी शक्ति खूब बढ़ जाती है।

आजका जमाना चर्चाका है। प्राचीन नियम यह था कि जिस बातके लिअे मनमें परम आदर हो, अुसकी चर्चा नहीं की जा सकती। माता, पिता या गुरुकी आज्ञा पर कोअी विचार किया ही नहीं जा सकता था—'आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया।' गुरुजनोंके आचरणके काजी हम न बनें, वे जो कुछ करते हैं वह अुत्तम ही है; 'वृद्धास्ते न विचारणीयचरिताः' अिस वृत्तिका भी खूब विकास हुआ था। आज अेक भी वस्तु अितनी पवित्र नहीं रही, जिसकी चर्चा ही न की जा सके। सभी लोग सभी वस्तुओंकी चर्चा करें, अिसमें अेक प्रकारकी शिक्षा भी है और अनधिकार चेष्टा भी है। अिससे समाजका नेतृत्व क्षुद्र वृत्तियोंको अुत्तेजित करनेवाले गैर-जिम्मेदार लोगोंके हाथमें आसानीसे चला जाता है। परन्तु अिस दोषसे बचनेके लिअे यदि यह नियम बना दिया जाय कि 'अधिकारी पुरुष ही चर्चा करने योग्य माने जाने चाहिये', तो अिसके भी अपने अलग गुण-दोष हैं ही। अैसा करनेसे समाज-हितका विचार अेक तरहसे परिपक्व रूपमें होता है, लोगोंमें बुद्धिभेद अुत्पन्न नहीं होता, स्थिरता बनी रहती है और समाज प्रचण्ड सामर्थ्यका विकास कर सकता है। परन्तु अैसी स्थितिमें लोक-शिक्षण बहुत बार रुक जाता है और नेताओंकी ही अेक जाति खड़ी हो जाती है। समाजकी कार्यशक्ति बढ़ने पर भी अुसकी सूझ-बूझकी शक्तिको जंग लग जाता है और नेतावर्गका नैतिक अधःपतन होने पर सारा समाज टूट जाता है।

*

धार्मिक सुधार करनेवाले लोग परम धार्मिक और त्रिकालज्ञ होने चाहिये। जो लोग धर्मके विधि-विधानमें और बाह्य प्रथाओंमें क्रांति कर सकते हैं, अुनके पास धर्मकी आत्मा अखण्ड जागृत होनी चाहिये। अुन्हें धर्मतत्त्वका आकलन स्वयं करना चाहिये। अैसे लोग हर जमानेमें और हर देशमें अथवा समाजमें अुत्पन्न होते ही हैं, यह धर्मग्रन्थोंमें लिखा हुआ है और अितिहासमें देखा गया है।

त्रिकालज्ञ शब्दका अर्थ हमें भलीभांति समझ लेना चाहिये। 'लाखों वर्ष पहले कौन-कौनसी घटनायें घटी हैं और लाखों वर्ष बाद कौन-कौनसी घटनायें घटनेवाली हैं, प्रत्येक व्यक्ति क्या क्या कर चुका है और आगे क्या करनेवाला है, यह सब विस्तारसे जाननेवाला मनुष्य त्रिकालज्ञ है'—अैसी जड़ मान्यता समाजमें फैली हुअी है। अीश्वरकी ओरसे सन्देश प्राप्त करनेका दावा करनेवाले मुहम्मद पैगम्बर कहते हैं कि दूसरे क्षण क्या होनेवाला है यह न तो खुदाने अपने नबियोंसे कह रखा है और न अपने फरिश्तोंसे। भविष्य-सम्बन्धी ज्ञान खुदाने अपने पास ही रखा है। कहनेका मतलब यह है कि सर्वोच्च मनुष्यको भी भविष्यका ब्योरेवार ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। तब त्रिकालज्ञका अर्थ क्या है?

जो मनुष्य दीर्घकालीन अितिहासके अध्ययनसे भूतकालके स्वरूपको अच्छी तरह जानता है और लोकस्थितिका सूक्ष्म और व्यापक निरीक्षण करनेके फल-स्वरूप वर्तमान कालकी वस्तुस्थितिसे पूर्ण परिचित होता है, अुसे — यदि अुसने शास्त्रीय वृत्तिका विकास अपने भीतर किया हो तो — समाजशास्त्रकी रचना करना आता है और अिस शास्त्रके बल पर वह आसानीसे यह समझ सकता है कि भविष्यका प्रवाह — विचार-प्रवाह तथा घटना-प्रवाह — किस दिशामें बहेगा। अैसे शास्त्रीय दृष्टिवाले मनुष्यको हम त्रिकालज्ञ कहते हैं। प्रत्येक देशके और प्रत्येक युगके सर्वोच्च नेता अिस प्रकार कम या अधिक मात्रामें त्रिकालज्ञ होते ही हैं। और जो लोग अिस अर्थमें त्रिकालज्ञ रहे हैं, वे ही समाजकी नौकाको जीवन-सागरमें भलीभांति चला सके हैं।

अैसे मनुष्यमें अेक विशिष्ट शक्तिकी आवश्यकता होती है। वह है भविष्यके आदर्शकी झांकी करनेकी शक्ति। जिस प्रकार जहाजका कप्तान अपने पासके नकशेके अनुसार जहाजको चलाता है, जिस प्रकार मकान बनानेवाले लोग अपने नकशेके अनुसार मकानकी सारी रचना करते हैं, जिस प्रकार महाकाव्यका कोअी कवि निश्चित किये हुअे अुद्देश्यके अनुसार अपने काव्यका विस्तार करता है, अुसी प्रकार समाजकी धुराको धारण करनेवाला, समाजका नेता अपने मनमें निश्चित किये हुअे आदर्शकी दिशामें समाजको निःशंक भावसे ले जाता है। अुसके सामने अपने आदर्शका चित्र जितना स्पष्ट और जीवंत होगा, अुतने ही विश्वासके साथ वह समाजका मार्गदर्शन करेगा। बुद्ध और महावीर अैसे ही समाज-सुधारक थे, अिसीलिअे वे अपने पीछे अितनी समर्थ संस्कृति छोड़ गये हैं।

लेकिन बादके लोग धर्मके रहस्यको भूलकर केवल रूढ़ि और अपनी प्रतिष्ठासे चिपटे रहते हैं। अहिंसा-धर्मकी सर्वत्र विजय देखनेकी अिच्छा रखनेवाले जैनोंमें जब धर्मके नाम पर मार-पीट होती है तब धर्म कलंकित होता है। शम-दमका अुपदेश करनेवाले आचार्य जब क्रोधित होते हैं और किसीका सर्वनाश करनेकी प्रतिज्ञा लेते हैं, तब जिस धर्मके नाम पर अुनको प्रतिष्ठा मिली है वह धर्म गहरे सोचमें पड़ जाता है कि 'अब मैं कहां जाअूं? जिनके आधारको मैंने मुख्य माना था वे मेरे रक्षक होनेका दावा तो करते हैं, परन्तु अपने जीवनसे ही मेरा गला घोंटते हैं!' महाराष्ट्रमें नागपुरके पास रामटेक नामक अेक स्थान है। वहांका अेक जैन मंदिर देखने मैं गया था। अुसके द्वार पर बंदूक, तलवार आदि शस्त्र रखे गये थे और सिपाही अुस मंदिरकी रक्षा करते थे! अिस तरह मंदिरमें अेकत्र की हुअी धन-दौलतकी रक्षा जरूर होती थी, लेकिन अहिंसा-धर्मकी तो निरन्तर विडंबना ही होती थी।

धन-दौलतके भंडार और अहिंसाका मेल कभी बैठ ही नहीं सकता। यूरोपमें अहिंसावादी क्वेकरोंको और भारतमें अहिंसावादी जैन लोगोंको काफी

धनी देखकर मेरे मनमें शंका होती है कि अिन लोगोंकी समझमें अहिंसा-धर्म अच्छी तरह आता होगा या नहीं? गरीबोंका वृत्तिच्छेद किये बिना कोअी धनवान हो ही नहीं सकता। और वृत्तिच्छेदमें शिरच्छेदसे कम हिंसा नहीं है। यदि धर्माचार्य धर्मकी विजय देखना चाहते हों, तो अुन्हें समाजकी अन्याय-मूलक व्यवस्थाको बदलना ही होगा और अैसी स्थिति लानेका प्रयत्न करना होगा जिसमें प्रत्येक मनुष्यको अुसकी मेहनतका पूरा फल मिले।

यह अच्छा ही हुआ कि प्राचीन कालमें आहारशास्त्रके सूक्ष्म नियम बनाये गये। परन्तु आज वे नियम बदलने ही चाहिये। नया आहारशास्त्र बड़ी तेजीसे विकास कर रहा है। धर्मकी दृष्टिसे अुसका लाभ अुठाकर धर्माचार्योंको चाहिये कि वे अपने समाजको नया रास्ता दिखायें। मेरी समझमें यह बात नहीं आती कि प्याज, आलू, बैंगन या टमाटर न खानेमें धर्म माननेवाले लोग कीड़ोंको अुबाल कर तैयार किये हुअे रेशमके कपड़ोंका घरमें और अुपाश्रयमें कैसे अुपयोग करते होंगे। लेकिन यह तो तुलनामें अेक गौण बात हुअी। आज स्त्रियों, हरिजनों, गरीबों, किसानों और मजदूरोंके प्रति जो जीवन-व्यापी अन्याय चल रहा है, अुसे रोकनेके लिअे धर्मवीरोंको कटिबद्ध होना चाहिये।

जैनका अर्थ है वीर। अुसे तो सदा लड़नेकी तैयारी रखनी ही चाहिये। अुसका शस्त्र अहिंसा है, लेकिन अिस कारण कम वीरतासे अुसका काम नहीं चल सकता। जिस धर्मकी स्थापना अेक महान सुधारकने की अुसके अनुयायी स्वयं ही सुधारका विरोध करें, यह अेक आश्चर्यजनक घटना है। बुद्ध और महावीरने जातिभेदका विरोध किया था, अस्पृश्यताकी अवगणना की थी; फिर भी अुनके अनुयायी जातिके अभिमानसे ओतप्रोत हैं और अस्पृश्यताको टिकाये रखनेमें धर्म समझते हैं!

यह स्थिति देखकर ही अेक मित्रने कहा है: 'संत लोग धर्म चलाते हैं और रूढ़ि-पूजक आचार्य अुस धर्मका खून करते हैं और बादमें अुसकी 'ममी' (सुरक्षित शव) की पूजा करते हैं।' मैं नहीं मानता कि अैसा होना ही चाहिये। अिसीलिअे मेरी यह आशा है कि धर्माचार्य अपनी प्रतिष्ठाको नहीं परन्तु धर्मको जीवंत रखनेके लिअे अपना सर्वस्व न्योछावर कर देंगे।

३०

धर्म-संस्करण : १

कुछ लोग कहते हैं कि हमारा धर्म प्राचीनसे प्राचीन है, अिसलिअे वह अच्छा है। कुछ लोग कहते हैं कि हमारा धर्म अंतिमसे अंतिम है, अिसलिअे वह ताजा है। कुछ और लोग कहते हैं कि अमुक पुस्तक आद्य धर्मग्रन्थ है, अिसलिअे अुसमें सब कुछ आ जाता है। दूसरे लोग कहते हैं कि अमुक ग्रन्थ अीश्वरके द्वारा जगतको दिया हुआ अंतिमसे अंतिम धर्मग्रन्थ है, अिसलिअे अुसे स्वीकार करना चाहिये।

सनातन-धर्मी अिस बारेमें दूसरी ही दृष्टिसे विचार करते हैं। आजकी सृष्टिका आदि और अंत हो सकता है। धर्मग्रंथोंका भी आदि और अंत हो सकता है। परन्तु धर्म अनादि और अनंत है, अिसीलिअे वह सनातन कहलाता है। सनातनका अर्थ क्या है? जो अिस सृष्टिके आरंभसे पहले भी था और अिस सृष्टिके अंतके बाद भी रहेगा वह सनातन है। अिस अर्थमें केवल आत्मा और परमात्मा ही सनातन माने जायंगे।

लेकिन सनातनका अेक दूसरा अर्थ है। जो स्वभावसे ही नित्य-नूतन है, वह सनातन होता है। जो जीर्ण होता है वह मर जाता है; जो बदलता नहीं वह सड़ जाता है; जिसकी प्रगति नहीं होती अुसकी अधोगति होती है। रुंधी हुअी हवा बदबू करती है। न बहनेवाला पानी स्वच्छ नहीं रहता। पहाड़के पत्थर बदलते नहीं, अिसीलिअे धीरे धीरे अुनका चूरा हो जाता है। घास बार बार अुगती है, अिसलिअे वह ताजी रहती है। जंगलकी वनस्पति हर साल सूख जाती है और हर साल फिरसे अुगती है। बादल खाली होते हैं और फिर पानीसे भर जाते हैं। प्रकृतिको नित्य-नूतन बननेकी कला प्राप्त हो गअी है, अिसीलिअे प्रकृति सदा नवयौवना दिखाअी देती है।

अिस सिद्धान्तको जाननेके कारण ही सनातन धर्मके व्यवस्थापकोंने युगधर्मके अनुसार भिन्न-भिन्न धर्मोंकी व्यवस्था की है। कालकी महिमा जाननेके कारण ही वे कालको जीत सके हैं। धर्मके आध्यात्मिक सिद्धान्त अचल और अटल हैं। परन्तु अुनके व्यवहारको देश-कालके अनुसार बदलना पड़ता है। अिसका ज्ञान होनेके कारण धर्मकारोंने हिन्दू धर्मकी बुनियादी रचनामें ही परिवर्तनका तत्त्व रख दिया है। अिसीलिअे वह धर्म सनातन पद प्राप्त कर सका है। अनेक बार क्षीणप्राण होने पर भी वह निष्प्राण नहीं हुआ है। मनुष्यकी जड़ताके कारण अनेक बार अिस धर्ममें सड़ांध पैठी है, फिर भी किसी प्रकारके विप्लवके बिना अुसका पुनरुद्धार हुआ है।

सामाजिक व्यवस्थामें अथवा धार्मिक विधियोंके रिवाजोंमें समयके अनुकूल परिवर्तन होना चाहिये; परन्तु जबसे हिन्दू समाजमें अबुद्धिने जड़ जमाअी है तबसे अैसे परिवर्तनोंकी ओर हिन्दू लोग शंकाकी दृष्टिसे देखने लगे हैं। पूर्वजोंकी अपेक्षा हमारा सयानापन बढ़ ही नहीं सकता, पूर्वज तो त्रिकालका विचार करनेवाले थे, अुनकी रची हुअी व्यवस्थामें यदि हस्तक्षेप करेंगे तो पता नहीं कौनसे संकटमें हम पड़ जायंगे — अैसा कायर भय अथवा नास्तिकता हमारे भीतर घुस गअी है। सच पूछा जाय तो परिवर्तनका भय सनातन धर्मके स्वभावके विरुद्ध है। गहरे विचारके बिना चंचलताके कारण किये जानेवाले परिवर्तनकी कोअी हिमायत नहीं करेगा; परन्तु अज्ञानताके कारण प्रगतिसे डरकर निष्प्राण स्थिरता खोजनेमें पुरुषार्थ नहीं बल्कि मृत्यु ही है।

अपने धर्मको त्याग कर दूसरोंका धर्म ग्रहण करना अेक बात है; और अपने तथा दूसरोंके धर्मकी जांच करके अपने धर्ममें आवश्यक परिवर्तन और सुधार करना दूसरी बात है। अीश्वर प्रत्येक युगमें हमारे सामने नअी नअी परिस्थितियां खड़ी करके हमारी बुद्धिशक्तिको सक्रिय बनाये रखता है और अिस प्रकार धर्मके मूल सिद्धान्तोंके हमारे परिचयको जाग्रत रखता है। यदि धर्मके बाह्य आकारमें परिवर्तन न हो, तो अुसके भीतरी तत्त्वका शुद्ध आकलन हो ही नहीं सकता। हमारे जमानेमें यदि पूर्वजोंकी ही नकल करनेका काम रह जाय, नया कुछ भी करना, जानना अथवा खोजना बाकी न रह जाय, तब तो कहा जायगा कि हमारी शताब्दी निरर्थक और वंध्या ही सिद्ध हुअी है।

हमारे देशमें प्राचीन कालसे हर तरह अेक-दूसरेसे अलग पड़नेवाले धर्म और वंश साथ साथ रहते आये हैं। अैसे सहवासके कारण हमें हर समय धर्म-प्रवचन अलग अलग ढंगसे करना पड़ा है। जिस प्रकारकी शंका दूर करनी हो, जिस प्रकारके दोष मिटाने हों, अुसीके अनुसार हमें अेक ही धर्म-सिद्धांतको नअी नअी भाषामें और नअे नअे रिवाजोंके रूपमें प्रस्तुत करना पड़ता है। अिसीलिअे हमारा धर्म अनेक पहलुओंवाले तेजस्वी रत्नके समान दिव्यसे दिव्यतर बनता रहा है।

जब हम विदेशी सत्ताके अधीन रहते हैं तब धर्मको अत्यंत कृत्रिम और हीन वातावरण सहन करना पड़ता है। जब किसी देश पर विदेशी लोगोंका आक्रमण हो रहा हो अुस समय धर्म-संस्करणमें स्वाभाविक विकास नहीं रहता। हम कोअी परिवर्तन करने जायं और हमारे विरोधी हमारी कमजोरी देखकर मर्मस्थान पर आघात करें तो? — यह भय हमेशा बना रहता है। विदेशी सत्ता स्वभावतः समभावसे शून्य होती है। वह रूढ़ियोंको तो टिके रहने देती है, लेकिन हमारी शक्तिको बरदाश्त नहीं कर सकती। अिसीलिअे विदेशी सत्ताके कानून कहते हैं: 'तुम्हारे जो रीति-रिवाज परम्परासे चले आये हैं अुन्हींको संरक्षण मिलेगा। तुम नये रिवाज चालू नहीं कर सकते। तुम जहां हो वहांसे हट नहीं सकते। पुराने

कलेवरको हमारा अभय-दान है। लेकिन यदि हम तुम्हारे प्राणको, तुम्हारी शक्तिको राज्यकी मान्यता दें, तब तो हमारा प्रभुत्व तुम्हारे देशमें टिक ही नहीं सकता।' अैसी समभाव-शून्य तटस्थतामें सड़ी-भुसी रूढ़ियां भी कानूनकी कृत्रिम सहायतासे टिक सकती हैं।

ब्रिटिश राज्यके कारण हमारे यहां 'हिन्दू लॉ' के अमलमें यह स्थिति कदम कदम पर बाधक सिद्ध हुअी है। न्यायमूर्ति तेलंग अकसर अिस स्थितिके विरुद्ध अपनी नाराजी और खीज प्रकट किया करते थे। प्रत्येक धर्म और प्रत्येक समाज-को अपनी व्यवस्थामें चाहे जैसा परिवर्तन करनेका अधिकार होना ही चाहिये। परन्तु अैसा करनेके लिअे जो स्वतंत्रता, अेकता और योजना-शक्ति आवश्यक है, वह अुस अुस समाजमें होनी चाहिये। बड़ीसे बड़ी कीमत चुका कर भी हमें अिन गुणोंका विकास करना चाहिये। हिन्दू धर्मको यदि टिकाये रखना हो और जगतमें अुसका स्वाभाविक स्थान अुसे फिरसे दिलाना हो, हिन्दू धर्मको यदि समाजके लिअे कल्याणकारी बनाना हो, तो हमें साहसके साथ अुसका मैल धो डालना चाहिये। अैसे कितने ही रिवाज और अंधविश्वास हमारे समाजमें घुस गये हैं, जो धर्मके सनातन सिद्धान्तोंके विरोधी हैं और जिनकी वजहसे समाजकी सारी प्रगति रुक जाती है। अिन सबको तुरन्त जलाकर भस्म कर देना चाहिये।

अस्पृश्यता अेक अैसी ही बुराअी है। जातिके विषयमें अुत्पन्न होनेवाला अहंकार और प्रेमकी संकुचितता, व्यापक आत्मीयताका अभाव -- यह दूसरी बुराअी है। जहां रूढ़िके नाम पर दयाधर्मका खून होता है, जहां आत्मा अपमानित होती है, जहां धर्मप्रीतिके स्थान पर लालच और भयको स्थान दिया जाता है, वहां धर्मको अिन सबके खिलाफ अपनी अधिकारपूर्ण बुलंद आवाज अुठानी चाहिये। हर जगह सरकारी अधिकारियों और कर्मचारियोंको रिश्वत देकर अपना मतलब निकालना सीखे हुअे लोग अेक अीश्वरको छोड़कर अुसके स्थान पर अनेक भयानक शक्तियोंको प्रलोभन देनेमें अपना धर्म समझने लगे। निरंकुश, क्रोधी, तरंगी और खुशामद-पसंद अधिकारियोंके जुल्ममें रहकर नामर्द और कायर बने हुअे लोगोंने देवी-देवताओंके स्वभावके बारेमें भी वैसी ही निरंकुशता, क्रोध आदिकी कल्पना करके अुनके प्रति भी अपने भीतर डरपोककी वृत्ति बढ़ा ली। अिस प्रकार हमने धर्ममें ही अधर्मका साम्राज्य स्थापित कर दिया। सत्यना-रायणसे लेकर शीतला माता तकके सब देवी-देवताओंको हमने डरानेवाले गुंडों (**bullies**) का रूप दे दिया। आकाशके तारे और ग्रह, जंगलके पेड़-पौधे और वनस्पतियां, हमारे भाअीबंद जैसे पशु और पक्षी, अुषा और संध्या, अृतु और संवत्सर — सबमें हमारे पूर्वज अृषि-मुनि परम मांगल्यकी प्रेममय विभूतियोंके दर्शन करते थे और अुनके साथ आत्मीयता तथा अेकताका अनुभव करते थे; लेकिन हमें आज अिन सबमें शापका और कोपका भय ही भय दिखाअी देता

है। धर्मके शुद्ध और अुदात्त स्वरूपको जाननेवाले लोग हमारी धार्मिक विधियोंमें निहित काव्यको समझ सकते हैं, परन्तु अज्ञानी जन-समुदाय अुस काव्यको सनातन सिद्धान्त अथवा वास्तविक स्थिति मानकर विचित्र अनुमान लगा लेता है और धर्मके कार्यको विफल बना देता है।

आज हिन्दू धर्मका अुत्कर्ष चाहनेवाले प्रत्येक मनुष्यका पहला कर्तव्य यह है कि वह अपने समाजमें धर्मका शुद्ध स्वरूप प्रकट होनेकी आतुरतासे प्रतीक्षा करे। अिस बातको हमें अच्छी तरह समझ लेना चाहिये और दूसरोंको समझाना चाहिये कि जिस धर्ममें सत्यकी निर्भयता और प्रेमकी अेकता नहीं है, जिसमें निःस्वार्थ त्यागकी भावना नहीं है, जिसमें अुदारताकी सुगंध नहीं है, वह धर्म नहीं है। अब हिन्दू धर्मके संस्करण और परिष्करणका समय आ गया है, क्योंकि अुसके अूपर जमी हुअी अशुद्धिकी परतें अब अुसका दम घोंटने लगी हैं।

२६–१०–'४२

३१

धर्म-संस्करण : २

१

अेकमात्र धर्म ही मानव-जीवनका सब पहलुओंसे और समग्र रूपमें विचार करता है। जीवनका स्थायी अथवा अस्थायी अेक भी अंग अैसा नहीं है, जिस पर विचार करना धर्म अपना कर्तव्य नहीं मानता।

अिसलिअे धर्म मनुष्यके सनातन जीवन जितना ही अथवा अुससे भी अधिक व्यापक होना चाहिये; और चूंकि समस्त जीवन अुसका क्षेत्र है, अिसलिअे अुसे अत्यंत अुत्कट रूपमें जीवंत और प्राणवान होना चाहिये।

आज जगतके जितने भी प्रसिद्ध धर्म हैं, वे अधिकांश अैसे व्यापक धर्म हैं। अपनी स्थापनाके समय तो वे सब जीवंत थे ही। परन्तु धार्मिक पुरुषोंने अुनकी चेतनाको बार-बार जगाकर अुन्हें जीवंत बनाये रखा है। सिगड़ीकी आग जिस प्रकार स्वाभाविक रूपमें ही बार-बार मंद पड़ जाती है और अिसलिअे बार-बार अुसमें कोयले डालकर और फूंककर अुसका संस्करण करना पड़ता है, अुसे प्रज्वलित रखना पड़ता है, अुसी प्रकार समाजमें धर्मतेजको जाग्रत रखनेके लिए धर्म-परायण समाज-पुरुषोंको अुसे फूंकने और अुसमें अींधन डालनेका काम करना पड़ता है। यह काम यदि समय समय पर न किया जाय, तो धर्म-जीवन क्षीण और विकृत हो जाता है; और धर्मका क्षीण और विकृत रूप अधर्मके जितना ही हानिकारक होता है। धर्मको चेतनावान और

प्रज्वलित रखनेका कार्य केवल धर्म-परायण व्यक्ति ही कर सकते हैं। यह शक्ति न तो धर्मग्रन्थोंमें होती है, न धार्मिक रीति-रिवाजों या संस्कारोंमें होती है, न धार्मिक संस्थाओंमें होती है और न धर्मको सहारा देनेवाली राज्य-व्यवस्थामें होती है। शास्त्रग्रन्थ, संस्कार, रीति-रिवाज और धार्मिक तथा राजकीय संस्थायें धार्मिक जीवनके लिअे कम-अधिक मात्रामें अुपयोगी हैं जरूर; यह भी सच है कि धार्मिक वातावरणको स्थिर बनानेमें अुनकी सेवा बहुमूल्य सिद्ध हुअी है। परन्तु मूल शक्ति तो धर्मप्राण अृषियोंकी, संतोंकी और महात्माओंकी ही होती है। पवित्र मनुष्य-हृदय ही धर्मका अन्तिम आधार है। अुपनिषद्का यह वचन बिलकुल यथार्थ है: 'धर्मशास्त्रं महर्षीणां अंतःकरण-संभृतम्।'

धर्म-जिज्ञासा और धर्म-चिन्तन मनुष्यका स्वभाव ही है। अिस कारणसे प्रत्येक युगमें और प्रत्येक प्रदेशमें अुन्नतिकी कक्षाके अनुसार मनुष्यके हृदयमें धर्मका आविर्भाव होता ही रहा है। यह हृदय-धर्म कितना ही कलुषित, कितना ही मलिन क्यों न हो जाय, फिर भी मूल वस्तु तो शुद्ध ही रहती है। अशुद्ध सोना पीतल नहीं है; और पीतल चाहे जितना शुद्ध, चमकीला और सुडौल हो, फिर भी वह सोना नहीं है। अिसी प्रकार केवल बुद्धिके जोर पर खड़ा किया गया, लोगोंके हृदयमें रहनेवाले राग-द्वेषसे लाभ अुठाकर आरंभ किया गया और थोड़े या बहुतसे सामर्थ्यवान लोगोंके स्वार्थका पोषण करनेवाला धर्म सच्चा धर्म नहीं है। असंस्कारी हृदयकी क्षुद्र वासना और दंभसे अुत्पन्न होनेवाली विकृतिको ढंकनेवाला शिष्टाचार अथवा चतुराअीसे भरे तर्क द्वारा किया हुआ अुसका समर्थन भी धर्म नहीं है। अज्ञान (अर्थात् अल्पज्ञान), भोलापन और अंधश्रद्धा — अिन तीन दोषोंसे कलुषित बना हुआ धर्म अधर्मकी कक्षाको पहुंच जाय, यह अेक बात है; और मूलमें ही जो धर्म नहीं है वह केवल चालाकीसे धर्मका रूप धारण कर ले, यह दूसरी बात है। मनुष्य-समाज अब अितना प्रौढ़ और अनुभवी हो गया है कि मानव-अितिहासमें धर्मके अूपर कहे गये दोनों प्रकार व्यापक रूपमें पाये जाते हैं। परन्तु अिन दोनों प्रकारोंका पृथक्करण करके अिनके सच्चे स्वरूपको पहचाननेका कष्ट अभी तक मनुष्यने नहीं किया है।

हृदय-धर्म जब बुद्धि-प्रधान लोगोंमें अपना कार्य आरंभ करता है, शिष्ट लोगों द्वारा मान्य किया हुआ धर्म बनता है और अिसलिअे जब वह संस्थाबद्ध हो जाता है तब अुसके शास्त्र रचे जाते हैं, शास्त्रोंका अर्थ लगानेवाली मीमांसा-पद्धति अुत्पन्न होती है और अंतिम निर्णय देनेवाले शास्त्रज्ञोंका अेक वर्ग खड़ा होता है; अथवा पोप या शंकराचार्यके समान अधिकार-रूढ़ व्यक्तियोंको मान्यता प्राप्त होती है।

धर्मको शास्त्रबद्ध और संस्थाबद्ध बनानेका कार्य बुद्धि-प्रधान और व्यवहार-कुशल लोगोंके हाथों होता है, अिसलिअे धर्मकी स्वाभाविक भविष्योन्मुख दृष्टि

क्षीण हो जाती है और अुस पर भूतकालकी ही परतें चढ़ जाती हैं। भूतकालमें सदा अग्निकी अपेक्षा भस्म ही अधिक होती है, अिसलिअे धर्मतेज मंद पड़ जाता है। यही कारण है कि प्रत्येक धर्मका समय समय पर संस्करण या परिष्करण करना जरूरी हो जाता है।

संत तुकाराम जब बाजार जानेको निकलते थे तब अुनकी सज्जनताका लाभ अुठानेके लिअे कअी लोग अपनी अपनी तेलकी नली तेल लानेके लिअे अुन्हें सौंप देते थे और तुकाराम भी संतोषके साथ अुन नलियोंकी भारी मालाको गलेमें डालकर सौंपा हुआ काम नियमित रूपसे पूरा कर देते थे। जन-स्वभाव ही अैसा होता है। कोअी बालक या कोअी आदमी किसीकी बात सुनता है, यह मालूम होते ही निकम्मे लोगोंका समाज अुससे अपना काम करवानेके लिअे तैयार हो जाता है। कोअी नाव या जहाज नियमित रूपसे और तेजीसे अपने नियत स्थान पर पहुंचता है, अैसा पता चलने पर लोग अुसीमें अपना माल भरनेका आग्रह रखते हैं — और वह भी अिस हद तक कि अुसकी गति मंद पड़ जाय और अत्यधिक बोझसे वह डूबने लगे! धर्मकी भी अिसी तरहकी सार्वभौम अुपयोगी शक्तिको देखकर हर गरजमंद आदमीने अपनी गरजको किसी न किसी रूपमें धर्मके गलेमें लटकाया है। अिस कारणसे भी धर्मका तेज बार-बार हीन और क्षीण होता आया है।

जिस प्रकार कोअी चालू दुकान अपनी तरक्कीको बनाये रखने और बढ़ानेके लिअे पुराना और निकम्मा हो चुका माल बार-बार हटाया करती है और केवल पड़े रहनेके कारण बिगड़े हुअे मालको साफ-स्वच्छ करके अुजला और चमकीला बना देती है, अुसी प्रकार धर्मका भी बार-बार संस्करण और परिष्करण करना चाहिये। परन्तु यह संस्करण अैसे कुशल और धर्मज्ञ समाज-सेवकों द्वारा ही होना चाहिये, जिनमें खरे सोनेको परखने और अुसे सुरक्षित रखनेकी शक्ति है। आज दुनियामें बढ़ी हुअी अधिकतर प्रचलित नास्तिकताका मुख्य कारण धर्म-संस्करणका अभाव ही है।

२

किसी भी समाजके वृद्ध अथवा क्षीणवीर्य होनेके मुख्य कारण दो हैं: अिन्द्रिय-परायण विलासिता और धर्म-जड़ता।

समाज जब विलासी बन जाता है तो अुसके पासकी धन-दौलत अुसके लिअे पर्याप्त नहीं होती, अुसका पुरुषार्थ अपने आप घट जाता है और 'अैसा हो तो भी क्या और वैसा हो तो भी क्या? किसीमें कुछ नहीं है' अिस तरहकी निष्क्रियता और आलसीपन अुस पर सवार हो जाता है। अुसके बाद नये नये अनुभव लेनेके बजाय वह प्राचीन अनुभवोंके बारेमें कृत्रिम तथा दंभपूर्ण आदर और आग्रहको बढ़ाकर अुन्हें ढालके रूपमें अपने सामने रखता है।

दूसरी ओर जब मनुष्यमें बौद्धिक जागृति मंद पड़ जाती है और प्रयोगकी अपेक्षा प्रामाण्य पर ही अधिक भार देनेकी वृत्ति बढ़ जाती है, तब समाजमें अेक प्रकारकी धर्म-जड़ता अुत्पन्न होती है। यह धर्म-जड़ता दिखती तो है धर्माभिमान जैसी ही; परन्तु वास्तवमें अुसका रूप लापरवाहीका होनेसे वह अेक प्रकारकी नास्तिकता ही होती है। अनुभव यह नहीं बताता कि अभिमान और आग्रहके मूलमें सच्चा आदरभाव अथवा सच्ची श्रद्धा होती ही है।

आज भारतमें ग्रामीण समाजकी दुर्दशाका कोअी पार नहीं है। शहरोंसे विदेशी माल और मौज-शौककी चीजें गांवोंमें पहुंचती हैं, लेकिन अुद्योग-धन्धे नहीं पहुंचते। शहरोंका अुड़ाअूपन, असंस्कारिता तथा अन्य समाज-घातक दुर्गुण गांवोंमें तेजीसे फैलने लगे हैं। लेकिन शहरोंमें जो धार्मिक विचार-जागृति, राजनीतिक प्रगति और समाज-सुधार कुछ अंशोंमें दिखाअी देता है, अुसका प्रभाव बहुत ही कम मात्रामें गांवोंमें पहुंचता है। जिस हिन्दू धर्मसे और आर्य तत्त्वज्ञानसे आज हम जगतको प्रभावित और चकित कर देते हैं, वह धर्म और वह तत्त्वज्ञान जिस विकृत रूपमें आजके ग्राम-समाजमें प्रचलित है अुसे देखकर यही कहना पड़ेगा कि 'नेदं यदिदमुपासते।' देश-देशान्तरमें प्रशंसा पानेवाला हमारा धर्म और गांवोंमें पाला जानेवाला धर्म अेक है ही नहीं। गांवोंमें कल तक सच्ची धर्मनिष्ठा, पवित्र आस्तिकता और अूंचा चरित्र-बल था; आज भी कहीं कहीं अिनके अवशेष दिखाअी पड़ते हैं। परन्तु अबुद्धि, जड़ता और छिपी नास्तिकताका ही साम्राज्य वहां सर्वत्र फैलता दिखाअी दे रहा है। अिस कारणसे गांवके समाज-मानसमें वृद्धत्व अधिक मालूम होता है। गांवोंमें अज्ञान है, रोग है, गरीबी है। अिन तीनोंको यदि गांवोंसे हटाया नहीं गया, तो ग्राम-समाज अब टिक ही नहीं सकेगा। परन्तु प्रश्न यह है कि ज्ञान, स्वास्थ्य और अुद्योग बाहरसे गांवके लोगों पर कहां तक लादे जा सकते हैं? बाहरसे लादे जानेवाले अुपायोंकी अेक मर्यादा होती है। अिस तारक त्रिपुटीका स्वीकार गांवके लोगोंको स्वेच्छासे ही करना चाहिये। और तीनोंका स्वेच्छासे स्वीकार हो अिसके पूर्व ग्राम-समाजका वृद्धत्व दूर होना चाहिये। अुस समाजमें अुत्साह और जागृति आनी चाहिये। धर्म-संस्करणके बिना यह बात संभव नहीं होगी। अतः दूसरी सब बातोंसे पहले गांवोंमें धर्म-संस्करणका समुचित प्रयत्न होना चाहिये।

गांवोंमें जिस धर्मका पालन होता है अुसमें भय, रिश्वत, दैववाद और जंतर-मंतरका कर्मकांड ही मुख्य होता है—फिर वह धर्म हिन्दुओंका हो, मुसलमानोंका हो या अीसाअियोंका हो। गांवके लोगोंको अपनी दुर्बलताका, अज्ञानका, भोलेपनका और अनाथ स्थितिका अनुभवसे अुत्पन्न अितना कड़वा ज्ञान होता है कि वे स्वाभाविक रूपमें ही शक्तिके अुपासक बन जाते हैं, फिर भले वे लोग जैन हों या लिंगायत हों। अिस अज्ञान-मूलक शक्तिपूजासे ही जादू-टोने और

जंतर-मंतर पर लोगोंकी आस्था जमती है। धर्म यानी बलवानकी आराधना अथवा खरीदा हुआ अुनका संरक्षण — सामान्य जनता धर्मका यही अर्थ समझती है।

धर्मके द्वारा मांगल्य पर मनुष्यकी श्रद्धा बढ़ानी होती है, चरित्रकी तेजस्विताको स्वाभाविक बनाना होता है। संसारके अनुभवमें पद-पद पर जो विषाद प्राप्त होता है अुसे दूर करनेमें समर्थ दैवी आश्वासन प्राप्त करना होता है और जीवनके अंगभूत प्रत्येक तत्त्वका नूतन दृष्टिसे नया ही मूल्यांकन करना होता है। सफलता और निष्फलताके खयालोंको ही बदल कर अिस भौतिक जगतमें आध्यात्मिक स्वातंत्र्य सिद्ध करना होता है।

सैद्धान्तिक विवेचनकी दृष्टिसे यह दृष्टिभेद बहुत कठिन मालूम होगा। लेकिन जहां हृदयके साथ हृदय बात करता है वहां अुन्नत भूमिकाका आमंत्रण हृदय पर गहरा असर करता है; और अेक बार हृदयमें परिवर्तन हो गया कि फिर किसी भी अुपायसे अुससे पीछे नहीं हटा जा सकता। हृदयका अैसा आमंत्रण देनेवाले व्यक्तिके अपने हृदयमें किसीके बारेमें तुच्छताका भाव नहीं होना चाहिये। हमारा आमंत्रण अमोघ है, अैसी अमर आस्तिकता अुसमें होनी चाहिये। साथ ही मनुष्यमात्रके हृदयके बारेमें अुसके दिलमें प्रेम और आस्था — आदर होना चाहिये।

[धर्मज्ञान देते या लेते समय अुसे ग्रहण करनेवालेके अधिकारके विषयमें आज तक अपार चर्चा हुअी है। लेकिन अब धर्मज्ञान देनेवाले व्यक्तिके अधिकारकी गहरी चर्चा करनेके दिन आये हैं। अूपर बताअी हुअी आस्तिकता जिन लोगोंमें हो, अुन्हींको धर्मबोध और धर्म-संरक्षणका कार्य अपने सिर लेना चाहिये।]

आज गांवोंमें धर्मान्धताके रूपमें नास्तिकता कितनी फैली हुअी है, अिसका सच्चा खयाल होने पर मनको गहरा आघात ही लगना चाहिये — और लगता भी है।

प्रत्येक धर्म अनेक तरहके जीवन-काव्यसे भरपूर होता है। सच पूछा जाय तो धर्मज्ञानका समर्थ वाहन दलील या युक्ति और तर्क नहीं है, अुसका सच्चा वाहन काव्य है। अिसलिअे काव्य-विहीन धर्म हो ही नहीं सकता। परन्तु जहां जहां समाजमें अज्ञान और जड़ताका साम्राज्य होता है वहां धार्मिक काव्यके शब्दार्थको ही सच्चा मान लिया जाता है। और अपने अज्ञानके कारण मनुष्य जहां न हो वहां भी गूढ़ता और जादूका आरोपण करने लगता है। अिस वृत्तिसे अधिक धर्मविघातक वृत्ति कोअी हो सकती है या नहीं, अिसमें मुझे शंका ही है। अिसके विपरीत, धर्मके विषयमें बढ़नेवाले अिस पागलपनसे अूबे हुअे लोग अैसे मौकों पर धर्ममें भरे हुअे काव्यको जड़से मिटा देनेका निरर्थक और निष्फल प्रयत्न करते हैं। सच्चा अुपाय तो यह है कि लोगोंकी बुद्धिको तीव्र बनाया जाय और अुनकी काव्यरसिकताको विवेकपूर्ण बनाकर धर्ममें काव्यकी वृद्धि की जाय। लोगोंकी काव्यरसिकता बढ़ने पर वे धर्मको आसानीसे समझ सकेंगे और धर्ममें घुसे हुअे अंधविश्वासोंको भी पहचान सकेंगे।

परन्तु यह सब करनेके लिअे ज्ञानवान लोगोंको शहरी आदतें छोड़कर गांवोंकी जनताके श्रमसे पवित्र और प्रकृतिसे मधुर बने हुअे दैनिक जीवनमें ओतप्रोत हो जाना चाहिये। ग्रामवासियोंके जीवनसे अलग रहकर अुनके सरपरस्त, आश्रयदाता बननेसे अब काम नहीं चलेगा।

कोअी भी समाज युग-कल्पनासे पीछे रहकर सफल नहीं हो सकता। आजका युग केवल सैद्धान्तिक मानव-समानताका युग नहीं है। स्त्री-पुरुषकी समानताको और जातियोंकी समानताको आज अमली रूपमें स्वीकार करना होगा। अितना ही नहीं, सब धर्मोंको भी समान प्रतिष्ठा और समान आदर मिलना चाहिये। आज सब धर्मोंके प्रति अेकसे अनादरकी समानता पसंद की जाती है; और अुनके प्रति अेकसी अनास्था अथवा अेकसे अज्ञानको भी समानताका अेक मार्ग समझा जाता है। लेकिन यह मार्ग घातक है। आजके युगमें समाजमें रहनेवाले प्रत्येक मनुष्यको मुख्य मुख्य धर्मोंका सामान्य ज्ञान होना चाहिये। परन्तु अैसा ज्ञान लेने या देनेमें केवल तार्किक, आलोचनात्मक अथवा अैतिहासिक दृष्टि रखनेसे काम नहीं चल सकता। प्रेम, आदर और सहानुभूतिके साथ जाग्रत जिज्ञासा-बुद्धिसे सब धर्मोंका परिचय प्राप्त करना चाहिये। गांवोंका धर्मज्ञान बहुत पिछड़ा हुआ होता है, अुनकी दृष्टि संकुचित होती है और अुनका जीवनका हेतु बहुत अुन्नत नहीं होता। आजके जमानेमें दुनियाके विभिन्न धर्मोंके सत्पुरुषोंने और चरित्र-परायण संघोंने जो प्रयत्न किये हैं, अुनकी जानकारी अुन्हें बड़े प्रेमसे देनी चाहिये। अिसमें ध्येय धर्म-जागृतिका और लोक-कल्याणका होना चाहिये, केवल पंडिताअू बहुश्रुतताका नहीं।

आजके समाजका अेक महान दोष है वर्ग-विग्रह। लोगोंको अीर्ष्या, द्वेष या मत्सर करनेके लिअे कोअी ध्यानमूर्ति चाहिये। स्त्रियोंको पुरुषोंके खिलाफ, नौजवानोंको वृद्धोंके खिलाफ, गरीबोंको अमीरोंके खिलाफ, हिन्दू-मुसलमानोंको अेक-दूसरेके खिलाफ और गोरे लोगोंको काले और पीले लोगोंके खिलाफ लड़ना है। अिस प्रकार सर्वत्र विग्रहका —— लड़ाअीका वातावरण फैला हुआ है। कम या ज्यादा लोगोंको संगठित करके अुनका नेतृत्व ग्रहण करनेकी नीयत हो, तो अिसके लिअे अुन सबकी द्वेषबुद्धिको केन्द्रित करके अुन्हें द्वेषके आलम्बनके लिअे अेक ध्यानमूर्ति देकर संशयका और परायेपनका वातावरण खड़ा करना बहुत आसान है।

यह रोग धर्ममें बड़ी जल्दीसे घुस सकता है। आजकल अिस दिशामें प्रबल प्रयत्न भी चल रहे हैं। अिन सबका परिणाम परस्पर हत्या और अंतमें आत्महत्यामें ही आयेगा। हम जिस धर्म-संस्करणका विचार करते हैं, अुसमें अिस रोगसे मुक्त रहनेकी पूरी सावधानी रखनी चाहिये।

धर्मके बुरे तत्त्वोंको दूर करते समय अितना ध्यानमें रखना चाहिये कि अुनके स्थान पर शुभ, सात्त्विक और ठोस तत्त्वोंका धर्ममें प्रवेश हो। केवल शून्यता, रिक्तता भयंकर सिद्ध होती है।

व्यवहार-कुशल लोग कहेंगे कि यह सारा विवेचन सुन्दर और अुद्‌बोधक है, परन्तु अिसमें योजना जैसा कुछ भी दिखाअी नहीं देता।

विधान-सभामें कोअी कानून बनाते समय पहले अुसके अुद्देश्योंका व्यवस्थित निरूपण किया जाता है और अुसके बाद ही अुस कानूनकी धारायें आती हैं। परन्तु व्यवहारमें देखा जाता है कि कानूनकी धारायें हाथमें आते ही अुसका हेतु और अुद्देश्य गौण बन जाता है और अन्तमें भुला दिया जाता है। समाजको अैसी धाराबद्ध योजनाकी आदत पड़ गअी है। परन्तु अिससे जीवन यांत्रिक बन जाता है। भावनाका स्थान योजना कैसे ले सकती है? भावनाका क्षेत्र शिक्षासे नव-पल्लवित होता है; जबकि योजना अंतमें व्यवस्थाका रूप ले लेती है। यहां मैंने जिस परिवर्तनकी बात कही है, वह किसी सत्ताके बल पर नहीं हो सकेगा। वह शिक्षाके द्वारा और प्रत्यक्ष अुदाहरण द्वारा लोगोंका हृदय-परिवर्तन करानेसे ही हो सकेगा। अिसके लिअे कोअी सार्वजनिक योजना तैयार करनेकी जरूरत नहीं है। यदि भावना मूलमें शुद्ध होगी और सुरक्षित तथा जीवंत रहेगी, तो हमारी आवश्यकताके अनुसार अनेक योजनायें अुत्पन्न होंगी और बदलती रहेंगी।

१९३३

३२

जैन समाजके साथ मेरा परिचय*

श्री परमानन्द भाअीने मुझे बहुत कठिन विषय दिया है। अमुक आदमी हमारे बारेमें कैसा मत रखता है, यह जाननेमें सबका रस होता है। मैं मानता हूं कि आप सब अिसीलिअे अितनी बड़ी संख्यामें यहां अुपस्थित हुअे हैं। परन्तु जैनोंके सामने खड़े होकर जैन समाज या जैन धर्मके साथका अपना परिचय बताना कोअी सरल काम नहीं है। मैं तो अंग्रेज मनीषी अेडमंड बर्कके मतका हूं कि किसी भी जाति, समाज अथवा राष्ट्रके बारेमें सार्वत्रिक सिद्धान्त बनाये ही नहीं जा सकते। प्रत्येक संस्कृतिकी विशेषतायें हो सकती हैं, परन्तु समाजमें तो अनेक प्रकार-के लोग होते हैं। अमुक जाति या वर्गके सब लोग अच्छे और अमुकके बुरे, अैसा भेद किया ही नहीं जा सकता। मनुष्य-जाति सब जगह अेकसी ही है।

और, जैन समाजके साथ मेरा परिचय भी कहां अितना व्यापक है? मैं तो कुछ मित्रोंको ही पहचानता हूं। मैंने मुसाफिरी खूब की है, लेकिन वह तो नदियों और पर्वतोंको, तीर्थों और मंदिरोंको, गांवों और अुनकी परेशानियोंको देखनेके

---

* ता० २७–८–'२९ को जैन युवक-संघ, बम्बअीमें दिया हुआ भाषण।

लिअे की है। समाजकी विविध प्रवृत्तियोंके साथ मेरा परिचय सीमित ही है। जो है वह ज्यादातर विद्यार्थियों और अध्यापकोंके साथ है। अीश्वरने मुझे बड़े अच्छे मित्र दिये हैं। परन्तु अितने परिचयके आधार पर मैं संपूर्ण समाजके बारेमें कैसे बोल सकता हूं?

मनुष्यका परिचय कम हो या अधिक, अुसके साथ अुसे अपना अभिप्राय तो बनाना ही पड़ता है; क्योंकि अभिप्राय बनाये बिना जीवनमें व्यवहार संभव ही नहीं होता। परन्तु अैसा अभिप्राय शब्दोंमें व्यक्त नहीं किया जा सकता। अपने मनमें भी अुसका विश्लेषण नहीं किया जा सकता। अभिप्राय निश्चित हो तो भी वह अव्यक्त ही रह सकता है।

अपने अनुभवके आधार पर मैं अितना कह सकता हूं कि कोअी भी समाज अपने लिअे श्रेष्ठ होनेका दावा नहीं कर सकता। मैं तो यहां तक कहूंगा कि अन्य जातियोंसे अधिक अहिंसक होनेका दावा भी जैनोंको नहीं करना चाहिये। तफसीलोंमें या रीति-रिवाजोंमें भले ही भेद हो, लेकिन गुजरातकी सभी जातियां समान रूपसे अहिंसक हैं। आप चाहें तो अितना दावा जरूर कर सकते हैं कि जैन धर्मके प्रचारके कारण और आपके सहवासके कारण लोगोंमें अितनी अहिंसा आअी है। अैसे दावेमें तथ्य जरूर है।

किसी भी व्यक्ति या समाजके बारेमें बोलते समय अेक और असुविधा भी बाधक होती है। अगर गुण बताये जायं तो वह खुशामद अथवा अूपरी शिष्टाचार माना जाता है; मानो मनुष्य दूसरोंके दोष बताते समय ही सच बोलता हो। और, दोष बताते समय मनुष्य तटस्थ बुद्धि रखे, तो भी कोअी अुस पर विश्वास नहीं करता। मेरे जितने भी जैन मित्र हैं अुनकी अुदारता और सहिष्णुता पर मैं मुग्ध हूं। कट्टर जैन समाजमें अुनकी प्रतिष्ठा कितनी है, यह मैं नहीं जानता। किन्तु मेरी दृष्टिमें वे मित्र अहिंसाके सच्चे अुपासक हैं। जैनोंकी संकुचितताके बारेमें मैंने बहुत कुछ सुना है: वे दान करेंगे तो वह अुनकी अपनी जाति तक ही मर्यादित रहेगा; मदद करेंगे तो वह अपनी जातिके नौजवानोंकी शिक्षाके लिअे ही होगी; फंड अेकत्र करेंगे या छात्रालय खोलेंगे तो भी वह अपनी जातिके प्रति रही भावनाके कारण ही होगा। अिस विषयमें मैं अितना ही कह सकता हूं कि मेरा अनुभव अिससे भिन्न है। मैं जिस राष्ट्रीय विद्यापीठमें काम करता हूं, अुसका विशाल भवन अेक जैन सज्जनने बनवाया है। समस्त धर्मोंके धर्मग्रन्थोंसे अहिंसा-शास्त्रकी शोध करनेकी सुन्दर सुविधा अेक अन्य जैन सज्जनने वहां कर दी है। देशकी दुर्दशाकी दवाके रूपमें हमने अभी अभी ग्राम-सेवाकी जिस योजना पर अमल शुरू किया है, अुसका आर्थिक बोझ भी अेक अुदार हृदयवाले जैन सज्जनने ही अुठा लिया है। अैसे कितने ही अुदाहरण मैं आपके सामने रख सकता हूं।

परन्तु आप कहेंगे कि 'प्रत्येक जातिमें अैसे अुदार सज्जन हो सकते हैं; आप अेक जातिके नाते हमारे कुछ दोष तो बताअिये।' मैं दोष बता सकूं अितना निकट परिचय अभी जैन समाजके साथ मेरा नहीं है। किन्तु जो शंकायें मेरे मनमें अुठी हैं, अुन्हें ही यहां प्रश्नके रूपमें पूछ लूं।

गुजरातके जैन अधिकतर गांवोंमें रहते हैं या शहरोंमें? यदि वे शहरोंमें ही रहते हों, तो आपको अिस विषयमें गहरा विचार करना चाहिये। जैन लोग अधिकतर खेती करते ही नहीं। क्या यह बात सच है? यदि सच हो तो मुझे कहना चाहिये कि यह स्थिति गंभीर है। यदि अैसा ही हो तो मैं कहूंगा कि आपको अपने अस्तित्वके बारेमें और अपनी प्रतिष्ठाके बारेमें जितनी सावधानी रखनी चाहिये अुतनी आप नहीं रखते। अितना ही नहीं, मैं तो यह भी कहूंगा कि आप अहिंसा-धर्मके पालनकी पूरी तैयारी नहीं करते। आहार पर जीनेवाला मनुष्य खेतीसे विमुख रहे, यह कोअी साधारण दोष है?

समाजशास्त्रके आज तकके अपने अध्ययनके आधार पर मैंने अेक अचूक नियम ढूंढ़ निकाला है। जिस जातिने जमीनके साथ अपना सीधा सम्बन्ध नहीं रखा है, अुसने अपनी जड़ें कमजोर बना ली हैं। मैं यह मानता हूं कि जो अनाज हम खाते हैं वह कैसे और कहां अुत्पन्न होता है, यह हमें अनुभवसे जानना चाहिये। कहीं कहीं खेतीमें होनेवाली हिंसाके कारण खेतीसे दूर रहनेकी बात कही जाती है। लेकिन मेरा अनुमान है कि जैन लोग अैसा तर्क नहीं कर सकते, क्योंकि जैनमतने तो किये हुअे, कराये हुअे और अनुमोदित कार्यमें समान दोष बताया है। जो अनाज खाया जाता है अुससे सम्बन्धित खेतीका दोष खानेवालोंको लगता ही है। अितने पर भी यदि आपका धर्म अिससे भिन्न कुछ कहता हो, तो मैं लाचार हूं। मुझे जो कुछ अुचित लगता है अुसे आपके सामने रखना मैं अपना धर्म मानता हूं।

धनी होनेके दो ही मार्ग हैं: (१) व्यापार-अुद्योग और (२) लूटपाट। व्यापारी व्यापार करते हैं और खूब धन अिकट्ठा करते हैं। सरकार कानूनन् लूटपाट करती है और धनके भंडार भरती है। सरकारसे मेरा मतलब केवल अंग्रेज सरकारसे ही नहीं; आजकी प्रत्येक सरकार यही काम करती है। वह व्यक्तियोंको चूसती है और पशुबलसे सर्वत्र राज्य चलाती है। व्यापारसे समाजमें पैसा आता है; परन्तु जमीनके साथ सम्बन्ध रखे बिना समाजमें स्थिरता नहीं आती। पैसा शहरकी चीज है। अिसमें कोअी शंका नहीं कि हमने शहरमें ही रहनेके कारण अपने अनेक गुण खो दिये हैं। कुदरतके साथ सीधा सम्बन्ध तो गांवमें रहनेसे ही स्थापित हो सकता है। जो मनुष्य गांवमें रहता है वह अृतुके परिवर्तनोंका, खुली हवाका, खुली धूप, ठंड, गरमी और बरसातका, भव्य आकाश तथा पक्षियोंके मीठे कलरवका अनुभव कर सकता है। जिसे खेती करनी होती है वह आकाशकी

ओर टकटकी लगाकर बैठता है और रातके तारों तथा दिनके सूर्य-प्रकाशके साथ अेकरूप होकर जीवन बिताता है। आत्म-रक्षक वृत्तिका विकास करनेके लिअे भी खेती अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि किसानको कुदरतके तथा पशु-पक्षियोंके अनेक आक्रमणोंके सामने निरन्तर जूझना पड़ता है। अिसी दृष्टिसे मैं कहता हूं कि क्षत्रिय और क्षेत्रिय (किसान) में मैं बहुत भेद नहीं करता। गांवके किसानोंने सदा ही आत्म-रक्षक वृत्ति दिखाअी है। शिवाजीने और बारडोलीके किसानोंने यह बात सिद्ध कर दिखाअी है। जब सत्ताधारीका आदेश निकलता है कि 'you shall yield' (तुझे झुकना ही पड़ेगा) तब किसान ही यह अुत्तर दे सकता है कि 'I shall neither break nor bend' (मैं न तो टूटूंगा और न झुकूंगा)।

अिस विश्वमें अहिंसाके समान दूसरा कोअी धर्म नहीं है। अिसे आप और मैं दोनों मानते हैं। फिर भी अिस शरीरके साथ अिस जीवनमें संपूर्णतया अहिंसाका आचरण करना किसी भी मनुष्यके लिअे संभव नहीं हो सका। भविष्यमें भी कभी यह संभव नहीं होगा। हमारे जीवनका अुद्देश्य अपनी वर्तमान प्रवृत्तियोंमें हिंसाको यथासंभव कम करना ही हो सकता है। अिसका अर्थ यह हुआ कि जब तक हमारी सांसारिक प्रवृत्तियां चलती रहें तब तक अहिंसा-धर्मियोंको अहिंसाके नये नये प्रयोग चालू रखने ही होंगे। अिसी प्रकार हमें यह भी देखना चाहिये कि खेतीके काममें अहिंसाकी ओर बढ़नेकी कितनी संभावना है; क्योंकि खेतीको हम जितनी अहिंसक बना सकेंगे संपूर्ण जगत अुतना ही अहिंसक बनेगा। बाहरके जीवनमें हम अहिंसाकी चाहे जितनी बातें करें, परन्तु जिस अन्नके बिना हमारा और जगतका जीवन अेक दिनके लिअे भी नहीं चलता, अुसे अुत्पन्न करनेवाली खेतीको जब तक हम विशुद्ध नहीं बनायेंगे तब तक अहिंसा-धर्म हमारे जीवनके मूलको स्पर्श नहीं कर सकता। संन्यासी समस्त प्रवृत्तियोंसे दूर रहकर स्वयं बड़ा अहिंसक होनेका दावा कर सकता है, परन्तु अुसके दावेकी बहुत कीमत नहीं है। अहिंसा-धर्म जीवित और जाग्रत विश्वधर्म है और अुसकी पूर्णता हम जीवनमें कभी सिद्ध कर ही नहीं सकते। अिस अहिंसा-धर्मका आचरण हिंसक मानी जानेवाली प्रवृत्तियोंसे दूर रहकर तथा दूर रहते हुअे भी अुन प्रवृत्तियोंके फलोंका लाभ अुठाकर हम कभी करा ही नहीं सकते। मैं अिस बातकी ओर जैन मित्रोंका खास तौर पर ध्यान खींचना चाहता हूं कि हमारा कर्तव्य संसारकी स्थितिके लिअे अनिवार्य प्रवृत्तियोंसे हिंसाके तत्त्वको यथासंभव दूर करनेमें निहित है।

अिस तरह विचार करने पर मैं यह मानता हूं कि जैन समाजको आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, बौद्धिक, स्वास्थ्य-विषयक दृष्टि अथवा अंतमें मोक्षकी दृष्टिसे भी जमीनके साथ अपना सम्बन्ध बढ़ाना ही चाहिये। मैं यह कहनेकी

अिजाजत लेता हूं कि जब तक जैन लोग अैसा नहीं करेंगे तब तक अुनकी प्रतिष्ठा स्थिर भूमि पर टिकी हुअी नहीं मानी जा सकती।

जैन समाजके साथ मेरा बहुत गहरा अथवा विस्तीर्ण परिचय नहीं है। मेरा परिचय है पेड़-पौधों और पशु-पक्षियोंके साथ तथा जिन लोगोंकी सेवाका मैं सदा लाभ अुठाता रहता हूं, अुनमें से कुछ गरीब भाअियोंके साथ। मेरे जीवनका मुख्य कार्य है : शिक्षा। विद्यापीठ, मेरे साथी, मेरे विद्यार्थी और मैं — यही मेरी दुनिया है। अिन सबके होते हुअे भी मुझे जो थोड़ेसे जैन मित्र मिले हैं, वे बड़े अच्छे — प्रेमल, अुदार और पूरे सहिष्णु हैं और अुनके कारण मेरा जैन समाजके विषयमें हमेशा बहुत अूंचा खयाल रहा है। मैंने तो अुन मित्रोंमें अूंचा जैनत्व और अहिंसक वृत्ति देखी है। यहां अहिंसकताका अर्थ मैं अुदार सहिष्णुता करता हूं। मेरा विश्वास है कि यही अेक अैसी चीज है, जिसकी आजकी दुनियाको बड़ी आवश्यकता है; और जैन लोग यदि चाहें तो दुनियाको यह चीज दे भी सकते हैं। आज आप दुनियामें प्रचलित मांसाहारको नहीं रोक सकते, क्योंकि आज तो कुछ स्थानोंमें अिसके विपरीत बड़ी विचित्र हवा बह रही है। जैन शास्त्रोंका सर्वत्र खूब अध्ययन हो, अिसके लिअे जैन मित्र बहुत आतुर रहते हैं। मुझे कोअी भी जैन पुस्तक छपवानी हो तो अुसके लिअे पैसे प्राप्त करनेमें मुझे बहुत कठिनाअी नहीं हो सकती। लेकिन आज हमें यह काम नहीं करना है। आज तो हमें दुनियाकी पीड़ा जाननी है और अुसे दूर करनेका अुपाय सुझाना है। यह अुपाय अहिंसामें है; और यदि जैन धर्मका समुचित निरूपण किया जाय, तो दुनिया अुससे बहुत स्वस्थता प्राप्त कर सकती है।

आज जब मैं जैन शब्दका प्रयोग करता हूं तब जैन नाम धारण करनेवालेको जैन मानकर मैं अिस शब्दका प्रयोग नहीं करता; अिस शब्दका प्रयोग मैं अैसे लोगोंके लिअे करता हूं, जिनमें जैन भावना ओतप्रोत हो गअी है। 'Hindu view of life' के लेखक श्री राधाकृष्णन्‌के शब्दोंमें मैं भी यह मानता हूं कि धर्म-परिवर्तन करानेका प्रयत्न जब तक रुकेगा नहीं तब तक जगतमें शांति नहीं होगी। प्रत्येक धर्ममें अपना विकास करनेकी पूरी गुंजाअिश और पूरी सामग्री होती ही है। प्रत्येक धर्म कम या अधिक मात्रामें अहिंसा-परायण है और अुतने अंशमें अुसमें जैनत्व है।

मुझे तो आपसे दो ही बातें कहनी हैं : आप सहिष्णु बनिये; और जीवनकी जरूरतोंको यथासंभव कम कीजिये। आप अपनी जरूरतें कम नहीं करेंगे तब तक आप सच्चे अहिंसक बन ही नहीं सकते। हमारा साधारण जीवन तरह तरहके द्रोहोंसे भरा है। धन-संपत्ति अद्रोहसे मिल ही नहीं सकती। अपनेमें से कुछ लोगोंके लिअे आप जप-तप करनेकी सुविधायें जुटा दें और बाकीके लोग जो

कुछ करते हों वही किया करें, तो अिससे समाज कभी अद्रोही अथवा अहिंसक बन ही नहीं सकता।

हिन्दू धर्मने अेक ही बात कही है — और जैन धर्म अुसमें आ जाता है; वह यह है कि कोअी भी धर्म झूठा है अैसा नहीं कहा जा सकता, प्रत्येक धर्मके सत्यांशका आश्रय लेकर मनुष्य परम कोटिको प्राप्त कर सकता है और अिसलिअे धर्म-परिवर्तन करना व्यर्थ है। अिसी विचारमें स्याद्वादके तत्त्वका सार आ जाता है। 'दूसरे लोग जो कुछ कहते हैं वह बिलकुल झूठ कहते हैं', अैसा कहनेवाले लोग पहले तो स्याद्वाद-मूलक जैन धर्मका ही द्रोह करते हैं।

आप पैसा खर्च करके जो पंडित अुत्पन्न करेंगे अुनसे आपका साहित्य तो खूब बढ़ेगा, परन्तु धर्मका या जगतका अुद्धार नहीं होगा। गांधीजीको कितने ही लोग अुत्तम जैन — अुत्तम हिन्दू — के रूपमें स्वीकार करते हैं। अिसका कारण गांधीजीका पांडित्य नहीं है, परन्तु अुनका चारित्र्य, अुनका अनुभव और अुनकी तपस्या है। वे ही गांधीजी कहते हैं कि अिनमें से कुछ अच्छी अच्छी बातें मुझे श्रीमद् राजचन्द्रसे मिली हैं। और अिन राजचन्द्रमें भी असाधारण पांडित्य नहीं था; अुनमें था तपोमय जीवन और विश्वव्यापी विशाल भावना। अिन दोनों सद्गुणोंको अपना कर आप जगतको जैन धर्मका सच्चा दर्शन करा सकते हैं। आज कुछ पाश्चात्य विचारक यह मानते हैं कि भारतने अपना संदेश जगतको सुना दिया है और जगतने अुसे ग्रहण कर लिया है। अब भारतके पास जगतको देनेके लिअे कुछ रहा नहीं है, और अिसलिअे अब भारतको जीनेका कोअी अधिकार नहीं है। यदि अब हमें जगतको कुछ नहीं देना है और यदि हम मृतप्राय बन गये हैं, तो हमें अूपरका अभिप्राय स्वीकार कर लेना चाहिये। यदि अैसा न हो तो हमें अपनेमें प्रेरणा, अुत्साह, ओजस्विता और नव-निर्माणकी शक्ति दिखानी होगी, अपनी विरासतको अुत्तरोत्तर बढ़ाना होगा और अपने अस्तित्वसे जगतको समृद्ध तथा गौरवान्वित करना होगा।

३३

'प्रबुद्ध जैन'

यूरोपियन लोग अिस देशमें आये तबसे अुन्होंने अिस देशको पहचाननेका प्रयत्न किया है। बड़े बड़े विद्वानोंने भारतमें शोध करके हिन्दू धर्म और हिन्दू संस्कृति पर प्रकाश डाला है। अुसके बाद मैडम ब्लेवेट्स्की, कर्नल आल्कॉट और मिसेज़ अेनी बेसेंट जैसे प्रतिभाशाली व्यक्तियोंने भारतकी ब्रह्मविद्याका अध्ययन करनेके लिअे थियॉसॉफिकल सोसायटीकी स्थापना की। परन्तु भारतको अपनी अस्मिताका, अपने स्वाभिमानका भान तो स्वामी विवेकानन्दकी अमेरिका-यात्राके बाद ही हुआ। स्वामी विवेकानन्द जब अमेरिकासे भारत लौटे तब अुन्होंने बिस्तर पर लोटते हुअे किन्तु नींदसे जागे हुअे भारतको देखा। जागे हुअे भारत-को खड़ा करने और अपने पैरों पर खड़े रहकर चलने लायक बनानेके लिअे स्वामी विवेकानन्दने 'प्रबुद्ध भारत' नामक मासिक शुरू किया। अुसमें स्वामीजीने वेदांत धर्मकी नींव पर सामाजिक, धार्मिक, शैक्षणिक और सांस्कृतिक जागृतिका नया भवन खड़ा करनेका प्रयास किया। वेदांत वास्तवमें पंडितोंकी चर्चा-मंडलीमें केवल छान-बीन करनेका विषय नहीं है; वह गुफामें पलथी मारकर, सीधे बैठकर और नाक पकड़ कर सो जानेकी सुविधा कर देनेवाला हठयोग नहीं है। अिसके विपरीत, वेदांत अेक सार्वभौम जीवन-दर्शन है और जीवनके विषयमें अुठनेवाले सारे प्रश्न हल करनेकी गुरुकुंजी (**master-key**) है — अैसा स्वामीजीने अनुभवसे देखा और अुसके अनुसार भारतको प्रेरणा दी। ब्रह्म-समाज और आर्य-समाजमें भी हमें यही प्रेरणा दिखाअी पड़ती है। यही प्रेरणा हमें अरविन्द घोषमें और रवीन्द्रनाथ ठाकुरमें दिखाअी देती है। और अिसी प्रेरणाके अद्वितीय विस्तारका अनुभव हम अहिंसावादी गांधीजीके समस्त कार्योंमें करते हैं।

जैन-दर्शन भी अैसा ही अेक जीवन-व्यापी सार्वभौम दर्शन है। स्याद्वाद-की भूमिका पर अहिंसा और तपके साधनसे सारी दुनियाका स्वरूप बदलनेकी शक्ति और अभिलाषा जैन-दर्शनमें है अथवा होनी चाहिये। विनाशके किनारे पहुंचे हुअे जगतको यदि अंतिम क्षणमें अुससे बचना हो, तो अुसे स्याद्वाद-रूपी बौद्धिक अहिंसा स्वीकार करनी ही चाहिये, संयम-रूपी नैतिक साधनाका आचरण करना ही चाहिये और तपके द्वारा संकल्पका सामर्थ्य बढ़ा कर अुपरोक्त साधनाकी पूर्ण तैयारी करनी ही चाहिये।

रूढ़िग्रस्त शास्त्री और ग्रंथ-परायण पंडित दुनियाको यह संदेश नहीं दे सकते, क्योंकि दुनियामें अुनसे अधिक बुद्धिशाली और कम पामर कितने ही लोग हैं।

शब्दजड़ और ग्रन्थ-परतंत्र बने हुअे साधु, मुनि और आचार्य यह संदेश नहीं दे सकते। अिसका कारण यह है कि वे अधिकतर अपने समाजके, अपने अज्ञानके तथा अिन दोनोंका पोषण करनेवाली रूढ़ियोंके अनुयायी होते हैं। वे पढ़ी हुअी और सुनी हुअी बातें कहते हैं, अनुभव की हुअी बातें नहीं कहते। अुन्हें सिद्धान्तोंके अर्थोंका दर्शन भले ही हुआ हो, लेकिन विशाल और गंभीर मानव-जीवनका दर्शन अुन्हें शायद ही होता है।

भूतकालको यथार्थ रूपमें न समझनेवाले, भविष्य कालको न देख सकनेवाले तथा वर्तमान कालके संकुचित स्थल और कालसे मर्यादित रहनेवाले आजकलके लेखक और संपादक, जाति-भूषण और समाज-सुधारक भी यह संदेश नहीं दे सकते; क्योंकि अुनकी श्रद्धा अुनके जीवन जैसी ही शिथिल और छिछली होती है। वे जीवनके विद्यार्थी तो बन सकते हैं, परन्तु जीवन-वीर नहीं होते। प्रयोग-परायणतासे वे डरते हैं। वे महासागरमें अपना और अपने समाजका जहाज चलानेवाले और अेकमात्र ध्रुवके आधार पर चाहे जैसे पानीमें अकुतोभय — पूरी निर्भयतासे — संचार करनेवाले साहसी नाविक नहीं होते।

परन्तु यह सन्देश दुनियाके सामने रखा गया है। महावीरकी वाणीके प्रति जिन लोगोंकी निष्ठा है अुनका यह कर्तव्य है कि वे अिस संदेशको समझें, आच-रणमें अुतारें और अुसका विस्तार करें। 'प्रबुद्ध जैन' जैन समाजको और अुसके साथ भारतीय समाजको जगा हुआ देखकर अुसे बैठा दे और अुठकर चलनेकी प्रेरणा दे, तो कहा जायगा कि अुसने जैन-दर्शनको जीवन-दर्शन बना दिया है।

अुस संदेशके मंत्र जिन लोगोंने सुने हैं, अुस संदेशकी आवाजसे जो लोग अस्वस्थ और अशांत हुअे हैं, अैसे लोगोंको अेकत्र करनेवाला स्थान यदि यह 'प्रबुद्ध जैन' बन जाय, तो अुसका अस्तित्व सफल होगा।

१–५–'३९

३४

महावीरका जीवन-सन्देश*

आज संसारकी विचित्र स्थिति है। हिंसासे यदि कोअी अधिकसे अधिक डरते हों, तो वे आजके यूरोपियन हैं। २५ वर्ष पहले प्रथम विश्वयुद्धमें हुअे संहार और नाशको वे आज भी भूले नहीं हैं। अुन्हें भय है कि यदि फिरसे युद्धकी ज्वाला भड़क अुठी तो हमें अपने सारे वैभव, सारे मौज-शौक, भोग-विलास और अैश्वर्यसे हाथ धोने पड़ेंगे। यूरोपका मनुष्य यह सोचकर कांप अुठता है कि आज संस्कृतिके नाम पर जिस वैभव-विलासका आनंद हम भोगते हैं, वह युद्ध होने पर नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा। युद्धको टालनेके लिअे वह सब कुछ करनेको तैयार है। अिसके लिअे वह दिये हुअे वचनोंका भंग करेगा, किये हुअे कौल-करारोंको भुला देगा, अपमानोंका कड़वा घूंट पी जायगा, अपने साथियोंको धोखा देगा और कैसे भी अप्रिय लोगोंके साथ मित्रता बांधेगा। युद्धको टालनेके लिअे वह अपने जीवन-सिद्धान्तोंको भूसीकी तरह हवामें अुड़ा देगा। लेकिन अितना सब करनेके बाद भी वह युद्धको टाल नहीं सकेगा। अिन्द्रिय-परायण जीवन, भोग-विलास, वासनायें, लोभ, भय, महत्त्वाकांक्षा और परस्पर अविश्वास अुसे शांतिसे बैठने नहीं देंगे। हिंसासे भयभीत बना हुआ यूरोपका मनुष्य सारी दुनियाको हिंसाकी दीक्षा दे रहा है और मारनेकी कलाका विकास करनेके लिअे जीवनकी कअी अच्छी शक्तियोंको नष्ट कर रहा है। आज वह जिस युद्धको टालना चाहता है अुसी युद्धको जोरोंसे खींचकर अपने निकट ला रहा है।

अैसी विचित्र परिस्थितियोंमें आज हम अेक बार फिर भगवान महावीरके सन्देशको अुज्ज्वल बनाना चाहते हैं।

अुस धार्मिक संदेशको ग्रहण करनेके लिअे आजकी दुनिया तैयार नहीं है! वह शांतिका मार्ग तो है, किन्तु अुस मार्ग पर चलनेमें मनुष्यको अभी आनंद नहीं आता। पहले वह दूसरे सारे मार्ग आजमायेगा और सब तरहसे हारनेके बाद ही लाचारीसे अिस सच्चे मार्ग पर आयेगा।

मनुष्यका यह स्वभाव है कि वह अैसे अुपायों पर विश्वास रखकर अुन्हें पहले आजमाता है, जिनमें कोअी सार नहीं होता। आज यूरोपमें जो अनेक मार्ग सुझाये जाते हैं, अुनसे हमें आश्चर्य होता है। हमारे यहांके पुराने लोग जब जब तर्क और न्याय, दर्शन और मीमांसाकी बातको ले बैठते हैं और घटत्व तथा पटत्वका और अवच्छेदकावच्छन्नका पिष्टपेषण करते हैं, तब हम अुन पर

---

* ता० १४–९–'३९ को बम्बअीमें दिये गये भाषणसे।

हंसते हैं और कहते हैं कि जिनका जीवनके साथ कोअी सम्बन्ध नहीं, तत्त्वसे जो सर्वथा दूर हैं, अैसी निरर्थक बातोंकी चर्चामें ये लोग क्यों पड़ते होंगे? हम कहते हैं कि अुनकी अिन बातोंमें जीवनको स्पर्श करनेवाला थोड़ा भी अंश नहीं होता। यूरोपमें भी जब लोग व्यक्तिवाद और समष्टिवाद, समाजवाद और साम्यवादकी चर्चा करते हैं तब मनमें विचार आता है कि अिन अनेक 'वादों' से क्या लाभ होनेवाला है? मनुष्य जब तक अपने स्वभाव और जीवनमें परिवर्तन न करे तब तक हम कोअी भी 'वाद' (ism) क्यों न चलायें, अन्तमें हम वहीं आ पहुंचेंगे जहां पहले थे। स्वामी विवेकानन्दने कहा था कि जगतका दुःख संधिवात (गठिया रोग) जैसा है। अूपरके लेपसे वह मिटनेवाला नहीं है। सिरसे अुसे निकालो तो वह पैरमें पैठ जाता है। पैरसे अुसे निकालो तो वह कंधेमें घुस जाता है। वह अपना स्थान तो बदलता रहेगा, लेकिन शरीरको नहीं छोड़ेगा। आप यदि व्यक्तिवादको चलायेंगे तो दुनियाको अेक प्रकारका दुःख भोगना पड़ेगा। व्यक्तिवादके स्थान पर यदि आप समष्टिवादको स्वीकार करेंगे, तो पुराने दुःख मिटकर अुनके स्थान पर नये दुःख पैदा हो जायंगे। जकातको टालनेके लिअे रातभर जंगलमें भटकनेके बाद सबेरे गाड़ी जब रास्ते पर आअी तो ठीक जकात-नाकेके सामने ही! जकातके पैसे तो चुकाने ही पड़े, अूपरसे रातभर जंगलमें व्यर्थ भटके सो अलग! यही दशा आजकी दुनियाकी है। आचार्य अेल० पी० जैक्सने ठीक ही कहा है कि आजकी दुनिया संपत्तिको सामाजिक बनाना चाहती है, राज्यसत्ताको सामाजिक बनाना चाहती है, किन्तु मनुष्यको और अुसके स्वभावको सामाजिक बनानेकी बात अुसे नहीं सूझती। जब तक यह नहीं होता तब तक किसी भी 'वाद' की सच्ची स्थापना नहीं होगी; और यदि मनुष्यका चरित्र सुधर गया तब तो किसी भी 'वाद' से हमारा काम चल जायेगा। अिसका अेक सुन्दर अुदाहरण मैं आपके सामने रखता हूं।

शराबकी बुराअीसे सारी दुनिया त्रस्त है। अमेरिकाने कानून बनाकर अिस बुराअीको दूर करनेका प्रयत्न किया। जिन लोगोंने कानून बनानेकी सम्मति दी, अुन्हें स्वयं शराबबंदीकी कोअी परवाह नहीं थी। समाजमें प्रतिष्ठा भोगनेवाले बड़े बड़े स्त्री-पुरुष भी खुले आम कानूनका भंग करनेमें बहादुरी मानने लगे और अेक-दूसरेके सामने अिस बातकी डींग हांकने लगे कि अुन्होंने शराबबंदीका कानून कैसे तोड़ा है। अिसी शराबबंदीका हमारा अितिहास अमेरिकासे भिन्न है। हमारे देशमें बसनेवाली सारी ही जातियोंके दिलमें शराबके लिअे नफरत है। नियमित रूपमें और खुले आम शराब पीनेवाले लोग भी यह स्वीकार करते हैं कि शराब बुरी चीज है। अुससे छूटनेकी शक्ति भले ही अुनके भीतर न हो, लेकिन अिसमें कोअी अुनकी मदद करे तो वे निश्चित रूपसे शराबकी लतसे मुक्त होना चाहते हैं। संपूर्ण राष्ट्रका चरित्र शराबबन्दीके पक्षमें होनेके कारण हमारे

देशमें शराबबन्दीका कानून बनाना आसान साबित हुआ। कुछ आधुनिक वृत्ति-वाले विकृत लोग शराबके पक्षमें दलील करते हैं सही। लेकिन अैसे लोग तो अिनेगिने ही हैं। और अुनमें से कुछ तो यह कहते भी हैं कि हमारी पार्टीकी नीतिके नाते ही हम अैसी दलील करते हैं।

अैसे लोगोंकी बात हम छोड़ दें। मुझे कहना तो यह है कि यदि हम राष्ट्रके चरित्रका विकास कर सकें, तो किसी भी 'वाद'की समाज-रचनामें हम मनुष्य-जातिको सुखी बना सकेंगे!

महावीर जैसे संत पुरुषोंने संसारको यह मार्ग दिखाया है। चरित्र-बल बढ़ाओ, संयम सिद्ध करो, वासनाओंको जीतो, असामाजिक वृत्तियोंका नाश करो और राग-द्वेषमें निहित हीनताको पहचान कर दोनोंको हृदयसे निकाल फेंको, तो हिंसाका मार्ग अपने आप क्षीण हो जायगा। यदि हिंसाको टालना है और अहिंसाकी स्थापना करनी है, तो केवल राज्यतंत्रको बदलनेसे यह ध्येय सिद्ध नहीं होगा; राष्ट्रसंघ रचनेसे यह समस्या हल नहीं होगी। अिसके लिअे तो मनुष्यके स्वभावमें सुधार करना होगा, संयम-रूपी तप करना होगा। यही सच्ची साधना है। कोअी पामर मनुष्य यह कार्य नहीं कर सकता। बाहरी शत्रुसे लड़ना आसान है, किन्तु भीतरके विकारोंका नाश करना कठिन है। अिसके लिअे वीरत्वकी आवश्यकता होती है। महावीरने अपने भीतर अिस शक्तिका विकास किया और दुनियाको अुसे दिखा दिया।

महावीर स्वभावसे ही प्रयोग-वीर थे। अुन्होंने जो अनेक प्रयोग किये थे अुन्हें हम तप कहते हैं। अुस तपका मार्ग सबके लिअे अेकसा नहीं हो सकता। प्रत्येक मनुष्यको अपना प्रयोग करना चाहिये और अपना मार्ग खोज लेना चाहिये। जो मनुष्य प्रयोग-वीर नहीं है वह यदि बिना सोचे-विचारे महावीरके वचनोंके अनु-सार केवल बाह्य जीवन ही जीनेका प्रयत्न करेगा, तो अुसे महावीरकी सिद्धि नहीं मिलेगी। अिसके विपरीत, जो मनुष्य महावीरसे प्रेरणा लेकर और अुनके प्रयोगोंके रहस्यको समझ कर अुनके मुख्य जीवन-सिद्धान्तोंके अनुसार अपना जीवन बनानेके लिअे निजी ढंगका स्वतंत्र प्रयत्न करेगा, वही महावीरकी परम्पराका माना जायगा और भगवान महावीर अुसीको अपना आत्मीय जन समझेंगे।

आज जब संसार अनेक दृष्टियोंसे व्याकुल हो अुठा है तब अिस व्यापक जीवनकी मुख्य अुलझनका हल ढूढ़ना जरूरी हो गया है। अिसके लिअे महा-वीरोंकी आवश्यकता है, प्रयोग-वीरोंकी आवश्यकता है। अैसे लोग अपनी श्रद्धा-को दृढ़ बनानेके लिअे महावीरके जीवनको समझेंगे और स्वयं ही अूंचे अुठनेका प्रयत्न करेंगे। महावीरके स्मरण और चिन्तनसे हम अैसी प्रेरणा प्राप्त करें और अपने व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवनका अुद्धार करें।

३५

जैनेतर*

अेक बार अेक पुस्तक मेरे हाथमें आअी। अुसका नाम था 'जैनेतर दृष्टिसे जैन।' अुसमें मेरे भी दो लेख थे। अनेक बड़े बड़े लोगोंकी पंक्तिमें अपना नाम देखकर मुझे अच्छा तो लगा, लेकिन विशेष शोध तो अुस दिन मैंने यह की कि हम जैनेतर हैं। अुसके पहले मैं अैसा कुछ जानता नहीं था।

'अितर' शब्द बड़े मजेका है। यह शब्द मैंने पहले-पहल सुना था कॉलेजमें पढ़ाये जानेवाले तर्कशास्त्रमें। 'मनुष्येतरः भिन्नः मनुष्यः'—अैसी शास्त्रशुद्ध, तर्कशुद्ध परन्तु ज्ञानमें शून्यकी वृद्धि करनेवाली व्याख्यायें तर्कशास्त्रमें आती थीं। 'जो मनुष्य नहीं है अुससे जो भिन्न है वह मनुष्य है।' अिसलिअे घानीके बैलकी तरह घूम-फिर कर जहांसे चलते वहीं फिर आना होता था। तर्कशास्त्रकी भी कैसी बलिहारी है कि अिस प्रकारकी व्याख्यायें देकर वह ज्ञानमें वृद्धि करना चाहता है!

अिसके बाद 'अितर' शब्द सुननेमें आया मद्रासकी ओरके 'ब्राह्मणेतर' पक्षके नाममें। मैं यह मानता था कि ब्राह्मणेतर लोग हिन्दू तो होंगे ही। अेक बार मैं मदुराके अेक अीसाअी मित्रके घर ठहरा था। मैं अुनका मेहमान था, अिसलिअे घरके सब लोगोंको शाकाहार करना पड़ता था। मैंने अुनसे मजाकमें कहा: 'शाकाहारी बनकर आप कुछ समयके लिअे तो हिन्दू हो ही गये।' लेकिन बादमें पता चला कि वे वास्तवमें 'ब्राह्मणेतर' पक्षके माने जाते हैं! मैंने यह भी देखा कि वहांके ब्राह्मणेतर पक्षका नेता भी दूसरा अेक अीसाअी ही है। जो मनुष्य ब्राह्मण नहीं है वह अीसाअी हो या पारसी, ब्राह्मणेतर क्यों नहीं माना जा सकता? तर्ककी दृष्टिका अुपयोग करके मैंने पूछा: 'यह टेबल ब्राह्मणेतर मानी जायगी या नहीं? यह लालटेन भी ब्राह्मणेतर है न?'

जो लोग हमसे भिन्न हैं अुनके बारेमें कुछ न जानना और अुन सबको अेक ही नामके नीचे लाना, यह मनुष्य-समाजका पुराना रिवाज है। वेदोंमें भी यह दिखाअी देता है। जो आर्य नहीं है वह दास या अनार्य है। अिस प्रकार आर्येतरोंमें आर्योंसे भिन्न संपूर्ण सृष्टि आ सकती है। जो मनुष्य अिस्लामको स्वीकार नहीं करता, वह मुसलमानोंकी दृष्टिमें काफिर है। जो मनुष्य यहूदी नहीं है अुसे यहूदी लोग 'जेन्टाअिल' मानते हैं। 'जेन्टाअिल' सब अपवित्र और अशुचि

---

* पर्युषण-पर्वके अुपलक्षमें अहमदाबादमें आयोजित व्याख्यान-मालामें ता० १२-९-'३१ को दिया गया भाषण।

माने जाते हैं। अीसाअियोंकी दृष्टिमें जो अीसा मसीहकी शरणमें नहीं गया है वह 'हीदन' है; अुसका जीवन ही पापमय है। दक्षिण भारतमें लिंगायत लोग होते हैं। वे मंदिर नहीं बनाते, लेकिन शिवलिंगको गलेमें बांधकर घूमते हैं। जो लोग अुनकी जातिके नहीं होते अुन्हें वे 'भवी' कहते हैं। 'भवी' मोक्षके अधिकारी नहीं होते। वे सब भव-सागरके प्रवाहमें बह जानेवाले हैं। ग्रीक लोगोंमें भी यही वृत्ति पाअी जाती है। जो लोग ग्रीक नहीं हैं वे सब असंस्कारी 'बार्बेरियन' हैं।

अिस सारी मनोरचनाके पीछे अेक प्रकारका समूह-धर्म है। आप समूहके धर्मको मानें, तो आपका अुद्धार होगा। समूहसे बाहरके सब लोग जंगली, गंदे, मैले अथवा विचित्र हैं! अैसा समूह-धर्म यदि 'जन्मसे जाति' के सूत्रको माननेवाले हमारे सनातनियोंमें हो, तो अुसे समझा जा सकता है। यहूदियोंमें भी अुसे समझा जा सकता है। लेकिन जैन धर्ममें वह क्यों होना चाहिये? फिर भी जैनोंको भी अिस समूह-धर्मकी छूत लगी है। महाराष्ट्रके जैन शुरू-शुरूमें तो सनातनियोंकी तरह ही रहते थे। वे गणपतिकी पूजा करते थे और छुआछूत भी पालते थे। शास्त्रके जानकार किसी मुल्लाके मिलने पर जिस प्रकार मुसलमानोंमें धर्मका जोश पैदा हो जाता है, अुसी प्रकार किसी जैन पंडितके मिलने और कहनेसे हमारे यहांके जैनोंने गणपतिका अुत्सव मनाना छोड़ दिया। तभी हमें पता चला कि जैन नामका कोअी स्वतंत्र पंथ है। अुस समय तक हम अितना ही जानते थे कि जो लोग रातमें भोजन नहीं करते और अपने मंदिरमें दूसरोंको जाने नहीं देते वे जैन हैं। यह जैन और जैनेतरका भेद 'जैनेतर दृष्टिसे जैन' नामक पुस्तक मेरे हाथमें आअी अुस समय फिरसे ताजा हो गया।

सामान्यतः धर्म दो प्रकारके होते हैं: सामाजिक धर्म और मोक्षधर्म। सामाजिक धर्ममें अिहलोक और परलोकका विचार तो होता है, किन्तु मोक्षका अितना आग्रह नहीं होता — अुतावली तो होती ही नहीं। सनातनियोंमें केवल संन्यास-धर्ममें ही मोक्षकी अुत्कंठा दिखाअी देती है। बाकी सबको भुक्ति (भोग) भी चाहिये और यथासमय मुक्ति (मोक्ष) भी चाहिये। सनातनी लोग दूसरोंको अपने धर्ममें निमंत्रित नहीं करते, पारसी भी नहीं करते और यहूदी भी नहीं करते। लेकिन जिन लोगोंको मोक्षका, निर्वाणका अथवा कैवल्यका मार्ग मिल गया है, अुन्हें तो सभीको निमंत्रित करना चाहिये। अुनके यहां सबका स्वागत होना ही चाहिये। किसी धर्मकी दीक्षा मिलने पर ही वास्तवमें मनुष्य अुस धर्मका अनुयायी माना जा सकता है। जिस धर्ममें सबका स्वागत होता है, अुसमें अस्पृश्यताके लिअे कोअी स्थान नहीं हो सकता। अिस्लाममें अस्पृश्यता नहीं है। अीसाअियोंमें नहीं है, बौद्धोंमें भी नहीं है। जैनोंमें भी नहीं हो सकती। लेकिन निरीक्षण करनेसे पता चलता है कि सनातन धर्मका असर जैनों पर भी हो गया है। मुसलमानों और अीसाअियोंको भी अिस बुराअीकी छूत लग गअी है।

सिन्धमें अेक मुसलमानसे मेरी बात हो रही थी। अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करनेके लिअे हिन्दुओंके अनेक दोष दिखाकर अंतमें अुसने मुझसे कहा: "मैं तो हिन्दुओंके हाथका पानी भी नहीं पीता।" अुसकी बात चुपचाप सुन लेनेके बाद मैंने कहा: "तब तो हिन्दू धर्मकी विजय ही हुअी न? सनातनियोंमें यह रिवाज है कि वे अपनेसे नीची कक्षाके लोगोंके हाथका पानी नहीं पीते। अिस बातको आप जिस हद तक स्वीकार करें अुस हद तक आप हिन्दू हो गये। मुझे आप नीची कक्षाका आदमी भले कहें, लेकिन यह अूंच-नीचका भेद तो हिन्दू कसौटीसे ही मापा जायगा न? और अेक बार आपने हिन्दू कसौटी स्वीकार की फिर तो अूंचा कौन और नीचा कौन, यह अपने आप सिद्ध हो जायगा।"

मजाककी बातको छोड़कर मैं कहूंगा कि जैनोंको अिस अूंच-नीच-भेद तथा अिस अस्पृश्यताको अपने समाजमें नहीं घुसने देना चाहिये था। मेरी दृष्टिमें तो जो अस्पृश्यतामें विश्वास रखता है वह जातिसे भले ही जैन हो, लेकिन वास्तवमें जैनेतर ही है। मोक्षधर्ममें अस्पृश्यता कैसे हो सकती है? जो मनुष्य अुत्साह-पूर्वक आत्माका विकास करना चाहे, केवल आत्माके कल्याणकी दृष्टिसे ही जीये, वह जैन है। दूसरोंके प्रति जनूनी होनेके बजाय स्वयं अपने प्रति जनूनी होना और तपोमय जीवन व्यतीत करना कितना अुत्तम है! सनातनियोंने अेक आसान रास्ता खोज निकाला है। जो लोग मोक्षके लिअे आतुर हैं, अुन्हींके लिअे अुसने मोक्षधर्म रख छोड़ा है। संन्यास-धर्मकी दीक्षा लेकर यदि कोअी अुसके पालनमें शिथिलता दिखाये, तो सब कोअी अुसे धिक्कारते हैं। मोक्षकी लगन न हो तो कोअी संन्यासी बनेगा ही क्यों? मैं तो मानता हूं कि जिसे मोक्षकी, कैवल्य-पदकी लगन लगी है वही जैन है। बाकीके सब लोग जैनेतर हैं। अुन्हें सनातनी भले ही कह लीजिये। सनातनियोंमें सबके लिअे स्थान है। समूह-धर्मकी कसौटीको सामने रखकर यदि जैन और जैनेतरका भेद हम करें, तब तो जैन धर्म टिक ही नहीं सकता।

अेक बार मैं नागपुरकी ओर रामटेककी पहाड़ी देखने गया था। अुसकी तलहटीमें अेक जैन-मंदिर है। अुस मंदिरके पास धन-दौलत होगी, अतः अुसकी रक्षाके लिअे सिपाही, बन्दूक, तलवार सब कुछ रखा गया था। मैं तो वह सब देखकर दंग रह गया। मैंने पूछा: "क्या यह शाक्त मंदिर है? यहां मैं दुर्गापाठ करूं?" मंदिरके पुजारियोंने मुझसे कहा: "नहीं, नहीं, यह तो जैन मंदिर है।" मेरी बात वे लोग समझे नहीं; और अुनकी बात मैं नहीं समझा। मैं वहांसे लौट आया। मनमें विचार अुठा: जहां धनका संग्रह है और अुसकी रक्षाके लिअे जहां राज्यसत्ताकी सहायता ली जाती है, जहां हिंसाके हथियार खुले तौर पर रखे जाते हैं, वहां जैन धर्म कैसे हो सकता है? आखिर समूह-धर्मने जैन धर्म पर विजय प्राप्त कर ली है। आत्माको भूल जानेके बाद और अनात्माको अूंचा माननेके बाद छोटे-छोटे आचारोंका पालन किया तो भी क्या और न किया तो भी क्या?

आजके दिनका अुपयोग हृदय-शुद्धिके लिअे किया जाना चाहिये। हृदय-शुद्धि तो होगी तब होगी, लेकिन हम विचार-शुद्धि तो कर लें। जो मनुष्य आत्मा और अनात्माका विवेक नहीं करता, जो मनुष्य केवल आत्माको ही पहचानने और अुसकी रक्षा करनेका प्रयत्न नहीं करता, वह धार्मिक नहीं है; जैन तो वह किसी भी हालतमें नहीं है।

अिस्लाममें अेक सिद्धान्तका बड़े जोरोंसे अुपदेश किया गया है। अीश्वर अेक है, अद्वितीय है; अुसके साथ किसी दूसरे मनुष्यको या पदार्थको मिलाया नहीं जा सकता, शरीक नहीं किया जा सकता, यह अिस्लामका अेक महान सिद्धान्त है। अीश्वरके साथ दूसरे किसीको मिलानेके गुनाहको 'शिर्क' कहा जाता है। जो मनुष्य शिर्कका गुनाह करता है, वह मुशरिक है — काफिर है। अिस्लामका यह सिद्धान्त मुझे अच्छा लगता है। हम अपनी परिभाषामें अिस सिद्धान्तका विचार करें। अंतर्यामी परमात्मा ही हमारी शुद्ध आत्मा है। अुसके साथ हम अनात्माको मिला दें, तो यह 'शिर्क' का गुनाह होगा। जो मनुष्य केवल आत्माके प्रति ही सच्चा है, आत्माकी अुन्नतिके लिअे ही जीता है, अनात्माके मोहजालमें नहीं फंसता, वही जैन है। बाकीके सब लोग जैनेतर हैं। अिस शुद्ध विचारकी दृष्टिसे क्या हम सभी जैनेतर नहीं हैं? कौन आत्म-परायण है और कौन नहीं है, यह तो मनुष्यका अपना अंतर ही अुससे कह सकता है। बाहरी जीवनसे तो लगता है कि मैं भी जैनेतर हूं और आप लोग भी जैनेतर हैं। फिर भी यदि अिस समाजमें कोअी जैन हो, तो अुसे मेरे हजार-हजार प्रणा ।

३६

गायके साथ मधुमक्खी

वेदोंमें गायको 'अघ्न्या' कहा गया है। सारे पशुओंसे गायको अलग मानकर वेदकालमें ही यह नियम बना दिया गया था कि 'गायको कभी नहीं मारना चाहिये।' गायका दूध अत्यन्त पौष्टिक, सुपाच्य और निर्दोष आहार है। अुसका दूध मिलनेके बाद ही मनुष्यको मांसाहार कम करनेकी बात सूझी। दूधकी प्राप्ति न हुअी होती तो मांसाहार छोड़ना मनुष्यके लिअे कठिन हो गया होता। गाय-बैलको जंगलसे लाकर मनुष्यने अुन्हें अपने पारिवारिक जीवनमें स्थान दिया। गायने दूध देकर और बैलने हल खींचकर मनुष्यके आहारमें बहुत बड़ी क्रांति कर दी। हलकी मददसे मनुष्यने खेती शुरू की और अनाजका अुत्पादन बढ़ाया। गायको पालकर मनुष्यने अुसे भयमुक्त बनाया और विशेष खुराक खिला-कर अुसका दूध बढ़ाया। अिस प्रकार गाय और बैलने अपनी सेवासे मानवके लिअे आहारके विषयमें अहिंसा-धर्मकी संभावना पैदा की। जंगली गायको गांवका

पशु बनानेके लिअे मनुष्यको हजारों वर्ष तक प्रयत्न करना पड़ा होगा। गाय, बैल, घोड़ा, गधा, अूंट, हाथी — अिन सब पशुओंको मनुष्यने जब 'पालतू' बनाया अुस समय मानव-संस्कृति अेकदम अूंची अुठ गअी।

अब अेक कदम और आगे बढ़ानेका अवसर आया। घासका दूध बनानेका काम गाय करती है। अब घासके फूलोंमें जो बिन्दुमात्र अमृत-रस रहता है और जिसे अेकत्र करके अुपयोगमें लेनेका काम मानवके लिअे असंभव है, अुन सब बिन्दुओंको अेकत्र करके अुनका शहद बनानेका काम मधुमक्खियोंका रहा है। मधुमक्खियोंको मार कर या जला कर अुनके छत्तेको लूटनेका काम मनुष्य-जातिने जीवनके आरंभसे ही किया है। शहद जैसी स्वादिष्ट और सुन्दर वस्तुको मनुष्य कैसे छोड़ सकता है? लेकिन अितनी मेहनत करके शहद लानेवाली मधुमक्खियोंको मार डालना, अुनके अंडों-बच्चोंका नाश करना और शहदके साथ अुनके अंडोंको भी निचोड़ लेना अत्यन्त क्रूर, मूर्खतापूर्ण, गंदा और महंगा काम है। आज भी हमारे देशमें यह प्रथा चालू है। परन्तु अब अुसमें अहिंसक परिवर्तन हो रहा है। मधुमक्खियोंकी अमुक जातिके समूहको पकड़ कर कृत्रिम घरोंमें (छत्तोंमें) रखना, अुनके लिअे आवश्यक खान-पानकी व्यवस्था करना और अुनके लिअे तथा अुनके बच्चोंके लिअे जरूरी शहद रख लेनेके बाद बचा हुआ शहद अपने अुपयोगमें लेना — यह मानव-संस्कृतिका प्रगति-सूचक कदम है। शहद मनुष्यके लिअे अत्यंत रुचिकर, लाभप्रद और सुन्दर आहार है। यदि हम मधुमक्खियोंको पाल सकें तो कहा जायगा कि हमने गोरक्षाके बाद मानव-संस्कृतिके विकास-का अगला कदम अुठाया है। अिन मधुमक्खियोंको पालनेका खर्च बहुत ही कम आता है। अुनके स्वभावको पहचाननेमें आनन्द आता है और अिस धन्धेसे कमाअी तो घीके धन्धेसे भी ज्यादा होती है। गायों और मधुमक्खियोंके पालनका धन्धा अहिंसावादियोंके लिअे केवल लाभकारी ही नहीं परन्तु जीवनमें अहिंसाकी नअी दिशा सूचित करनेवाला और धर्म-परायण बनानेवाला सिद्ध होगा।

शहद अिकट्ठा करनेमें हिंसा होती है, अितना जानकर जैनोंने यह निश्चित कर दिया कि हर तरहका शहद निषिद्ध आहार है। यह निश्चय अुस समयके लिअे ठीक रहा होगा। लेकिन हमें धर्मशास्त्रोंको जीवंत बनाये रखनेकी जरूरतको समझना चाहिये। यदि शहद न खायें तो हम मधुमक्खियोंको मारनेकी हिंसासे बच जाते हैं। लेकिन मनुष्य-जाति मधुमक्खियोंको छोड़नेवाली नहीं है। और यदि मानवतापूर्ण ढंगसे हम मधुमक्खियोंका पालन नहीं करेंगे, तो मधुमक्खियोंकी जंगली ढंगकी हिंसा टलेगी नहीं। अतः जैनोंको अपने शास्त्रोंमें वृद्धि करनी चाहिये। अुन्हें शास्त्रोंमें यह वचन जोड़ देना चाहिये कि न केवल मधुमक्खियोंको पालकर अहिंसक ढंगसे अेकत्र किया हुआ शहद निषिद्ध नहीं है, बल्कि अुसका सेवन करनेमें लाभ है और पुण्य भी है।

अिस धन्धेमें बहुत ही थोड़ी पूंजीसे काम चल सकता है और खूब धन कमाया जा सकता है। यदि जैन लोग अिस धन्धेको स्वीकार करें, तो यह अुनकी धर्मबुद्धि और वाणिज्य-बुद्धि दोनोंके अनुकूल सिद्ध हो सकता है।

अगस्त, १९३९

३७

जैन धर्म और अहिंसा*

धर्मकी अनेक व्याख्यायें की गअी हैं। मेरे विचारसे धर्मकी अुत्तम व्याख्या यह है: 'जीवन-शुद्धि और समृद्धिकी साधना जो दिखाये वह धर्म है।' प्रत्येक धर्ममें आत्मोद्धारके लिअे जो बातें बताअी गअी हैं, अुनके द्वारा ही मनुष्य अपनी अुन्नति कर सकता है। यह साधना दो प्रकारसे होती है। केवल अपना ही विचार करके आत्मशुद्धिसे आत्म-विजय प्राप्त करना और अंतमें मुक्त होना, यह पहली साधना है। दूसरी साधना वह है जिसमें केवल व्यक्तिका विचार न करके समस्त समाजका विचार किया जाता है। सारे व्यक्तियोंको मिलाकर समाज बनता है और वह समाज ही मुख्य माना जाता है। जैसे हम शरीरके अेक अेक अवयवका विचार नहीं करते, परन्तु समग्र शरीरका विचार करते हैं, वैसे ही मुख्यतः विचारणीय प्रश्न यह है कि संगठन बनाकर रहनेवाली मनुष्य-जाति अहिंसाकी साधना कैसे कर सकती है।

मेरी मान्यताके अनुसार अभी तक मनुष्य-जातिकी बाल्यावस्था थी, अिसलिअे केवल व्यक्तिके लिअे मार्ग विचारने और बतानेसे हमारा काम चल जाता था। परन्तु अब जो कार्य हमारे सामने है वह विकट और व्यापक है। अब निश्चित तथा व्यवहार्य सामाजिक साधना बतानेके दिन आये हैं। आजकी साधना केवल आत्मशुद्धिकी नहीं परन्तु समाज-जीवनकी शुद्धिकी साधना है।

प्रत्येक बालकको कभी न कभी अैसा लगता ही है कि कल जो बात मेरी समझमें नहीं आती थी वह आज समझमें आ रही है। मनुष्यको भी अकसर अैसा लगता है कि अमुक महापुरुषके अिस जगतमें आनेके बाद ही अितनी बात हमारी समझमें आयी। प्रत्येक धर्ममें साधनाका मार्ग दिखानेवाले महापुरुष आते हैं। मुसलमानोंका विश्वास है कि अिस्लामके नबी मुहम्मद साहबने जो कुछ कहा वह अंतिम वचन है। सनातनी हिन्दू भी अीश्वरके अमुक संख्याके अवतारोंमें विश्वास करते हैं। जैन भी चौबीस तीर्थंकरोंमें विश्वास करते हैं। जैन लोग मानते हैं कि अंतिम तीर्थंकर महावीर हुअे हैं; अब आगे कोअी तीर्थंकर नहीं होंगे।

* ता० ८-८-'४० को बम्बअीमें हुअी सभामें अध्यक्ष-पदसे दिये गये भाषणका सारभाग।

लेकिन यह दलील मेरे गले नहीं अुतरती। कोअी अेक व्यक्ति चाहे जितना महान हो, फिर भी अुसके साथ धर्मशास्त्र पूर्ण नहीं हो जाता। तब तो माना जायगा कि मनुष्य-जातिकी प्रगतिका अंत हो गया। अिससे तो यही माना जा सकता है कि विश्वकी रचनाको चलानेवाली अगम्य शक्ति या तो तृप्त हो गअी है या निराश हो गअी है। परन्तु वास्तवमें अैसा नहीं है। साधनाका संस्करण और परिष्करण बार-बार होना ही चाहिये। यह कार्य करनेवाले व्यक्ति भी बार-बार आने ही चाहियें। जिस समय चार व्रतोंकी आवश्यकता थी अुस समय चार व्रतोंसे काम चला। लेकिन जब अुनमें परिवर्तन करके व्रतोंकी संख्या पांच करनेकी आवश्यकता हुअी तब अैसा कहनेवाले व्यक्ति निकल आये और चारके पांच व्रत हो गये। अिसी प्रकार समय समय पर मार्गदर्शन करनेवाले महापुरुष निकल ही आते हैं।

अहिंसा अेक सनातन तत्त्व है। अमुक समयके पहले अहिंसा नहीं थी, यह नहीं कहा जा सकता। समय समय पर अहिंसाका प्रचार करनेवाले पुरुष निकल ही आते हैं। मुझे सदा यह लगा है कि अहिंसाकी सच्ची साधना ब्रह्मचर्यमें, संयममें है। जो मनुष्य भोग-विलासमें डूबा रहता है और वैसा करके मरनेके लिअे बच्चे पैदा करता है, वह अहिंसक नहीं है। जीवनमें विलासिता, कामुकता कम हो तो ही सच्ची अहिंसाको जीवनमें अुतारा जा सकता है और समाजमें अुसे फैलाया जा सकता है।

पुण्य दुःखकर है, लेकिन अुसका फल सुखकर है; जब कि पाप बाहरसे अथवा प्रारंभमें सुखकर होता है, लेकिन अुसका फल दुःखकर होता है। अिसलिअे भोग-विलासका सुखकर मालूम होना स्वाभाविक है। मनुष्य जिस हद तक विलासिताका त्याग करता है अुसी हद तक वह अहिंसा-धर्मके निकट पहुंच पाता है। विलासिताको दूर करनेके लिअे अिन्द्रियोंकी वृत्तियोंको जीतना पड़ता है। अिसीको तप कहा जाता है। यह तप ही अहिंसा है। यह साधना व्यक्तिगत और सामुदायिक दोनों प्रकारसे होती है। अुसे बतानेवाले तीर्थंकर समय समय पर आते ही रहने चाहियें। और अिस प्रकार सनातन अहिंसा-धर्मका विकास होना चाहिये।

अपराधके लिअे सजा देना मनुष्य-जातिका बड़ा अपराध है। दूसरोंको सजा देनेवाले हम कौन होते हैं? अपराधके लिअे अपराधीको प्रायश्चित्त करना चाहिये। अपराधके लिअे सजा देकर तो हम हिंसाको घटानेके बदले प्रतिहिंसा करते हैं। सजा देनेसे मनुष्यका सुधार नहीं होता। सजा देकर हम भले ही संतोष अनुभव करें, परन्तु वास्तवमें अुससे हिंसा दुगुनी होती है। अपराध करनेवालेकी हिंसा अप्रतिष्ठित मानी जाती है। जब किसी अपराधीको सजा होती है तो लोग अुस कार्यको अच्छा मानते हैं; अिसलिअे यह प्रतिहिंसा प्रतिष्ठित मानी

जाती है। यह अुलटे मार्गकी साधना है। अितनी बात हम समझ लें, तो अहिंसाका मार्ग हमारी समझमें आ जायगा। भावी तीर्थंकर हमें अवश्य कहेंगे कि अपराधीको सजा देना भी अपराध ही है। क्रोधीके सामने अगर हम क्रोध न करें, तो अंतमें अुसे शांत होना ही पड़ेगा। 'अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति' — तृण-रहित स्थानमें पड़ी हुअी आग अपने आप बुझ जाती है।

आज हम अहिंसाके बाल्यकालमें हैं। अहिंसाके विकासके लिअे बड़े धीरज और अखूट साहसकी जरूरत है। मार्ग लंबा है। समाजमें अहिंसाकी शिक्षाका कार्य करना आवश्यक है। अिसके लिअे अनेक महापुरुष आयेंगे और मार्ग दिखायेंगे।

केवल स्थूल हिंसाका त्याग पर्याप्त नहीं होगा। जहां धनके ढेर जमा हो गये हैं वहां अुनकी नींवमें शोषणका पाप है — हिंसा है। अमेरिकामें क्वेकर संप्रदायके लोग अहिंसक हैं और धनी भी हैं। भारतमें जैन लोग अहिंसक होनेका सकारण दावा करते हैं, फिर भी वे धनाढ्य हैं। द्रोहके बिना धन नहीं मिलता। अिसलिअे मेरी समझमें नहीं आता कि अहिंसा और धनका मेल कैसे बैठ सकता है। आप चींटियोंके दरके सामने आटा डालें, रात्रि-भोजन न करें, आलू न खायें — यह सब तो अच्छा है। परन्तु यह आरंभकी क्रिया है। हमें तो अहिंसा-धर्ममें आगे बढ़ना है। जगतमें जब युद्ध चल रहा हो तब हम शांत कैसे बैठ सकते हैं? हमें अुसे रोकनेका मार्ग खोजना चाहिये। हमारे विचारोंमें परिवर्तनकी आवश्यकता है। कअी लोग कहते हैं कि युद्ध तो यूरोपमें लड़ा जा रहा है; हमारे देशमें तो गांधीजीके प्रतापसे सब ठीक चल रहा है। लेकिन मैं कहता हूं कि हमारे देशमें प्रत्येक प्रान्तमें भीतर ही भीतर फूट फैली हुअी है, हर जगह अविश्वास फैला हुआ है। ये सब हिंसाके ही प्रतीक हैं। यूरोपके पास अस्त्र-शस्त्र हैं, अिसलिअे वहांके लोग युद्ध करते हैं। हम अेक-दूसरेके पैर खींचकर अेक-दूसरेको नीचे गिराते हैं। वृत्तिसे तो दोनों अेकसे ही हैं। वहां समर्थोंकी शस्त्राधारी हिंसा चलती है, यहां असमर्थोंकी अविश्वास, द्वेष, निंद्रा और द्रोह-मूलक हिंसा।

अदालतमें जानेके बदले पंचके द्वारा अन्याय दूर कराना और अन्याय करनेवालेको अपना बनाकर अुसकी शुद्धिका प्रयत्न करना — अिस प्रकारकी अहिंसक साधनाका विकास विचारपूर्वक अभी तक हमने नहीं किया है।

सरकारी अन्यायके विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह करनेके बजाय सत्याग्रह करनेकी अहिंसक साधना हमारे जमानेमें गांधीजीने ही बताअी है। राज्यके विरुद्ध किये जानेवाले पुराने 'त्रागा' (धरना) या अैसे ही दूसरे विद्रोहमें अहिंसा नहीं थी। शायद अैसा कहा जा सकता है कि अुसमें अहिंसक पद्धतिके बीज थे।

राष्ट्रोंके बीच जो युद्ध लड़े जाते हैं अुनके बजाय चढ़ाअी करनेवाले शत्रुका अहिंसक पद्धतिसे प्रतिकार कैसे किया जाय, यह सोचने या सुझानेका मौका गांधीजीको भी नहीं मिला है।

अमेरिकामें या अफ्रीकामें गोरे लोग काले लोगों पर जो जुल्म ढाते हैं, अुन्हें दूर करनेका अहिंसक मार्ग दिखानेकी जिम्मेदारी अहिंसाके अुपासकों और आचार्योंकी है। परंतु आज तो ये लोग शास्त्र-वचनोंकी व्याख्या करनेमें और परम्परागत मार्गसे अपने तप या प्रतिष्ठाको बढ़ानेमें ही मशगूल हैं।

आज दुनियामें बड़ीसे बड़ी हिंसा शोषणकी चल रही है। दूसरोंकी कठिन परिस्थितियोंका लाभ अुठाकर अुनकी सेवाओंका दुरुपयोग करना और अुन पर अनुचित अत्याचार करना अर्थात् अुनके जीवनका शोषण करना बहुत बड़ी हिंसा है। अिस तरहकी हिंसा परिवारोंमें भी चलती है। जमींदार और काश्तकार, खेतमें काम करनेवाले मजदूरोंके मालिक और खेतीहर मजदूर, कारखानेदार और कारखानेके मजदूर, अुच्च वर्गोंके लोग और श्रमजीवी लोग — अिन सबके सम्बन्धोंमें शोषणकी, दबावकी और जुल्मोंकी हिंसा सतत चला ही करती है। साहूकार मनमाना ब्याज लेकर कर्जदारको चूसता है, यह भी हिंसा ही है।

जैन समाज तथा जैन साधुओं और आचार्योंको यह सोचना चाहिये कि अिस सारी हिंसाका सामना कैसे किया जाय और अिस दृष्टिसे समाज-जीवनका परिवर्तन करनेके लिअे कौनसे कदम अुठाये जाने चाहिये।

जब हमारा समाज धर्मप्राण था अुस समय हमारे धर्माचार्य तत्कालीन विज्ञानकी मददसे साहसपूर्वक जीवन-परिवर्तन करनेमें हिचकिचाते नहीं थे और समाजकी पुरानी रूढ़ियोंका विरोध करनेमें भी डरते नहीं थे।

शरीर-शुद्धिके लिअे पंचगव्यमें गोमूत्रका भी प्राशन करनेकी प्रथाके पीछे वैज्ञानिक साहस स्पष्ट दिखाओ देता है। पानीमें सूक्ष्म कीटाणु होते हैं अिसलिअे पानीको गरम करने और अुसे तुरन्त ठंडा करनेकी जो प्रथा जैनोंने चलाओ, अुसमें आजके डॉक्टरी आग्रहोंसे कम हिम्मत नहीं थी। जैन साधुओंका केश-लुंचन तथा मुख पर बांधी जानेवाली 'मुहपत्ती' भी सामाजिक शिष्टाचारकी परवाह न करके अेक प्रकारके विज्ञानसे चिपटे रहनेकी हिम्मतका ही प्रतीक है। बहुबीज वनस्पति न खाना, रात्रि-भोजन न करना अित्यादि सुधारोंका प्रचार जिन आचार्यों और साधुओंने किया, वे आजके जमानेमें विज्ञानका अनुसरण करके यदि चिन्तन करें और नये आचारका प्रचार करें, तो कोओ यह नहीं कह सकेगा कि आजके जैन आचार्य धर्म-परायण न रहकर रूढ़ि-परायण हो गये हैं और आजके जैन साधु अंध-परम्पराओंका निष्प्राण जीवन जीते हैं।

जो चीज बुरी मानी जाती है वह कितनी ही सुखकर, प्रिय अथवा प्रतिष्ठित क्यों न हो, तो भी अुसका त्याग करनेके लिअे तैयार होना और अद्यतन विज्ञान तथा धर्मज्ञान आज जो नओ दृष्टि प्रदान करें अुसका अनुसरण करनेके लिअे तैयार होना जीवंत और प्राणवान रहनेका लक्षण है। जो व्यक्ति जीवन पर विजय प्राप्त करता है वह जिनेश्वर है। अब अैसे अनेक जिनेश्वर अुत्पन्न

होने चाहिये। अुनके आनेकी हम तैयारी करें और अुनके स्वागतके लिअे लोक-मानस तैयार करें।

३८

राजचन्द्र-जयन्ती *

१

आज हम अेक ज्ञानी और तपस्वी पुरुषकी जयंती मनानेके लिअे यहां अेकत्र हुअे हैं। श्रीमद् राजचन्द्रका समय हमारा ही समय है। वे यदि जीवित रहते तो आज ६४ वर्षके होते। मनुष्यकी सामान्य आयुका विचार करें तो जिन्हें आज प्रत्यक्ष जीवित देखनेका हमारा अधिकार था अुनकी मृत्युको ३३ वर्ष हो जानेका अुल्लेख हमें करना पड़ रहा है, यह हमारे देशकी अर्थात् हमारी जनताकी दुर्गतिका सूचक है। सौ वर्षकी आयु मांगनेवाले हमारे पूर्वजोंने यह भी पहलेसे कह दिया है: 'अतिदीर्घे जीविते को रमेत?' बहुत लम्बे जीवनमें क्या स्वाद है? 'मुहूर्तं ज्वलितं श्रेयः न च धूमायितं चिरम्।' घड़ी भर ज्योति जलाकर बुझ जाना अच्छा है; वर्षों तक धुंधुवाते रहना अच्छा नहीं। किन्तु यह तो केवल आश्वासन-की बात है। संपूर्ण पुरुष १०० वर्ष तक क्यों न जियें? श्री रामचन्द्र और श्रीकृष्ण, महावीर और बुद्ध कम नहीं जिये थे; परन्तु हमारे भाग्यमें तो शंकरा-चार्य अथवा ज्ञानेश्वर जैसे ३०–३५ वर्षके भीतर ही अपनी जीवन-लीला समाप्त करनेवाले धार्मिक पुरुषोंकी संख्या आअी है। स्वामी विवेकानंद चालीस वर्ष भी पूरे न कर सके।

आजके दिन राजचन्द्रके विषयमें बोलनेका अधिकार अुन्हीं लोगोंका है, जिन्होंने श्रीमद् राजचन्द्रको स्वयं देखा हो, अुनसे बोध प्राप्त किया हो तथा अुनके तपस्वी जीवनसे प्रेरणा ग्रहण की हो। और, अैसे लोग बहुत हैं। लेकिन श्री पूंजा-भाअीने राजचन्द्र-जयंतीका भार आज मेरे सिर पर डाल दिया है। अुनके अिस आग्रहका मैं अनुग्रहके रूपमें स्वागत करता हूं। राजचन्द्र कविको मैंने देखा नहीं था। वे जीवित थे अुस समय मैंने गुजरातका दर्शन भी नहीं किया था। अुनके संपर्कमें मैं आता तो अुनके प्रति आकर्षित होता या नहीं, अिस बारेमें भी मुझे संदेह है। अुस समय तो मेरे मनमें अिस शंकाका अुदय हो रहा था कि धर्म, नीति, सदाचार आदिकी गूढ़ कल्पनाओंका किस हद तक पालन करना चाहिये।

---

* ता० १५–९–'३१ को श्रीमद् राजचन्द्र-जयंतीके अवसर पर अध्यक्ष-पदसे दिया गया भाषण।

अनुभवके बिना प्रचलित बातोंको स्वीकार करनेके लिअे मेरा मन तैयार नहीं होता था। अुस समय मनमें अिस प्रकारकी वृत्ति स्फुरित होती थी कि हर बातकी स्वयं जांच करनी चाहिये, अनुभवसे हर बातकी छानबीन करनी चाहिये और अुलटे रास्ते जानेकी भी हिम्मत करनी चाहिये। सबसे पहले मैंने श्रीमद् राजचन्द्र-के विषयमें गांधीजीके मुंहसे सुना था। १९१६ के अरसेमें आश्रमकी प्रार्थनामें श्रीमद् राजचन्द्रके वचन पढ़े जाते थे। गांधीजी अुनका अर्थ करके हमें समझाते थे। मूल गुजराती मैं समझता नहीं था, अुसमें भी कविकी भाषा जैन पारिभाषिक शब्दोंसे भरी होती थी; अिसलिअे गांधीजी अपने विवेचनमें जितना कहते थे अुतना ही समझमें आता था। गांधीजी जिस पुरुषको महापुरुष मानते हैं, रस्किन और टॉल्स्टॉयसे भी बड़ा समझते हैं, अुस पुरुषकी विभूति असाधारण होनी चाहिये, यह सोचकर मैंने श्रीमद् राजचन्द्रके पद्य और पत्र पढ़ना शुरू किया। पद्योंमें तो मेरा चंचु-प्रवेश भी नहीं हो सका। बीच-बीचमें कोअी रत्न जैसा सुभाषित हाथ लग जाता, तो मनको आनंद होता था। अुनके पत्र ही मुझे विशेष आकर्षक लगे। पत्र-साहित्य सदा ही आकर्षक लगता है, क्योंकि वह व्यक्तिगत संभाषण जैसा पवित्र होता है, अुसमें अेक हृदय दूसरे हृदयसे बातें करता है। और जब कोअी अुन्नत हृदय मोक्षार्थी होकर सच्चे लोक-कल्याणकी भावनासे **'हित-काम्यया'** अन्य हृदयोंके साथ बातें करता है, तब तो अिन पत्रोंमें आध्यात्मिक भाव अितने स्वाभाविक रूपमें खिलता है कि कभी कभी ये पत्र दीक्षाकी गरज पूरी करते हैं।

राजचन्द्र-जयंती पर गांधीजीने जो अुद्‌गार प्रकट किये थे, वे स्वाभाविक थे। अुन्हें मैंने अनेक बार पढ़ा है और अुनका मनन भी किया है। लेकिन राज-चन्द्रके भक्त जब हर जगह अिन अुद्‌गारोंको अिस तरह अुद्धृत करते हैं, मानो वे राजचन्द्रको गांधीजी द्वारा दिये गये प्रमाण-पत्र हों, तब मुझे जरा विचित्र लगता है। अुपनिषदोंके विषयमें शोपेनहारके अुद्‌गार और शाकुंतलके विषयमें जर्मन कवि गेटेके अुद्‌गार जग-विख्यात हैं। परन्तु हर अवसर पर जब अुन्हें अचूक रूपमें अुद्धृत किया जाता है, तो अुनका अलग ही असर होता है।

रस्किन और टॉल्स्टॉय आध्यात्मिक वृत्तिके पुरुष थे। आज लोग अुनका आदर करते हैं अुनके साहित्यके कारण। परन्तु यह साहित्य अुनके अुदात्त जीवनसे अुत्पन्न हुआ था। राजचन्द्रके प्रति गांधीजीकी जो भक्ति है, वह राजचन्द्रके साहित्यकी अपेक्षा अुनके पारमार्थिक जीवनके प्रति अधिक होनी चाहिये। रस्किनकी जीवन-साधनाके बारेमें अधिक कुछ कहने जैसा है ही नहीं। टॉल्स्टॉयकी जीवन-साधना अवश्य ही आकर्षक है, परन्तु अुसमें जहां तहां दुर्बलता और शायद धर्म-अधर्मके निर्णयके बारेमें अुलझन भी दिखाअी पड़ती है। धर्म-विचिकित्सा तथा वृत्ति-विचिकित्साका निर्णय करते समय वे परेशानी

महसूस करते हैं। राजचन्द्र अपनी जीवन-साधनामें तेजीसे आगे बढ़ते दिखाअी देते हैं। जितना कुछ जानें अुतनेको जीवनमें अुतारनेका आग्रह — यह भारतवर्षके सच्चे जीवनकी कसौटी है। अिस कसौटीको ध्यानमें रखकर ही अेक बार स्वामी अभेदानन्दने कहा था कि अमेरिकामें अेक ही अेमर्सन पैदा हुआ, लेकिन भारतमें तो दस-दस कोस पर अेक अेक अेमर्सन बैठा है।

धार्मिक जीवनके अितिहासकी जांच करनेसे हमें पता चलता है कि कुछ विशेष लोग ही अनुभव-परायण होते हैं, आम जनता तो श्रुति-परायण ही रहती है। शास्त्रोंने लिखा है, पूर्वजोंने माना है, बुजुर्ग कहते आये हैं, अिसी कारणसे अमुक मान्यतायें मंजूर रखना, अमुक रिवाज पालना और अमुक समुदायमें रहना मानवके लिअे आसान और स्वाभाविक होता है। साधना, साक्षात्कार और मोक्ष चाहे जितने सामान्य और रोचक शब्द हों, परन्तु वे साधारण मानवके लिअे नहीं होते। जो लोग शास्त्रोंको स्वीकार करते हैं वे और आजकल जो लोग शास्त्रोंको स्वीकार नहीं करते वे भी अधिकतर रूढ़िग्रस्त ही होते हैं। जो लोग शास्त्रोंको स्वीकार करते हैं वे परम्पराकी वजहसे अुन्हें स्वीकार करते हैं; और जो लोग शास्त्रोंसे अिनकार करते हैं वे अधिकतर अेक नअी फैशन तथा बौद्धिक सहूलियत अथवा सरलताको देखकर अैसा करते हैं। अिन दोनोंका जीवन बिलकुल छिछला तो नहीं होता, परन्तु अिन्हें प्रयोग-वीर नहीं कहा जा सकता। शास्त्रोंमें मूल महत्त्वकी जो बातें लिखी हैं अुनका प्रयोग और अनुभव किये बिना रहा ही नहीं जा सकता, अिस तरहका आग्रह रखनेवाले जो थोड़ेसे लोग होते हैं वे ही वास्तवमें धर्मके विषयमें जीवंत कहे जायंगे।

श्रीमद् राजचन्द्र अिसी कोटिके पुरुष माने जायंगे। अुनकी रचनाओंसे स्पष्ट होता है कि अुनमें बचपनसे ही धार्मिक जीवन जीनेका आग्रह था, अुनका मनोमन्थन सतत चला ही करता था। अुनका यह विश्वास था कि अेक प्रयोग-वीरके नाते अपने प्रयोगोंकी रिपोर्ट समय समय पर अपने मित्रोंको तथा सह-धर्मियोंको देनेके लिअे वे बंधे हुअे हैं। अिसलिअे राजचन्द्रके पत्रोंमें अनेक बार अुनके सम्बन्धमें अुल्लेख आता है।

अध्यात्मशास्त्रके अनुभव विविध प्रकारके होते हैं और बहुत बार वे अेकांगी भी होते हैं। शुद्ध भावसे अपने हृदयकी जांच करनेसे मनुष्यको अपने दोषों और विकारोंका पता चल जाता है; अिसलिअे जब अिस जांचके फलस्वरूप अुसे मालूम होता है कि साधनाके अनुपातमें अुसकी प्रगति नहीं हुअी है, तो वह अपनी अयोग्यताको पूरी तरह स्वीकार कर लेता है। दूसरी ओर, जहां विकारोंके खिलाफ महान संघर्ष अनिवार्य होनेका भय रहता है वहां अुन्हें आसानीसे पार कर लेने पर मनुष्यको स्वाभाविक रूपमें अैसा लगता है कि मैं मंजिलके नजदीक

पहुंच गया हूं। जो मनुष्य अखंड साधना करनेवाला है, अुसे आत्माका सतत भान रहना ही चाहिये।

आत्माका भान भौतिक विज्ञानकी जानकारीकी तरह तटस्थ नहीं रह सकता। अुसका सारे जीवन पर प्रभाव पड़ता है। आत्माका भान ही हमारा यथार्थ जीवन है। अुसकी सतत तथा अखण्ड जागृति अेक अलौकिक रसायन (कीमिया) है। जिस मनुष्यमें आत्माका भान जाग्रत है, विद्यमान है, अुसमें जीवनका नियंत्रण देखते ही देखते बढ़ जाना चाहिये। निश्चयकी शांति तो अुसे सदा मिलनी ही चाहिये। अैसे जीवनकी आत्म-स्वीकृतियां अध्यात्मशास्त्रका आधार होती हैं। अध्यात्मशास्त्रीके व्यापक सिद्धान्त अैसी प्रामाणिक आत्म-स्वीकृतियोंके आधार पर ही बनाये हुअे होते हैं। शास्त्रोंका अर्थ करनेकी अंतिम कुंजी ये आत्म-स्वीकृतियां ही होती हैं। धर्मकी जागृति अंतमें अैसे धार्मिक पुरुषों द्वारा किये जानेवाले जीवन-प्रयोगों पर ही निर्भर करती है।

जिस प्रकार कोअी जौहरी अपनी सधी हुअी आंखोंसे हाथके कीमती हीरेके सारे पहलुओंका निरीक्षण-परीक्षण करता है, अुसी प्रकार ध्यानवीर और प्रयोग-वीर मनुष्य जीवनके सारे पहलुओंको प्रत्यक्ष जीवनमें अथवा 'scientific imagination'—वैज्ञानिक कल्पनामें अर्थात् ध्यानमें देखता है, अुनकी कसौटी करता है और अुनका मूल्य आंकता है। जीवनके विस्तार और गहराअीका अुसका दर्शन जितना अधिक होगा अुतना ही अुसका ध्यान, निरीक्षण और परीक्षण अचूक होगा। कवि राजचन्द्रकी रचनाओंमें आरंभसे ही जीवनके अनेक पहलुओं पर नजर डालनेकी जौहरी-वृत्ति दिखाअी देती है। आगे चलकर अुनकी दृष्टि अधिकाधिक अेकाग्र बनी हुअी मालूम होती है और तबसे सार्वत्रिक सिद्धान्त प्रतिपादित करनेकी ओर अुनकी रुचि अधिक दिखाअी देती है। मनुष्यको जब समग्र जीवनकी कुंजी मिल जाती है तब वह अपने आनंदमें अेक ही बातको बार-बार अनेक प्रकारसे कहता रहता है। यह प्रभाव भी हम कविकी रचनाओंमें देखते हैं। अिसीलिअे राजचन्द्रका कविपद विशाल अर्थमें सार्थक होता है। कविका अर्थ है अनुभवी; कविका अर्थ है विजयी; कविका अर्थ है क्रान्तदर्शी; कविका अर्थ है वह व्यक्ति जिसे जीवनके सारे महत्त्वपूर्ण प्रश्नोंका हल मिल गया है।

जिन लोगोंकी दर्शनशास्त्रमें अभिरुचि नहीं है, फिलॉसफीके प्रति जिनकी अरुचि है, वे शायद लंबे समय तक श्रीमद् राजचन्द्रकी रचनाओंका आनंद नहीं ले सकेंगे। परन्तु राजचन्द्रकी पारमार्थिकता, जीवनके तत्त्वोंको खोजनेकी अेकाग्रता और जीवनके सत्यको सरल बनानेका आग्रह—ये तीन बातें अुन्हें आकर्षित किये बिना नहीं रहेंगी।

२

मानव-जीवनका अर्थ है श्रेय और प्रेयके बीच होनेवाला संग्राम। सामान्य मनुष्यको जो जो वस्तुअें प्रिय लगती हैं, जो जो वस्तुअें आकृष्ट करती हैं और अिसीलिअे जो वस्तुअें अुसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लगती हैं, वे जीवनकी दृष्टिसे वास्तवमें कीमती नहीं होतीं। आज यूरोप और अमेरिकामें असे कितने ही लोग हैं, जो विषय-सेवनको और अहंकारकी तृप्तिको जीवनकी सार्थकता या जीवनका साक्षात्कार (expression of life) मानते हैं। वे अीमानदारीसे यह विश्वास करते हैं और कहते हैं कि अिसके आगे कुछ है ही नहीं। परन्तु वे समझते नहीं कि जीवनकी कृतार्थताके अंतमें अुन्हें जो परम शांति मिलनी चाहिये, गंतव्य स्थान पर पहुंचनेका जो संतोष मिलना चाहिये, वह अुन्हें नहीं मिलता।

हमारे देशमें जीवन-विषयक कल्पना अिन्द्रिय-तृप्तिकी अपेक्षा कुछ अधिक है। अिन्द्रिय-तृप्ति द्वारा अथवा अिन्द्रिय-निग्रह द्वारा आत्माको पहचानना, चैतन्यका विकास करना और अंतमें अिन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना यही हमारे देशके समस्त संप्रदायोंका अुद्देश्य है। कुछ लोग अिन्द्रियोंके साथ समझौता करनेकी बात सुझाते हैं; कुछ लोग यह मानते हैं कि अिन्द्रियों पर हमें विश्वास रखना चाहिये, स्वाभाविक परिस्थितियोंमें वे स्वयं ही हमें आत्मिक विकासकी दिशामें ले जायंगी। कुछ लोग अिन्द्रियोंके साथ कामचलाअू समझौता करनेकी बात सुझाते हैं, जब कि कुछ आत्मवीर निश्चयके साथ यह कहते हैं कि अिन्द्रियोंके साथ कोअी समझौता किया ही नहीं जा सकता। 'अिन्द्रियां बिफर कर विकृति अुत्पन्न न करें' अितनी सावधानी रखकर अिन्द्रियोंके साथ सतत जीवन-युद्ध करना ही पुरुषार्थका मार्ग है। आत्मा और अनात्मा, जड़ और चेतन अेक-दूसरेसे अितने भिन्न हैं और अितने परस्पर विरोधी हैं कि अेकका विकास दूसरेका निश्चित विनाश है। अिसलिअे किसी प्रकारकी दया बताये बिना अिन्द्रियोंको अंकुशमें लाना ही चाहिये। अेक भी अिन्द्रिय शिथिल हुअी तो आत्मशक्ति अुसमें से वैसे ही निकल जायगी जैसे छेदवाली पखालमें से पानी निकल जाता है।

जीवनकी सार्थकता आत्माको पहचाननेमें, जीवनका सर्वांगीण विकास साधनेमें और सर्वत्र आत्माका ही साम्राज्य स्थापित करनेमें है। देहधर्मके नाम पर, जीवनके साक्षात्कारके नाम पर, कला-रसिकताके नाम पर अथवा आत्मदेवकी पूजाके नाम पर हम जो भी अिन्द्रिय-भोग करते हैं, वह हमें मोक्षकी ओर ले जानेवाला नहीं बल्कि अधःपतनकी ओर ले जानेवाला होता है। अिसलिअे किसी भी कारणसे, किसी भी बहानेसे, हमें अिन्द्रियोंके मोहमें नहीं फंसना चाहिये। यही सावधानता है; यही अुद्धारका अेकमात्र मार्ग है। कवि राजचन्द्रका अिस सिद्धान्तमें दृढ़ विश्वास था। अिसलिअे अुन्होंने अपना संपूर्ण जीवन अिसी मार्गमें निचो डाला, अैसा कहा जा सकता है।

आत्म-संयमके साथ अहिंसा — यह भी कवि राजचन्द्रके अचल विश्वासका अेक विषय था। अहिंसाका अर्थ कितना व्यापक है, यह गांधीजीने हमें बताया है। अब यह बात भी हमारी समझमें आती है कि ब्रह्मचर्यमें भी अहिंसा ही समाअी हुअी है। यह अहिंसा कायरका धर्म नहीं परन्तु शूर-वीरका धर्म है, यह समझनेकी बड़ी आवश्यकता है। प्रत्येक फिलॉसफीके दो परस्पर विरोधी अुपयोग होते हैं। 'यह दुनिया फानी है, जगत नश्वर है, हमारे साथ कुछ भी आनेवाला नहीं है' — यह सनातन सत्य विराट्से विराट् अनुभव पर रचा हुआ है। अिस सत्यका आधार लेकर अेक मनुष्य कह सकता है कि 'तब तो अिस नश्वर जगतमें स्वराज्य और स्वातंत्र्य सब व्यर्थ है। देश और देशकी दौलत, सगे-सम्बन्धी और अुनका सुख-संतोष सभी कुछ फानी है। जो जानेवाला है और अिसलिअे जिसकी कीमत कौड़ीकी भी नहीं है, अुसके लिअे लड़नेमें, आध्यात्मिक साधनाके लिअे अुपयोगी शरीरको खतरेमें डालनेमें और अिस देशकी दौलत पर लोभकी नजर डालकर अुसे अपने अधिकारमें रखनेवाले पामर लोगोंको दुःखी करनेमें क्या लाभ है?' दूसरा मनुष्य दुनियाके फानी होनेकी दलीलको ही सामने रखकर मनमें सोचेगा: 'धन-दौलत और जमीन-जायदाद तो क्या, हमारा यह प्यारा शरीर भी फानी है। तब अिज्जतके लिअे, अैहिक मोक्षके लिअे लड़नेका, शरीरका बलिदान करनेका, परम अहिंसा-धर्म हम क्यों चूकें? शरीरको हम बचायेंगे भी तो आखिर वह कहां तक टिकेगा? बाल-बच्चोंके लिअे धन-दौलत रखकर हम अुनका कौनसा कल्याण करेंगे? गरीब समझें या न समझें, अुनके अज्ञानका या अुनकी विषम स्थितिका लाभ अुठानेमें स्पष्ट और भयानक हिंसा है। अिसके बजाय गरीबोंको सुखी करनेके लिअे, अुनके हृदयकी जलनको दूर करके अुन्हें आत्मिक संतोष देनेके लिअे हम श्रमका जीवन क्यों न पसन्द करें? और देशका स्वातंत्र्य — सामाजिक मोक्षकी पहली मंजिल — सिद्ध करनेमें यदि अिस फानी शरीरका अुपयोग हो, तो अनित्य द्रव्यसे नित्य वस्तु प्राप्त करनेका परम लाभ होगा। यह लाभ अहिंसा-धर्मका अुत्तम फल है।

'अिस फलकी सिद्धिके लिअे हम श्रीमद् राजचन्द्रकी निष्ठासे सतत प्रयत्न करें।'

जीवन-व्यवस्था

तीसरा खण्ड

आस्तिक्य

३९

औश्वरकी कृपा

[अेक प्रवचन]

'दीनन दुखहरन देव, संतन हितकारी।'

औश्वरके नाम अनंत हैं; परन्तु औश्वरको यदि अुनमें सबसे प्रिय कोओी नाम हो, तो वह 'दीनन दुखहरन' ही होगा, 'संतन हितकारी' ही होगा। दीन जनोंका दुःख दूर करनेमें ही परमात्माको आनंद होता है। जिस प्रकार माताको अपने बालकोंकी सेवामें सारा समय बितानेमें, अुनकी सेवामें स्वयंको भूल जानेमें ही आनन्द आता है, अुसी प्रकार परमात्मा सदा संतोंके हितमें लगे रहनेमें ही प्रसन्नता अनुभव करता होगा।

परमात्माके अिस स्वभावको किसने देखा? अेक अंधे साधुने। दुनियाके प्रति जो अंधा हो वही न अैसी दिव्य वस्तुको देख सकता है! दुनियावी दृष्टि खोये बिना अैसी दिव्य दृष्टि आ ही नहीं सकती। व्यावहारिक दृष्टि खोये बिना पारमार्थिक दृष्टि खिल ही नहीं सकती। दिनमें अेक सूर्य अुगता है। अुसके आधार पर हमारा संपूर्ण व्यवहार चलता है। परन्तु अुसी कारणसे असंख्य तारे और नक्षत्र हमारे लिअे लुप्त हो जाते हैं। व्यवहारका यह सूर्य डूबता है तभी अनेक तारे और अनेक सूर्य दिखाओी देने लगते हैं — अुसी समय हमें सृष्टिके अनंत विस्तारका थोड़ा भान होता है और अुसके रहस्यका कुछ ज्ञान होता है।

व्यवहार कहता है: 'स्वार्थमें और अुसके लिअे चलाये जानेवाले कलहमें ही जीवनकी सफलता है। जिसने स्वार्थको छोड़ दिया अुसे डूबा हुआ ही समझो, रसातलको गया हुआ ही समझो।' अनुभवका प्रकाश भी अिसका साक्षी बनकर कहता है: 'हां, अैसा ही है। हमेशा अैसा ही होता देखा गया है। अिस सफल व्यवहार तथा अुसके ठोस अनुभवके बारेमें जो अंधा बन गया, वही यह कह सकता है कि औश्वर परोपकारी संतोंका पक्षपाती है, दीन जन ही अुसे प्रिय हैं। औश्वरकी कृपा अुन्हींके लिअे है।'

परन्तु औश्वरकी यह कृपा किसीको मुफ्त नहीं मिलती। औश्वर कोओी खैरात बांटनेवाला दानशूर सेठ नहीं है। याचककी कठिनाओी दूर करके अुसे भिखारी बनाना, अुसकी आत्मामें ग्लानि पैदा करना — औश्वरका ढंग नहीं है। औश्वर तो कर्माध्यक्ष है। थोड़ा भी सत्कर्म यदि मनुष्य करे, तो भी औश्वर अुसे फल देता है। तपश्चर्याकी थोड़ी-बहुत परीक्षा किये बिना वह पसीजता ही नहीं। संकटके समय भी वह शाक-सब्जीका अेक पत्ता ही मांगनेके लिअे हमारे

द्वार पर खड़ा रहता है। और कर्मका नियम अैसा है कि थोड़ा भी शुभ कर्म करनेसे अुसका विशाल फल मिलता है। अिसमें आश्चर्यकी कोअी बात नहीं।

हम सदा पापको मानते आये हैं, पापका विस्तार ही देखना सीखे हैं; परन्तु सच पूछा जाय तो जो पाप असत्य-रूप है — मायारूप है, अुसकी शक्ति कितनी हो सकती है? पुण्य ही बलवान है। पुण्य ही वीर्यवान है। प्रकाशकी अेक किरण जैसे घने अंधकारको चीर देती है वैसे पुण्य — शुभ कर्म — कर्म-राशिको चीर कर सात्विकताका अुदय कराता है।

यही बात कविने कही है कि अीश्वर 'संतन हितकारी' है, 'दीनन दुख-हरन' है। जो मनुष्य दुनियाकी दृष्टिसे अंधा है, वही अिसे समझ सकता है; जो मनुष्य दुनियाकी दृष्टिसे अंधा है, वही दुनियाको रास्ता बता सकता है।

फरवरी, १९२६

४०

आस्तिक कौन है?

जो कहता है कि 'है' वह आस्तिक है। जो कहता है कि 'नहीं है' वह नास्तिक है। आस्तिक और नास्तिककी यही सरल व्याख्या है। लेकिन किस चीजके अस्तित्व या नास्तित्वका प्रश्न है, यह हमें निश्चित करना होगा। धर्मशास्त्रके शब्दार्थ पर जो विश्वास रखता है वह आस्तिक है। 'धर्मशास्त्रके वचन मनुष्यके नहीं हैं किन्तु अीश्वरके कंठसे निकले हैं, अैसा जो कबूल करता है वही आस्तिक है' — अिस तरहकी व्याख्या करनेके दिन अब नहीं रहे हैं।

'अीश्वरके अस्तित्वको जो मानता है वह आस्तिक है। अीश्वर नहीं है अैसी जिसकी श्रद्धा है वह नास्तिक है' — अैसी व्याख्या आजकल की जाती है।

श्रद्धासे ही अीश्वरका अस्तित्व माना जाता है। अीश्वर नहीं है अैसा विश्वासपूर्वक कहनेके लिअे भी अेक अुलटी किन्तु जबरदस्त श्रद्धा चाहिये।

जिसे किसीने देखा नहीं, जिसके कानूनका आज तक पता भी नहीं चला है, जिसकी अिच्छाके बारेमें कोअी भी दो भक्त अेकमत नहीं हैं, अैसे 'स्वर्गीय अीश्वर'को माना तो क्या और नहीं माना तो भी क्या? स्वर्गीय अीश्वरके और अुसके राज्यके अितिहास-भूगोल हर धर्मके पुराणोंमें पाये जाते हैं, लेकिन अुनमें भी अेकवाक्यता नहीं है।

दूसरा अेक अीश्वर है, जिसे अन्तर्यामी कहते हैं, आत्माराम कहते हैं, हृदयस्थ नारायण कहते हैं, जिसका अनुभव, जिसका साक्षात्कार हरअेक आदमी-

को अखण्ड रूपमें होता ही रहता है। आस्तिक भी अुसे पहचानता है और नास्तिक भी अुसीके बल पर अपनी खोज चलाता है।

अिस अन्तर्यामीकी प्रेरणाको जो प्रमाण मानता है वह आस्तिक है। अुस प्रेरणाको जो ठुकराता है वही नास्तिक है, द्रोही है।

अिस दुनियामें अेक परम मंगल शक्ति अपना काम कर रही है और जहां तक अुसकी सफलता है वहां तक ही जीवनकी सफलता है—अैसी जिसकी श्रद्धा है वही आस्तिक है।

मार्च, १९४१

४१

औीश्वरकी आस्तिकता

औीश्वरके अस्तित्वके बारेमें बहुत कुछ लिखा जाता है। और हरअेक लेखक मानता है कि अुसने औीश्वरका अस्तित्व निर्विवाद सिद्ध कर दिया है। यह हुआ औीश्वरके अस्तित्वके बारेमें। लेकिन औीश्वरके आस्तिक्यके बारेमें किसीने विचार ही नहीं किया है। 'आस्तिक' और 'नास्तिक' दोनों विशेषण मनुष्यको ही लगाये जाते हैं। बोलचालकी भाषामें आस्तिक वही है जो औीश्वरको मानता है। औीश्वरके अस्तित्वके बारेमें जिसे विश्वास नहीं है वह नास्तिक है। अैसी हालतमें औीश्वरको आस्तिक कहना लोगोंको अचम्भेमें डालना है। फिर भी औीश्वरका आस्तिक्य अेक सच्ची चीज है, और अुसीमें मनुष्यको सबसे बड़ा आश्वासन मिल सकता है।

भक्तोंने आज तक औीश्वरको किसी बादशाहके जैसा माना है। अुन्होंने अुसे सर्व-समर्थ बताया है। कर्तुम्, अकर्तुम् और अन्यथाकर्तुम् शक्ति तो अुसीकी है। वह जिस वक्त जैसा चाहता है वैसा हो जाता है; अुसकी अिच्छाको रोकनेवाली कोअी चीज है ही नहीं। भक्तोंके मुंहसे अैसे अैसे अुत्साह-वचन हम हमेशा सुनते रहते हैं। वे भूल जाते हैं कि भगवान सर्व-समर्थ होते हुअे भी अपने सामर्थ्यको कदम कदम पर काममें नहीं लाना चाहता। वह चाहता है कि मनुष्य अपना सामर्थ्य स्वयं बढ़ाये। विटो (veto) और सर्टिफिकेशन (certification) की सत्ता हमेशा हाथमें होते हुअे भी अुसे काममें न लानेमें ही औीश्वरका आनंद है। वह सर्व-समर्थ तो है, लेकिन सर्वंसह रहनेमें ही वह अपने अैश्वर्यका अनुभव करता है। भगवान सब कुछ सहन करता है और धैर्यके साथ वह अनंत काल तक राह देखता है। अनंत-वीर्य होते हुअे भी, बल्कि अनंत-वीर्य होनेके कारण ही, वह अनंत धैर्य धारण करता है और मनुष्यको

बहुत कुछ स्वतंत्र रखकर अुसे अुसकी अपनी सहूलियतके अनुसार अपने पास आने देता है।

जब कोअी साहूकार किसी सज्जनको कर्ज देकर देखता है कि अुसका पैसा निश्चित मुद्दतमें वापस आनेवाला नहीं है तब वह कहता है: "मैं जानता हूं कि मेरी रकम खतरेमें नहीं है, लेकिन मुद्दत जरूर खतरेमें है। और तिजारतमें मूल धनकी अपेक्षा मुद्दतका मूल्य अधिक होता है। जो पैसा समय पर न मिला अुसे गया ही समझना चाहिये।" अीश्वरके यहां मुद्दतका सवाल ही नहीं होता। अुसके बहीखातेका हिसाब अनंत कालका ही होता है। और हरअेक मनुष्यके बारेमें अीश्वरका यह दृढ़ विश्वास होता है कि मूल धनको कभी भी खतरा नहीं है। सचमुच मनुष्य अपने अूपर जितना विश्वास रख सकता है, अुससे अधिक विश्वास अुस पर अीश्वरका होता है।

अिस चीजको समझनेके लिअे मनुष्य-जीवनकी विचित्रताका जरा खयाल करना चाहिये

मनुष्यका अर्थ है 'देहधारी आत्मा'। विषयोंकी ओर दौड़नेवाला शरीर और अीश्वरकी ओर निरन्तर खिंचनेवाली आत्मा — अिन दोनोंका बेमेल पारिवारिक जीवन ही मनुष्य-जीवन है। अिस जीवनमें शरीर और आत्माके बीच, वासना और भक्तिके बीच, प्रवृत्ति और निवृत्तिके बीच सनातन कालसे गजग्राह* चलता ही आया है। अिस गजग्राहमें दुर्बल मनुष्य अकसर हार कर निराश हो जाता है। वह मानने लगता है: "मेरे लिअे अुन्नतिका मार्ग है ही नहीं। मैं अेक बार गिरा सो गिरा ही रहूंगा। अब मेरे लिअे चढ़नेकी बात कहां है? और अुसका प्रयत्न भी मैं क्यों करूं? अुसमें क्या लाभ है? अब तो अिन्द्रिय-सुख ही नजदीक दीख पड़ता है। अुसीको मैं क्यों न स्वीकार करूं?"

अिस तरह जब मनुष्य अपने अूपरका विश्वास खो बैठता है, अुसकी श्रद्धाका दिवाला निकलता है, तब भी भगवान अुसे अपनाता है। भगवान कभी किसीसे निराश नहीं होता। मनुष्यकी आत्मशक्ति पर विश्वास रखकर भगवान कहता है: "मैं अब भी राह देखूंगा। अब भी अिस आदमीमें किसी न किसी दिन अुपरति होगी ही। कितनी भी गहरी खाअीमें वह क्यों न पड़ा हो, वहांसे वह किसी न किसी दिन बाहर निकल ही आयेगा और अुन्नतिकी पहाड़ीकी चोटी तक पहुंचनेकी कोशिश करेगा ही। मेरे पास अनन्त धैर्य है। मैं राह देखूंगा — अिसके अनेक जन्मों तक राह देखूंगा। आज यह मुझे भूल गया है। किन्तु अिसे मेरा

* गजेन्द्र मोक्षकी बात सब जानते ही हैं। गजका पांव पकड़ कर अुसे गहरे पानीमें खींचता था ग्राह यानी मगर। गज जमीनकी ओर खींचता था। अिस तरह गज और ग्राहके बीच 'Tug-of-war' चली। अिस परसे खींचातानीके लिअे 'गजग्राह' जैसे सुन्दर पौराणिक शब्दका यहां प्रयोग किया गया है।

स्मरण अवश्य होगा। आज जिस रास्ते वह जा रहा है अुसमें अुसे आनंद आता है सही। लेकिन वह मजा हमेशाके लिअे टिकेगा नहीं। अुससे वह अूब जायेगा। अंतमें मेरी ही शरणमें आयेगा। अिस समय वह सोता है। लेकिन मैं सोया नहीं हूं। मैं जागता हूं। अिस समय अुसके मनमें मेरे प्रति कोअी भक्तिभाव नहीं है। लेकिन मैं अुसे चाहता हूं। मेरे मनमें अुसके प्रति भक्ति है। (हां, भगवानका वात्सल्य अंतमें अेक प्रकारकी भक्ति ही है।) वह मनुष्य अपने अूपर जितना विश्वास रखता है अुससे अधिक विश्वास अुसके बारेमें मेरे मनमें हैं। और यही मेरा विश्वास अुसका अुद्धार करेगा। अपनी हरअेक वासना द्वारा और हरअेक कृति द्वारा आज भले ही वह मुझे परास्त करता हो, किन्तु मैं निराश नहीं होअूंगा। आखिरकार वह है तो मेरा ही। वह किसी भी क्षण मुझसे दूर जानेवाला नहीं है और मैं कभी भी अुसे खोनेवाला नहीं हूं।"

अीश्वरकी यह वृत्ति, भगवानकी यह निष्ठा, ही अुसकी आस्तिकता है। अीश्वर आस्तिक है, अिसी कारण यह दुनिया टिकी हुअी है और अिसी कारण दुनियाके सामने अुन्नतिका साधना-क्रम मौजूद है। अगर सच पूछा जाय तो आस्तिकता ही अीश्वर है।

जनवरी, १९४१

४२

नास्तिकता

अमुक बात पर मनुष्यकी श्रद्धा न जमे तो वह बेचारा क्या करे? श्रद्धा न होने पर भी वह कैसे कहे कि मेरी श्रद्धा है? अैसा करना क्या असत्यके साथ-साथ कायरतापूर्ण दंभ भी नहीं होगा? आप जिसे नास्तिक कहते हैं वह नम्र होकर आपसे कहता है:

'जिस बात पर आपकी श्रद्धा जमती है, वह मेरे हृदयको जरा भी स्पर्श नहीं करती। अिससे मैं प्रसन्न नहीं हूं। मुझे अिसका दुःख है। आपका समाधान और सन्तोष मुझे मिला होता, तो मुझे खुशी होती। मेरी परेशानीको समझ कर आप मुझ पर तरस खाअिये। आप प्रार्थना कीजिये कि मुझमें श्रद्धाका अुदय हो। आप मुझ पर चिढ़ते क्यों हैं?

'आपका तो यह विश्वास है न कि मुझमें भी अमर आत्मा है? तो फिर मेरे बारेमें आप निराश कैसे हो सकते हैं? आत्मा यदि मेरे भीतर हो तो अुसका अुदय होना ही चाहिये। मुझमें यदि अज्ञान हो, तो किसी न किसी समय वह दूर होना ही चाहिये।

'ज्ञानकी शक्तिमें तो आपका विश्वास है न? सर्वंकष — सर्वशक्तिमान — ज्ञान यदि मेरे अज्ञानका नाश न कर सके, तो वह ज्ञानका पराभव ही माना जायगा। यदि आप मेरी नास्तिकता पर क्रुद्ध हों, मुझसे द्वेष करें और मुझे त्याज्य मानें, तब तो यही कहा जायगा कि सनातन आत्मा और परम-मंगल ज्ञानके विषयमें आप निराश हो चुके हैं। फिर आप आस्तिक कैसे माने जायेंगे? अुस स्थितिमें तो आप भी नास्तिक ही कहे जायेंगे न?'

नास्तिकता और आस्तिकता अैसे शब्द हैं, जिनका हम चलते-फिरते, बिना सोचे-विचारे प्रयोग करते रहते हैं। सच पूछा जाय तो ये शब्द अितने सरल नहीं हैं। अिन दो शब्दोंका मूल अर्थ अिस प्रकार है: 'है' अैसा जो मानता है वह आस्तिक; 'नहीं है' अैसा माननेवाला नास्तिक। दुनियामें बहुतेरी वस्तुअें हैं और अुनसे भी अधिक संख्याकी वस्तुअें नहीं हैं। भूत नहीं हैं अैसा यदि मैं मानूं, तो भूतोंके बारेमें मैं नास्तिक हूं। हिंसासे किसी भी प्रकार मनुष्य-जातिका कल्याण नहीं होगा अैसा मेरा दृढ़ विश्वास हो, तो हिंसाके बारेमें मैं नास्तिक हूं। विदेशी सरकारके शिक्षणसे ज्ञानका भार कितना ही क्यों न बढ़ता हो, परन्तु चरित्र-बल अथवा देशप्रेमको दृढ़ बनानेमें वह जरा भी सहायक नहीं होता; अुलटे अिसमें वह शिक्षण विघ्नरूप ही सिद्ध होता है — अैसा मेरा दृढ़ मत हो, तो सरकारी शिक्षणके बारेमें मैं नास्तिक हूं। मुझसे जिनका मत भिन्न है वे लोग जरूर कह सकते हैं कि मेरे विचारोंमें दोष है, विकृति है। अुनकी आस्तिकताके बारेमें मेरी राय भी अैसी ही हो सकती है, और होनी चाहिये।

आस्तिकता और नास्तिकता अिन दो शब्दोंका अैसा व्यापक अर्थ करनेके बाद नास्तिक कहनेसे न तो किसीको गाली दी जाती है और न आस्तिक कहनेसे किसीकी प्रशंसा की जाती है। दोनों शब्द तटस्थ हैं।

परन्तु भाषामें नास्तिक शब्दका अर्थ अितना व्यापक नहीं है। प्राचीन लोगोंने अिसका अर्थ अैसा किया था: वेदोंमें विश्वास न रखनेवाला मनुष्य नास्तिक है। 'नास्तिको वेदनिन्दक:।' अुस कालमें नास्तिक शब्दकी कीमत म्लेच्छ, काफिर, हीदन शब्दों जैसी ही थी। नास्तिक शब्दका अधिक शास्त्र-शुद्ध तथा व्यापक अर्थ है: 'परलोकके विषयमें अश्रद्धा रखनेवाला।'

न सांपराय: प्रतिभाति बालं
प्रमाद्यन्तम् वित्तमोहेन मूढ़म्।
'अयं लोको नास्ति पर' अिति मानी:
पुन: पुनर्वशमापद्यते मे ॥

सांपराय अर्थात् परलोक नहीं है; परम-मंगल तत्त्व नहीं है; अिन्द्रियातीत वस्तुको जाननेका साधन नहीं है; भोगैश्वर्यसे परे संतोष प्राप्त करनेका अन्य कोअी तत्त्व नहीं है — अैसा जिस मनुष्यका विश्वास है वह नास्तिक है।

सामान्य व्यवहारमें अुसी मनुष्यको नास्तिक कहा जाता है, जो खुले आम यह कहनेकी हिम्मत करता है कि अीश्वर नहीं है और जो हिम्मतके साथ समाज द्वारा मान्य की हुअी रूढ़ियोंको तोड़ता है। जो लोग अिस व्याख्यामें नहीं आते, वे सब आस्तिक कहलाते हैं। अिस मान्यताके अनुसार जितने लोग आस्तिक माने जाते हैं वे सब यदि वास्तवमें ही आस्तिक होते, तो यह कहनेमें जरा भी अतिशयोक्ति न होती कि आज सत्ययुग है। जैसा कि समर्थ रामदास स्वामीने कहा है:

देवा वेगळें कांहीं नाहीं। अैसेंचि बोलतीं सर्वही।
परन्तु त्यांची निष्ठा कांही तैसींच नसे।*

आज कुछ लोगोंके लिअे धर्मनिष्ठा और अीश्वर-निष्ठा राजनिष्ठा जैसी ही औपचारिक बन गअी है। 'अीश्वर नहीं है' अैसा कहकर समाजमें बदनाम होने और अपने चित्तको अस्वस्थ बनानेके बजाय 'अीश्वर है' अैसा मानकर ही चलो न! अिसमें हमारा क्या बिगड़ता है? — यही वृत्ति आज हर जगह दिखाअी देती है। 'अीश्वर है' अैसा जो मनुष्य मानता है, अुसके जीवनमें अमुक परिवर्तन अवश्य ही दिखाअी देने चाहिये। अमुक गांवमें प्लेग है, अमुक कमरेमें सांप है, बैंकमें मेरे अितने रुपये हैं, अथवा कोर्टमें न्यायाधीश बैठे हैं — अिस मान्यताके साथ ही अिन स्थानोंमें हमारे आचरणमें जैसा फर्क पड़ता है, वैसा ही फर्क 'अीश्वर है' यह विश्वास रखनेसे अिस पृथ्वीके हमारे जीवनमें पड़े, तो ही हमारी यह श्रद्धा, निष्ठा या आस्तिकता सच्ची कही जायगी।

बहुत बार 'अीश्वर नहीं है' अैसा कहनेवाले प्रामाणिक और नम्र नास्तिकमें सामान्य आस्तिकोंकी अपेक्षा अधिक निष्ठा होती है। अैसा कट्टर किन्तु शुद्ध नास्तिक जब कहता है कि अीश्वर नहीं है तब अुसका अर्थ अितना ही होता है कि 'मैंने अीश्वरकी **खोज** की है; अुसका स्वरूप अगम्य है, अुसकी माया अगाध है, अुसका आकलन करनेमें मानवीय शक्ति समर्थ नहीं है; मैं तो अुसके विषयमें कुछ नहीं कह सकता।' अीश्वरकी खोज करके जो मनुष्य अितना अनुभव प्राप्त कर सका, अुसे आस्तिक कहनेमें क्या आपत्ति हो सकती है? 'यस्यामतं तस्य मतम्।'

परन्तु अीश्वर है या नहीं, अुसका स्वरूप कैसा है, अिस बातकी दार्शनिक चर्चामें अुतरनेकी जरूरत ही क्या है? हृदयमें निरन्तर स्फुरित होनेवाले आत्म-तत्त्व पर जिस मनुष्यका विश्वास है वह आस्तिक है। प्रत्येक मनुष्यके हृदयमें आत्मारामका वास है, प्रत्येकके हृदयमें कम-ज्यादा सज्जनता रहती ही है, पापीसे पापी मनुष्य भी हृदयकी गहराअीमें पुण्य और पवित्रताकी ही रटन लगाये

* अर्थ — सभी लोग यह कहते हैं कि अीश्वरसे अलग कुछ नहीं है। परन्तु अुनकी निष्ठा भी अैसी ही होती है, यह नहीं कहा जा सकता।

रहता है -- अिस प्रकारकी श्रद्धा ही आस्तिकता है। दुनिया चाहे जितनी पीड़ित रहती हो, भले ही कदम कदम पर साधु-संतोंकी हार होती हो, भले ही दुर्जन अुन्मत्त होकर अधिकार और सत्ता भोगते हों, फिर भी अंतमें धर्मकी ही विजय होगी, प्रत्येक हृदयमें सज्जनताका ही अुदय होनेवाला है, अैसी श्रद्धा ही आस्तिकता है। पवित्रतासे प्रेम करना, हृदयकी शुद्धताका आदर करना और सदाचारसे प्राप्त होनेवाली स्थितिमें संतोष मानना प्रत्येक हृदयका धर्म है; अिस धर्मको चाहे जितने समय तक ग्रहण लग जाय, फिर भी वह खग्रास कभी नहीं होगा और अिस धर्मका संपूर्ण अस्त भी कभी नहीं होगा — अिस तरहके दृढ़ विश्वासका ही नाम आस्तिकता है। मांके हाथमें जिस प्रकार बालक अपनेको सुरक्षित मानता है अुसी प्रकार सत्यकी गोदमें हम सदा सुरक्षित हैं, अैसी श्रद्धा ही आस्तिकता है। सत्यका द्रोह किसीसे हो ही नहीं सकता, सत्य पंगु नहीं है -- दुर्बल नहीं है, सत्यकी सदा विजय ही होती है, सत्य किसीसे अपनी रक्षाकी आशा नहीं रखता, अपने अमोघ सामर्थ्यके कारण सत्यके पास अखूट धीरज है और अिस धीरजमें ही अुसकी विजय है -- अिस प्रकार सत्यके प्रति मनुष्यकी दृढ़ भक्ति परम आस्तिकता है।

भेड़-बकरियोंको मारकर खा जानेवाले बाघमें भी भूतदया सुप्त रूपमें रहती है, अैसी श्रद्धा आस्तिकता है। क्षणिक या हजार युग तक टिकनेवाले स्वार्थके वश होनेवाली मानव-जातिमें भी मुख्य प्रेरक तत्त्व तो प्रेम ही है और अंतमें अिसी प्रेमका साम्राज्य विश्वमें चारों तरफ स्थापित होनेवाला है — अिस तरहकी सूक्ष्म रूपमें चमकती रहनेवाली तथा कड़वेसे कड़वे अनुभवोंकी परम्पराके बाद भी बुझ न जानेवाली अद्‌भुत श्रद्धा ही मुख्य आस्तिकता है। यह श्रद्धा यदि आपमें है तो फिर सगुण अथवा निर्गुण अीश्वरमें विश्वास रखने या न रखनेसे कोअी फर्क नहीं पड़ता। आप अीश्वरकी विभूति अेक मानें या अनेक मानें, शास्त्रोंकी मूर्तिपूजा करें अथवा अुन्हें जला डालें, अिसका अधिक महत्त्व नहीं।

सच पूछा जाय तो आस्तिकता और नास्तिकता जैसा भेद करना व्यर्थ है। प्रत्येक मानवके हृदयमें आस्तिकता रहती ही है। महत्त्वका प्रश्न यही है कि वह किस हद तक सुप्त है और किस हद तक जाग्रत है, व्यापक है, तीव्र है। शिक्षक जब किसी विद्यार्थीसे कहता है कि यह चीज तुम कभी नहीं सीख सकोगे, तब समझना चाहिये कि शिक्षक नास्तिक हो गया है। भय, लालच या बाहरी रस चखाये बिना लड़के-लड़कियां शुद्ध ज्ञान-पिपासासे जरा भी पढ़नेवाले नहीं हैं, अैसा शिक्षक और माता-पिता मानें तो भी वे नास्तिक ही हैं। हम सैनिकोंकी प्रशंसा न करें, छाती पर लगानेके लिअे अुन्हें रंग-बिरंगी पट्टियां न दें, तो अुनमें शौर्य प्रकट नहीं होगा, अैसा माननेवाला सेनापति भी नास्तिक है। सेनापति बड़ा सेनापति बननेके लिअे युद्धमें लड़ता होगा, परन्तु सैनिक देशके

खातिर, स्वधर्मके पालनके लिअे लड़ते हैं, यह सेनापतिके ध्यानमें नहीं आता। बाहरी दंभ और आचारका आडंबर दिखाये बिना लोगों पर मेरी धार्मिकताका प्रभाव नहीं पड़ेगा, अैसा माननेवाला धर्मोपदेशक धर्म पर जीनेवाला होते हुअे भी नास्तिक है। अमुक लोगोंमें कभी क्षात्र तेज पैदा ही नहीं होगा, अमुक प्रजा अथवा वर्ग सदा गुलामीमें ही रहनेके लिअे पैदा हुआ है, अैसी मूढ़ मान्यता भी नास्तिकताका ही अेक रूप है।

यह मायावी नास्तिकता कितने ही रूप धारण करती है! बीमार आदमी अपथ्यको जानते हुअे भी अुसका सेवन करके जब मनको समझाता है कि अितनेसे कोअी नुकसान नहीं होगा, तब वह नास्तिकताको ही बढ़ाता है। गुप्त रखा हुआ पाप मुझे या दूसरोंको कष्ट नहीं देगा, अैसा माननेवाला प्रतिष्ठित व्यक्ति नास्तिक ही है। सद्गुणों और योग्यताको प्रधानता देनेवाला कोअी कदरदान न मिला तो वे सद्गुण व्यर्थ जाते हैं, अैसा माननेवाला कृपण भी नास्तिकताका ही पुजारी है। और आज सारी दुनियामें सर्वत्र फैली हुअी नास्तिकता तो यह माननेकी वृत्ति है कि 'धूर्तता, लुच्चाअी, कपट और दुष्टताकी ही विजय होती है।' दुनियाकी दीन और सहनशील प्रजायें अनंत काल तक अन्याय सहती ही रहेंगी, वे कभी भी अन्यायका विरोध नहीं करेंगी; अीश्वरके जो अवतार अब तक हो गये वे हो गये, अब अीश्वर मर गया है या कमसे कम कुंभकर्णकी निद्रामें तो पड़ा ही है, अब अुससे डरनेका कोअी कारण नहीं है — अिस तरहकी जो व्यावहारिक मान्यता सत्ताधारियोंमें घर कर बैठी है, वह भी नास्तिकताका ही नया अवतार है। सत्ययुगका अपने आप अुदय होगा, अिसके लिअे हमें कोअी प्रयत्न करनेकी जरूरत नहीं, अैसी आशा रखना भी अेक अलग प्रकारकी नास्तिकता ही है यह भूलना नहीं चाहिये; क्योंकि वह मूढ़ विश्वास है।

अैसी सूक्ष्म अर्थात् शुद्ध दृष्टिसे देखने पर अिस बातकी थोड़ी कल्पना होगी कि मनुष्यके हृदयमें नास्तिकता कितनी व्यापक हो गअी है। परन्तु अिस बातकी पूरी पूरी कल्पना हो जानेके बाद भी 'ब्रिटिश साम्राज्यसे अधिक बड़ी अिस नास्तिकता' का आखिर अंत होगा ही अैसा विश्वास यदि हममें न हो, तो हम आस्तिकताकी सेनाके सिपाही नहीं बन सकते। नास्तिकता अींधनके ढेरके समान है और आस्तिकता आगकी चिनगारीके समान है। अींधन गीला होगा तभी तक वह टिकेगा। मानव-जातिकी लापरवाही नास्तिकताका गीलापन है। अुसके मिटने पर अींधनकी होली जरूर जलेगी। अेक जलनेवाली लकड़ी दूसरीको जलाती है और अिस प्रकार अपने भीतरसे ही अग्निको भोजन देकर स्वयंको भस्मसात् करती है।

श्रद्धा और धैर्य अग्निमें डाला जानेवाला घी है।

२३-१०-'२७

४३

हमारे औीश्वरका स्वरूप

"औीश्वर शताब्दियोंसे हमें कष्ट देता आ रहा है, अब अुसे पेन्शन दे दें तो कैसा रहे? अब हम विज्ञान और अितिहासकी सहायतासे अपने जीवनका अच्छी तरह विकास कर सकेंगे। मनुष्य-जातिके बाल्यकालमें औीश्वररूपी 'चालन-गाड़ी' की जरूरत थी। अिस रूपमें औीश्वरने मनुष्य-जातिकी बहुत बड़ी सेवा की है। अिस सेवाके लिअे हम सदा अुसके कृतज्ञ रहेंगे। परन्तु अब हम अपना व्यवहार अपने ही हाथमें ले लें तो अच्छा होगा।

"औीश्वरके बारेमें अेक और कठिनाअी है। औीश्वर स्वतंत्र नहीं है। शास्त्रकार, धर्मगुरु, अुपदेशक और हर प्रकारका झूठ चलानेवाले चालाक लोग औीश्वर पर अपना अधिकार करके बैठ गये हैं। अिसलिअे औीश्वरका अुपयोग आम जनताके लिअे न होकर प्रायः अुन्हीं लोगोंके लिअे होता है, जिनका प्राचीन कालको टिकाये रखनेमें स्वार्थ है। जिस तरह गुलाबके साथ अुसके कांटे आये बिना नहीं रहते, जिस तरह अमरूदसे अुसके बीजोंको अलग करना कठिन है, अुसी तरह औीश्वरके साथ अुसके नाम पर रचे गये शास्त्र, अुसके नाम पर पेट भरनेवाले साधु और फकीर, अुस पर अेकाधिकार स्थापित करके बैठे हुअे पंडित, मुनि, पादरी और मुल्ला, अुसके नशेसे जड़ बने हुअे संन्यासी और भक्त तथा अुसकी पूंजी हड़प कर जानेवाले मंदिर और मठ — सभी आ जाते हैं। जिस प्रकार यज्ञमें तक्षककी बलि चढ़ानेके लिअे अुसके साथी इन्द्रकी भी बलि चढ़ानी ही पड़ती है, अुसी प्रकार मानव-जातिमें अज्ञान, अंधविश्वास, संकुचितता, अबुद्धि और झगड़े फैलानेवाले अिस समग्र चंडाल-चक्रका नाश करनेके लिअे यदि औीश्वरकी बलि चढ़ानी पड़े तो जरूर चढ़ा देनी चाहिये।

"औीश्वर है या नहीं, अिस सैद्धान्तिक चर्चामें भी हम पड़ना नहीं चाहते। यह विषय अुतना ही नीरस है जितनी धर्मशास्त्रोंकी चर्चा। हम तो अिसी बातका विचार करेंगे कि औीश्वर अुपयोगी प्राणी है या नहीं। हमें यह प्रतीति हो गअी है कि अब औीश्वरका कोअी अुपयोग नहीं रह गया है। अतः औीश्वरको अब हम अपने जीवनमें स्थान देनेके लिअे तैयार नहीं हैं। प्राचीन कालके अेक नास्तिकने कहा था: 'औीश्वर न हो तो भी समाजको चलानेके लिअे हमें काल्पनिक औीश्वरकी योजना करनी चाहिये। वह सबसे सस्ता पुलिस है। अिसलिअे सत्यकी दृष्टिसे औीश्वर नहीं है यह सिद्ध होने पर भी अुपयोगकी दृष्टिसे हमें औीश्वरको खड़ा कर लेना चाहिये।'

लेकिन आज तो हमें अिसके ठीक विपरीत यह लगता है कि अीश्वरके होने न होनेके प्रश्नको अुठाया ही न जाय; और यदि अीश्वरका अस्तित्व सिद्ध हो जाय तो भी अुसका अिनकार करनेमें ही हमारा कल्याण है। मानव-जीवनके क्षेत्रसे अब अीश्वरको बाहर निकाल देना चाहिये। आज वह प्रजाका पुलिस नहीं है, परन्तु सामाजिक असमानता, लोगोंकी अज्ञानता और बुद्धिनाशक जड़ता पर ही जीनेवाले विभिन्न वर्गोंका अेकमात्र आश्रय बन गया है। अैसे तक्षकोंके साथ अिस अिन्द्रकी भी बलि चढ़ानी ही चाहिये।"

अूपर मैंने आजके जमानेको नये नये विचार देनेवाले कुछ विद्वानोंके मतोंका सार संक्षेपमें प्रस्तुत किया है। जिस प्रकार रामायणी प्रजाके बीच देवी सीताकी शुद्धि बार-बार चर्चाका विषय बनती रहती थी, अुसी प्रकार बेचारे अीश्वरका अस्तित्व आज बार-बार खतरेमें पड़ जाता है। अेक यह कठिनाअी तो है ही कि अीश्वर दिखाअी नहीं देता, वह हो भी तो कभी घबराता या अकुलाता नहीं। लेकिन अितने ही कारणसे अीश्वर खतरेमें नहीं पड़ सकता था। जो लोग अीश्वरको जाननेका दावा करते हैं, जिन्होंने अीश्वर पर अपना अधिकार जमा लिया है, वे अीश्वरके बारेमें जो साक्षी देते हैं, अीश्वरके बारेमें जो कल्पनायें हमारे सामने रखते हैं, अीश्वरका जो जीवन-चरित्र या रेखाचित्र प्रस्तुत करते हैं, वे सब अितने बेहूदे हैं कि अुनके आधार पर अीश्वरको स्वीकार करनेमें भारी आपत्ति खड़ी होती है। अैसे लोगोंने ही अीश्वरके अस्तित्वको खतरेमें डाल दिया है। चेस्टरटन कहता है कि 'कैथोलिक धर्मके निन्दकोंके ग्रन्थ पढ़ पढ़कर ही कैथोलिक धर्म पर मेरी श्रद्धा जमी है।' अिसी प्रकार अीश्वरका अिनकार करनेवाले 'पारमार्थिक' लोग यह कहते हैं कि अीश्वरका पक्ष लेनेवाले साहित्यको पढ़ पढ़कर ही हमारी नास्तिकता दृढ़ हुअी है।

अीश्वरका साक्षात्कार सिद्ध कर चुके अेक अृषिको अीश्वरका केवल समर्थन करनेवाले लोगोंकी विडंबनासे अीश्वरको बचानेकी अैसी ही आवश्यकता पड़ी होगी, अिसलिअे अुन्होंने कहा था: "अीश्वरके तत्त्वको मैं जानता हूं; तुम मुझसे वह तत्व जान लो। अुसका वर्णन कैसे किया जाय, यह मैं नहीं जानता। परन्तु आज लोग जिसकी अुपासना करते हैं, वह तो अीश्वर है ही नहीं। सच्चे अीश्वरको अिस जन्ममें यदि तुमने जान लिया तो तुम बच गये; वर्ना तुम्हारे भाग्यमें महानाश ही लिखा हुआ है।"

तब यह सच्चा अीश्वर कैसा है? और हमारे जीवनके साथ अुसका क्या सम्बन्ध है? हमारे समस्त प्रिय आदर्शोंका वह पोषण करता है या शोषण? क्या वह प्रजाका सहायक है? क्या वह प्रजाका रक्षक है? क्या वह प्रजाका तारक है? और यदि अीश्वर अैसा ही हो, तो अुसे पहचाना कैसे जाय? अुसका अुपयोग

हम कैसे करें? अीश्वरके अेकाधिकारियोंसे हम अुसे बचा सकें, तो ही वह हमें बचा सकता है।

तो अीश्वर है क्या चीज? अितना तो स्पष्ट है कि यदि अीश्वर जैसा कुछ है, तो वह हमारे हृदयमें ही है। अीश्वरका सर्वोत्कृष्ट नाम 'अंतर्यामी' है। हमारे हृदयमें अनेक बार अनेक प्रकारकी मंगल आकांक्षायें जन्म लेती हैं; वे हमें केवल कल्पना जैसी नहीं लगतीं, किन्तु व्यवहारकी अिस दुनियाकी अपेक्षा अधिक सच्ची और अधिक महत्त्वपूर्ण लगती हैं। 'खाना, पीना और राज करना' यह हमारे जीवनका मुख्य भाग नहीं है; परन्तु जो परम मंगल कल्पनायें तथा आदर्श हमारे हृदयमें बसते हैं और हमारे जीवनका मार्गदर्शन करते हैं, वे ही हमारे जीवनका मुख्य भाग हैं। मनुष्य-जाति अनादि कालसे आदर्शोंकी अुपासना करती आअी है। ये आदर्श भिन्न होते हुअे भी अेकरूप हैं, अैसा अनुभव होता है। जहां भेद दिखाअी देता है, जहां विरोध दिखाअी पड़ता है, वहां शुद्धीकरणकी क्रिया अेकदम प्रवेश करती है और फिर समन्वयकी वृत्ति अिन भिन्न भिन्न आदर्शोंके बीच सुमेल करा देती है। ये आदर्श, शुद्धीकरणकी यह क्रिया और अिन सबका सुमेल — यह सब अेकरूप है, अैसा अनुभव होता है। हमें सतत यह प्रतीति होती रहती है कि यह संपूर्ण विश्व, अथवा दूसरे शब्दोंमें कहें तो हमारा समग्र मनुष्य-जीवन, किसी सत्य पर रचा हुआ है। कोअी भी फिलॉसफी (तत्त्वज्ञान) वास्तवमें अिस प्रतीतिका अिनकार नहीं कर सकी है, फिर तार्किक भाषा कुछ भी क्यों न कहे? हमें अैसा लगा करता है कि अुस परम सत्य पर, अुस अमर अखंड सनातन सत्य पर रचा हुआ जो कुछ भी है वह शुद्ध ही होना चाहिये, अुसके स्वभावमें मेल ही होना चाहिये और अुसमें अनंत विविधता होनेके कारण जड़ता तो अुसके भीतर हो ही नहीं सकती।

यह जो हमारी अमर भावना है, अिसीमें हमें अीश्वरीय तत्त्व मिलनेवाला है। मनुष्यने अीश्वरकी रचना की है या अीश्वरने मनुष्यकी रचना की है, अिस सवालका कोअी अर्थ नहीं रहता; क्योंकि दोनोंमें भेद ही नहीं है। मनुष्यमें अीश्वर है और अीश्वरमें मनुष्य है। फिर किसे किसकी कृति माना जाय? हम तो अीश्वरका स्वरूप जानना चाहते हैं और अुसकी अुपयोगिता अपने लिअे सिद्ध करना चाहते हैं। यदि जीवन सत्य हो तो अीश्वर सत्य है। यदि जीवनमें कोअी सार या रहस्य है, तो अीश्वर परम मंगलमय है। यदि जीवनमें तृप्ति और अतृप्ति दोनों ही तत्त्व हों, तो आदर्शोंका अस्तित्व है। आदर्श वास्तविक वस्तु हैं। मनुष्य-जीवनका परम अुत्कर्ष, सब आदर्शोंकी कृतार्थता, सब प्रकारके विरहका अंत, सारी अशांतिकी शांति, समग्र यात्राकी अंतिम मंजिल और फिर भी समस्त आकांक्षाओंकी चिरंतन अतृप्ति ही अीश्वर है। यदि

ओीश्वरकी संपूर्ण प्राप्ति हो जाय, तो वह ओीश्वर न रह जाय। अिसीलिअे ओीश्वरका सच्चा नाम अनंत है।

अैसे ओीश्वरसे अिनकार करनेका अर्थ है अपने जीवनसे अिनकार करना; प्रत्येक अुच्चता और अुदात्ततासे अिनकार करना। और सारे प्रामाणिक अिनकारके पीछे जो सत्यकी शोध है, जो प्रामाणिकता है, जो अुत्कटता और अेकाग्रता है, अुससे भी अिनकार करना।

अिस ओीश्वरका अपना कोओी नाम नहीं है, हमने अुसे मनमाना नाम दिया है; अिसी तरह अुसका अपना कोओी रूप भी नहीं है, हम ओीश्वरको जो रूप देते हैं अुसे धारण करनेका सामर्थ्य अुसमें है। प्रत्येक शरीरमें जिस प्रकार परिवर्तन होता रहता है अुसी प्रकार ओीश्वरके रूपमें भी सतत परिवर्तन होना ही चाहिये। बालक सूर्यकी किरणको अपनी मुट्ठीमें पकड़नेका प्रयत्न करता है, फिर भी सूर्य-किरण अुसकी मुट्ठीमें कैद नहीं होती; अुसी तरह जब मनुष्य अपने स्वभावके कारण अपनी सुविधाके लिअे ओीश्वरको अेक रूपमें बांधनेका प्रयत्न करता है तब ओीश्वर अुस रूपमें बंधनसे, रुंध जानेसे अिनकार ही करता है। जब तक हम अुसे बांधनेका प्रयत्न नहीं करते तब तक वह हमारा ही है, और तभी तक हमारा है।

तब क्या मनुष्यका आदर्श ही अुसका ओीश्वर है?

आदर्श ही ओीश्वर है, अैसा कहनेसे ओीश्वर बहुत सरल और सस्ता हो जाता है। ओीश्वर अिससे अधिक बड़ा है। ओीश्वर ही मनुष्यका आदर्श है, यह बात सच है। और आदर्शके बारेमें हम अपनी कल्पनाको शुद्ध और व्यापक बनायें, तो आदर्श ही ओीश्वर है यह भी सच है। किन्तु परम आदर्श मनुष्य-कृत नहीं होता, वह स्वयंभू होता है। वह मनुष्यका आदर्श अवश्य है, परन्तु अुस आदर्शके कारण ही मनुष्य मनुष्य है। मनुष्यके कारण आदर्शका जन्म नहीं हुआ है। आदर्शके कारण मनुष्य-जीवन सत्वपूर्ण होता है। परन्तु आदर्शका संपूर्ण आकलन कभी मनुष्यको हो ही नहीं सकता। जिस आदर्शका संपूर्ण आकलन हो जाय, वह आदर्श नहीं रह जाता; क्योंकि वह सान्त हो जाता है। आदर्श तो अनंत ही होना चाहिये।

२–८–'३१

४४

'प्रभु जागत है तू सोवत है'

आत्माका कोअी लिंग नहीं होता, कोअी जाति नहीं होती। चाहें तो हम अुसे पुल्लिग कह सकते हैं और चाहें तो स्त्रीलिंग भी कह सकते हैं। दोनों ही लिंगोंमें आत्मा समान है। संस्कृतमें या मराठी अथवा गुजरातीमें आत्माको पुल्लिग माना जाता है; जब कि ग्रीक भाषामें तथा अरबी-फारसी और अुर्दूमें भी अुसे स्त्रीलिंग माना गया है। हिन्दीमें कोअी आत्माको पुल्लिग बताता है तो कोअी स्त्रीलिंग।

वैष्णवोंके भक्ति-सम्प्रदायमें परमात्माकी श्रीकृष्णके रूपमें और जीवात्माकी गोपीके रूपमें कल्पना करके भक्तिके स्वरूप और अुसकी अुत्कटताको स्पष्ट किया जाता है। यह देखा गया है कि अत्यंत प्रेम, अेकाग्र निष्ठा तथा संपूर्ण आत्म-समर्पण ये तीन गुण स्त्रीजातिमें विशेष रूपसे व्यक्त होते हैं, अिसलिअे जीवात्माका परमात्माकी ओर होनेवाला आकर्षण गोपीकी कृष्णभक्तिके रूपक द्वारा ही भलीभांति व्यक्त हो सकता है।

अब पुरुष जिस प्रकार स्त्रीकी प्राप्तिके लिअे प्रयत्न करता रहता है अुसी प्रकार परमात्मा भी जीवात्माको अपने पास खींचकर अुसका अुद्धार करनेके लिअे अपनी ओरसे सतत प्रयास करता ही रहता है। अिसमें यदि कोअी भी रुकावट हो तो वह है जीवात्माकी अुत्कटताका अभाव, असावधानी या अज्ञानता। और प्रेममूर्ति परमात्मा जीवात्माकी स्वतंत्रताकी रक्षाके लिअे अितना अुत्सुक रहता है कि वह अपनी अलौकिक आतुरताको भी अेक ओर रखकर जीवात्माके हृदयमें मुमुक्षा जाग्रत होने तक धैर्यके साथ प्रतीक्षा करना ही पसंद करता है। अुसकी दृष्टिमें अपनी आतुरताकी अुतनी कीमत नहीं होती जितनी जीवात्माकी स्वतंत्रताकी होती है।

बहुत बार यह शंका अुठती है कि अीश्वर-प्राप्तिके लिअे जीवात्माकी आतुरता अधिक होती है या जीवात्माको अपने पास खींचनेकी भगवानकी साधना अधिक होती है।

यहां कोअी मनमें यह शंका न लाये कि पूर्ण-पुरुष, निःस्पृह और नित्य-तृप्त परमात्मा स्वयं ही साधना करनेवाला साधक कैसे बन सकता है? परम कारुणिक और सब-कुछ सहनेवाला परमात्मा साधक ही है और अुसकी साधना अनंत और अखंड रूपमें चला करती है। अीश्वर यदि साधक न होता तो मनुष्यको साधना कैसे सूझती और अुसे करनेकी शक्ति भी कैसे मिलती? सोचनेसे

अिस बातका विश्वास हो जाता है कि जिस प्रकार बालककी मातृभक्तिकी अपेक्षा माताका अपत्य-प्रेम अधिक गहरा होता है अथवा शिष्यकी गुरुभक्तिकी अपेक्षा गुरुका शिष्य-वात्सल्य अधिक अुत्कट और अधिक ज्ञानपूर्ण होता है, अुसी प्रकार मनुष्यकी दर्शन-लालसाकी अपेक्षा ओीश्वरकी भक्तनिष्ठा अधिक होनी ही चाहिये। असंख्य बार अपने अनेक जन्म मनुष्यने ओीश्वर-विमुख कर्म करनेमें बिताये हों, तो भी ओीश्वरका धैर्य कभी नहीं खूटता।

जीवात्मा घोर निद्रामें सोया हो तब अुसे ओीश्वरके सान्निध्यका भान कैसे हो सकता है? परन्तु जब अुसकी घोर निद्रा दूर हो जाती है और जब वह प्रभातकी मीठी, गुलाबी और हलकी नींदमें होता है, तब अुसे ओीश्वरके अस्तित्वकी और अुसकी प्रेमल साधनाकी अस्पष्ट झांकी समय समय पर होने लगती है। कविवर रविबाबूने नीचेके भजनमें अिस स्थितिका सुन्दर वर्णन किया है।

गोपी स्वयंको लक्ष्य करके कहती है:

“जब वह तेरे पास आकर बैठा तब तू जागी नहीं। हे हतभागिनी, तुझे कैसी नींद आओी थी? शांत और स्तब्ध रात्रिकी वेलामें वह आया था। अुसके हाथमें वीणा थी। अुसका संगीत सुनकर मैं जागी नहीं, परन्तु मेरा स्वप्न केवल अुसके गंभीर रागमें ओतप्रोत हो गया और मेरा स्वप्न असाधारण रूपमें सुखमय बन गया।

“जाग कर देखती हूं तो अपनी सुगंधसे पागल बना देनेवाला दक्षिणका मलयानिल अंधकारकी रिक्तताको भर कर सन-सन बह रहा है।

“मेरा यह कैसा दुर्भाग्य है कि मेरी सब रात्रियां अिसी प्रकार व्यर्थ चली जाती हैं! वह मेरे पास होते हुओ भी मेरे पास नहीं होता! अुसका संगीत सुनाओी देता है, अुसकी सुगंध मस्तिष्कको भर देती है, और फिर भी अुसकी मालाका स्पर्श मेरे हृदयको प्राप्त नहीं होता। मैं क्या करूं? कैसी कालनिद्रा मुझे घेर लेती है!”

जिन लोगोंको ओीश्वरके अस्तित्वका भान ही नहीं है तथा जो लोग केवल अेक निरपवाद रिवाजके रूपमें ही ओीश्वर पर विश्वास रखते हैं और ओीश्वरके विषयमें बोलते हैं, वे अिस गायनके मर्मको नहीं समझ सकते। मनुष्य जब सब तरहसे हार जाता है तभी शायद अुसे अेकाध क्षणके लिअे ओीश्वरका सच्चा स्मरण होता होगा। वर्ना प्रतिदिन नियमसे ओीश्वरकी पूजा करने पर भी और सुबह-शाम ओीश्वरका नाम जपने और गूंजाने पर भी अैसे लोगोंके जीवनमें ओीश्वरका प्रवेश नहीं होता। अैसी घोर निद्राकी अवस्थामें यदि अुन्हें ओीश्वरके सान्निध्यकी असंख्य निशानियां मिलें, तो भी अुनके किस कामकी? आगे चलकर जब मनुष्य अंतर्मुख होता है और अुसके जीवनमें ओीश्वरका थोड़ासा

प्रवेश हो जाता है, तभी सच्चा झगड़ा शुरू होता है। अीश्वरकी जड़ें यदि मनुष्यके जीवनमें थोड़ी भी पहुंच जायं, तो फिर वहां वे घर किये बिना रह ही नहीं सकतीं। साधनाके अभावमें मनुष्य कितना ही असावधान क्यों न रहे, अीश्वरके सान्निध्यकी निशानियां अुसकी नजरमें आये बिना रह ही नहीं सकतीं; अीश्वरकी कृपाका अनुभव अुसे समय समय पर अवश्य होता है। बादमें तो मनुष्य यह सोचकर चिढ़ने लगता है कि मैं अितना साधना-दुर्बल क्यों हूं, और वह अपनी भर्त्सना करने लगता है; फिर तो यह आत्मनिन्दा ही अेक प्रकारकी साधना बनकर मनुष्यसे प्रगति कराती है।

जड़ जीवनको यदि रात्रिकी अुपमा दी जाय, तो अूपर वर्णित हलकी मीठी नींदके समयको ब्राह्म-मुहूर्त ही कहना चाहिये।

अब नींदका जोर कम हो गया है, अब थोड़े ही समयमें हम जाग जायेंगे और जागृतिका सुख भोगेंगे, अिस विषयमें शंका रखनेका कोअी कारण नहीं है।

२०–१०–'४०

४५

जीवनका शास्त्र

न जाने क्यों आजका जमाना धर्मसे घबराया हुआ रहता है। धर्मके नाम पर संसारके देश परस्पर लड़े हैं। धर्मके नाम पर अेक वर्गने दूसरे वर्ग पर निरंकुश सत्ता चलाअी है। धर्मके नाम पर ज्ञानके दीपको बुझा कर जाने और अनजाने दुनियामें अज्ञान और अंधविश्वासोंका अंधकार खूब फैलाया गया है। धर्मके नाम पर कभी कभी जीवनको सारशून्य और खट्टा बना दिया गया है। धर्मके नाम पर मनुष्यकी प्रगतिको सफलतापूर्वक रोका गया है। यह सच है कि शास्त्रधर्म और रूढ़िधर्मने षड्यंत्र रचकर बहुत बार हृदय-धर्म, प्रेमधर्म, मानवताका धर्म तथा विश्व-मांगल्यका धर्म — अिन सब अुच्च धर्मोंका अुच्छेद कर डाला है। परन्तु यह सारा अुत्पात मचानेवाला 'धर्म' वास्तवमें धर्म नहीं है; मनुष्यकी संकुचितता, मनुष्यकी धर्मान्धता तथा मनुष्यका अज्ञान धर्मके नाम पर जो अधर्म फैलाते हैं, वही अिस सारे अुत्पातकी जड़ है। धर्म अितनी प्रभावशाली और तेजस्वी वस्तु है कि अुसकी शक्तिको देखकर प्रत्येक क्षुद्र वृत्तिवाला मनुष्य अुसके आश्रयमें अपना काम निकालनेका प्रयत्न करे तो आश्चर्य नहीं होना चाहिये। परन्तु मानव-द्रोही वृत्तियां धर्मका आश्रय लेती हैं अिसलिअे अुस आश्रयको ही नष्ट कर देनेसे सारी अशुभ वृत्तियां नष्ट हो जायंगी या भूखों मरेंगी, अैसा मान लेनेका कोअी कारण नहीं है। अिसका परिणाम तो अितना

ही होगा कि हम धर्मके जैसी कल्याणमय वस्तुको गवां बैठेंगे। अीश्वर, आत्मा, परलोक, पुनर्जन्म आदिके बारेमें हम आज अेकमत नहीं हो सकते अिस कारणसे अिन सबका समावेश करनेवाला धर्म ही त्याज्य है, अैसा अनेक लोग सोचने लगते हैं।

धर्मके विषयमें अूपर जो अनर्थ-परम्परा अथवा संदिग्धता बताअी गअी है, वह सब तो विज्ञानशास्त्रको भी अच्छी तरह लागू होती है। परन्तु अिस कारणसे किसीने विज्ञानका त्याग नहीं किया है। जैसे जैसे विज्ञानके दोष मालूम होते गये वैसे वैसे अुन दोषोंको सुधार लेनेकी ओर ही सयाने लोगोंका प्रयत्न रहा है। विज्ञानका बचाव करनेवाले लोग कहते हैं कि विज्ञान किसी ग्रन्थसे चिपटा नहीं रहता। वह तो अनुभवसे सिद्ध हुअी वस्तुको ही ग्रहण करनेवाला सत्यनिष्ठ और सत्य-परायण शास्त्र है।

सच्चे धर्मको भी यही बात लागू होती है। आज तकके विज्ञानशास्त्रियोंके ग्रन्थों पर विज्ञानका जितना आधार है अुससे जरा भी अधिक आधार सच्चे धर्मका धर्मशास्त्रों पर नहीं है। वह भी अनुभवसे सिद्ध हुअी वस्तुको पकड़नेवाला, सत्य-परायण, सत्यनिष्ठ शास्त्र ही है। दोनोंमें भेद ही देखना हो तो कहना होगा कि धर्मशास्त्रकी सत्यनिष्ठा भौतिक शास्त्रोंसे कुछ अधिक है।

प्राचीन कालमें राजाओंके नाम पर अनेक युद्ध हुअे हैं। राजाकी विषय-वासनाको तृप्त करनेके लिअे बड़ी बड़ी सेनायें किसी राजाकी राजकन्याको लूटनेके लिअे निकली हैं और दोनों सेनाओंका संहार हुआ है। यह कोअी नहीं कह सकता कि राजा-महाराजा और राजवंश सदा प्रजाके लिअे आशीर्वाद-रूप ही सिद्ध हुअे हैं। परन्तु अिस कारणसे कोअी यह नहीं कहता कि राज्यतंत्र ही नहीं रहना चाहिये — समाज-व्यवस्थाका ही नाश कर देना चाहिये। अिसके विपरीत, शासन-संस्थामें अुत्तरोत्तर सुधार किये जाते हैं और अुसे अुच्च भूमिका पर पहुंचानेके प्रयत्न किये जाते हैं। यही बात धर्मके विषयमें भी होनी चाहिये।

आत्मा, अीश्वर, परलोक और पुनर्जन्म धर्मकी पूंजी हैं — यह बात भले ही सच हो, किन्तु धर्म अंधा बनकर अिन्हींसे चिपटे रहनेको नहीं कहता। धर्मका अर्थ है जीवन-व्यवस्था। सयाने लोग सदा यही कहते आये हैं कि जिससे प्रजाका धारण हो सके, जिससे प्रजा परस्पर सहयोग साधकर अपना अुत्कर्ष कर सके वही धर्म है। जिस किसी व्यवस्थासे, विचार-पद्धतिसे और आचार-व्यवहारसे प्रजाका सब प्रकारसे अुत्तम कल्याण हो सके, अुसे धर्म कहा जाता है। धर्मका अर्थ है जीवन-मीमांसा, जीवन-व्यवस्था, जीवन-दृष्टि। जिस प्रकार वृक्षमें रहनेवाला जीवन-रस वृक्षको टिकाये रखता है, अुसे कृतार्थ करता है, अुसी प्रकार मनुष्य-समाजको टिकानेवाला और अुन्नतिके मार्ग पर ले जाने-

वाला जो तत्व होता है, जो संजीवनी-रूप जीवन-रस होता है, वही धर्म है। अिस हेतु या प्रयोजनके विरुद्ध जो कुछ भी सिद्ध हो वह धर्म नहीं है। वह यदि धर्मके नाम पर चलता हो, तो भी अुसे धर्मसे निकाल फेंकना चाहिये। 'प्रभवार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।' धर्मका अस्तित्व सारे प्राणियोंके विकासके लिअे, अुदयके लिअे और प्रगतिके लिअे है। 'धारणाद् धर्मम् अित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः।' यही धर्मका सच्चा स्वरूप है। धर्मका अर्थ ही संस्कृति है। धर्मका अर्थ ही व्यापक समाजशास्त्र है।

जहांसे मनुष्यमें समस्त सर्वोच्च वृत्तियां आती हैं वहींसे धर्म भी आया हुआ है। धर्म मनुष्य-मात्रके स्वभावमें बसी हुअी वस्तु है। धर्मका विरोध करके मनुष्य अुसके स्थान पर जो कुछ स्थापित करनेका प्रयत्न करता है, अुसमें भी धर्मके ही तत्व होते हैं। मनुष्य धर्मसे भाग कैसे सकता है?

यह सच है कि धर्मके नाम पर बोलनेवाले सभी लोगोंकी दृष्टिमें धर्मका अितना विशाल और विशुद्ध अर्थ नहीं होता। आज धर्मके नाम पर समाजमें असंख्य बल काम कर रहे हैं। अुनमें से अधिकतर बलोंका नाश करना शुद्ध धार्मिकोंका तथा प्रामाणिक धर्म-विरोधियोंका समान कर्तव्य है। अतः सबसे पहले धार्मिकोंको चाहिये कि वे 'नास्तिक' शब्दसे चौंकना छोड़ दें; और धर्मविरोधियोंको भी यह भ्रम छोड़ देना चाहिये कि जितने भी लोग धर्मके हिमायती हैं वे सब अंधविश्वासी हैं, स्वतंत्रता और प्रगतिके विरोधी हैं, जनताके कल्याणके शत्रु हैं।

आजकी समाज-व्यवस्थामें जितने ढोंग और पाखंड चलते हैं और आजके समाजशास्त्रमें जितनी गड़बड़ी है, अुतने ही ढोंग, पाखंड और गड़बड़ी धर्मके विषयमें भी पायी जाती है। अतः हम सबका मुख्य कार्य यह है कि अिन दोनोंको शुद्ध बनाकर जीवनमें अिनका अधिकसे अधिक अुपयोग करें। और जिस किसी वस्तुको शुद्ध बनाना हो अुसका अुपयोग करना ही अुसकी शुद्धिका सच्चा प्रारंभ है।

समाज क्या है, समाजकी व्यवस्था कैसी होनी चाहिये, वह व्यवस्था किन तत्वोंके आधार पर हो और किन तत्वोंके हाथमें वह व्यवस्था रहे, अिन सब बातोंका प्रत्येक युगको स्वतंत्र रूपसे विचार करना चाहिये। परन्तु यह सब निश्चित करनेसे पहले अिस बातका निश्चय होना चाहिये कि जीवन क्या है, जीवनका अुद्देश्य क्या है, मनुष्य-जातिको कहां जाना है और क्या प्राप्त करना है। कुछ लोग कहते हैं कि यह सब निश्चित किये बिना भी हम जी सकते हैं। जीना और जीनेमें सफल होना ही हमारा जीवन-हेतु है। पशु आज तक अिसी तरह रहते आये हैं। लेकिन पशुओंका और मनुष्योंका मार्ग अेक नहीं है। पशु अपने आप बिगड़ते भी नहीं और सुधरते भी नहीं। मनुष्यमें ये दोनों

शक्तियां हैं। और यदि सोचने-विचारनेके अंतमें, खोजके अंतमें, यह निश्चित हो कि जीना और सफल होना ही मनुष्य-जातिका भी आदर्श है, तब तो यही हमारा पुरुषार्थ होगा। अिसके आधार पर जो जीवन-क्रम निश्चित हो वही हमारा धर्म होगा। व्यक्ति, परिवार और समाज अिन सबका विचार करके जो भी पुरुषार्थ हमने निश्चित किया हो, अुसे सिद्ध करनेका अुपाय ही हमारा धर्म है। जिस जगतमें हम आये हैं अुसका समग्र परिचय करा कर अुसमें हमारा स्थान और अंतिम प्राप्तव्य जो निश्चित कर दे तथा वहां तक पहुंचनेका मार्ग बताये वही धर्म है।

धर्मकी इस कल्पनाके अनुसार अनेक धर्मोंका विचार करना होगा। कार्ल मार्क्सने भी अेक धर्म बताया है। लेनिनने अुसी धर्मका रूपान्तर कर दिया है। गांधीजी अिससे सर्वथा भिन्न धर्म बताते हैं। दोनों धर्मोंके आदर्शमें बहुत साम्य है, परन्तु दोनोंके साधनमें बड़ा भेद है। जर्मन दार्शनिक नित्शेने भी अेक धर्मका ही विस्तार कर दिखाया है। अिन सब धर्मोंकी जांच करके मनुष्यको पहले यह देखना चाहिये कि कौनसा धर्म मानव-जातिके लिअे हर दृष्टिसे पोषक है, कौनसा धर्म मानव-जीवनमें अुतर सकता है और सबका कल्याण कर सकता है। हमें धर्म ही नहीं चाहिये, अैसा कहकर भी धर्मसे भागा नहीं जा सकता। यह कथन या नीति भी अेक प्रकारका धर्म ही बन जाता है। और चूंकि यह भूमिका अुतावलीमें और घबराहटमें ग्रहण की हुअी होती है, अिसलिअे डर रहता है कि यह धर्म कहीं अधूरा, कच्चा, असुविधापूर्ण और मूल अुद्देश्यका नाश करनेवाला सिद्ध न हो। धर्म जीवनका संपूर्ण शास्त्र है, अिसलिअे अुस पर गहरा विचार होना चाहिये।

३०–६–'३३

४६

अंधभक्ति

जब कोअी राजनीतिक, सामाजिक अथवा धार्मिक चर्चा चलती है अुस समय विरोधी पक्षके किसी भी आदमीको देने लायक अेक गाली बोलचालमें खूब बैठनेवाली है। कोअी आदमी दूसरेका समर्थन करे या अमुक रूढ़िसे चिपटा रहे, तो फिर अुसके व्यवहारके पीछे चाहे जितना चिन्तन हो, चाहे जितनी स्वतंत्र दलीलें हों, तो भी अुसे अंधभक्त कहनेमें कोअी बाधा नहीं आती। जितने अनुयायी होते हैं अुतने सब अंध हैं, जितने धर्मका कट्टरतासे पालन करनेवाले होते हैं अुतने सब अंध हैं; और शास्त्रोंमें विश्वास करनेवालोंको तो अंधोंका भी अंध माना जाता है। यह शब्द सुधारवादियोंने भाषामें दाखिल किया है, परन्तु प्राचीन मताभिमानी लोग भी अिस शब्दका कम अुपयोग नहीं करते। तर्कका अुपयोग करें वे नास्तिक और भावनाको प्रधान मानें वे श्रद्धाजड़! टीका करनेकी अैसी सरल युक्तिकी खोज होनेके बाद हमारा सार्वजनिक जीवन यदि निष्फल सिद्ध हो, तो अिसमें आश्चर्यकी कोअी बात नहीं। आमने-सामने अेक-दूसरेको 'तू अंधा', 'तू अंधा' कहकर आज तक हमने क्या पाया? स्वार्थ, द्वेष या मत्सरके कारण देशमें फैली हुअी फूटमें अेक यह डर और बढ़ गया है कि अंधेपनका आरोप कहीं मुझ पर न लग जाय। और समाजका तो मानो यह अेक नियम ही बन गया है कि 'नासौ मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्'। जो मनुष्य अपना अलग मत न प्रकट करे वह बुद्धिमान कभी कहा ही नहीं जा सकता!

तब क्या अिस दुनियामें अंधभक्ति अथवा अंध-अनुयायित्व जैसी कोअी चीज है ही नहीं? नहीं, अैसा नहीं है। हमारे देशमें अथवा किसी भी देशमें अंधभक्ति अितनी ज्यादा है कि जहां अंधभक्ति न हो वहां भी लोगोंको अंधभक्तिका आभास होने लगता है! छापनेकी कलाका आविष्कार हुआ अुस दिनसे दुनियामें लेखकों और विचारकोंकी अेक बड़ी फौज निकल आअी है। लेकिन अुनके विचारोंकी हम बारीकीसे जांच करें, तो पता चलेगा कि किसी अेक युगमें अधिकसे अधिक दो-तीन ही नअी कल्पनाओंका अुद्भव हुआ है। बाकीके सामान्य लोग तो पुरानी कल्पनाको अथवा दूसरेकी कल्पनाको लेकर स्वयं जिस रूपमें अुसे समझे हों अुस रूपमें प्रस्तुत कर देते हैं। मनुष्य यदि अपने मनको निर्मल बनाकर अपने विचारों और मतोंकी जांच करे, अुनका मूल खोजनेका प्रयत्न करे, तो यह देखकर वह लज्जित हुअे बिना नहीं रहेगा कि अुनमें अुसका 'अपना' हिस्सा कितना कम है।

जो चीज —— फिर वह दूसरोंसे सुनी हुअी हो या अनेक लोगोंके मतोंका अेकत्र विचार करके निष्कर्ष रूपमें प्रस्तुत की हुअी हो —— हमारे गले अुतर गअी हो, अुसे अपनी कहनेमें कोअी हर्ज नहीं। युक्लिडने हजारों वर्ष पूर्व अपने भूमितिके सिद्धान्तोंको सिद्ध कर दिखाया था, फिर भी प्रत्येक विद्यार्थी जब अपने आप अुन सिद्धान्तोंकी शुद्धताको स्वीकार करता है तब कोअी अुसे युक्लिडका अंध अनुयायी नहीं कहता। हां, जैसे-तैसे मैट्रिककी परीक्षा पास करनेके लिअे युक्लिडके प्रमाणोंको बिना समझे ही घोट डालनेवाले किताबी कीड़ेको आप चाहें तो अंध अनुयायी मान सकते हैं।

शास्त्रमें अमुक वचन है अिसलिअे अुसे मानना ही चाहिये, यह कहने-वाला अंध अनुयायी है। शंकराचार्यके मुखसे अमुक सिद्धान्त निकला है अिसलिअे अुसकी मीमांसा हो ही नहीं सकती, अैसा माननेवाला मनुष्य अंध अनुयायी है। शास्त्रोंकी चर्चा हो ही नहीं सकती, यह प्रतिपादन करनेवाला अंध अनुयायी है। राजाकी गद्दी पर कोअी मनुष्य चढ़ बैठा अिसलिअे अुसमें संपूर्ण राजत्व आ गया, यह माननेवाले लोग अंध अनुयायी हैं। सरकारने कोअी कानून पास किया अिसलिअे वह न्यायपूर्ण होना ही चाहिये, अिस तरह माननेवाले अंध अनुयायी हैं। गोरी चमड़ीवालोंने कोअी वचन दिया है अिसलिअे अुसका पालन किया ही जायगा, अैसा माननेवाले अंध अनुयायी हैं। सरकारी रिपोर्टमें छपी हुअी हकीकतोंमें गलती हो ही नहीं सकती, अैसा जो मानता है वह अंध अनुयायी है। स्मृतियोंमें जो जो लिखा हुआ है वह सब त्रिकालके लिअे है, अिस तरहकी दलील करनेवाला भी अंध अनुयायी है। गोखलेने, तिलकने, शंकराचार्यने अथवा गांधीने कोअी बात कही है, केवल अिसीलिअे अुसे स्वीकार करनेवाला भी अंध अनुयायी ही है। आद्य शंकराचार्यने कभी यह नहीं कहा था कि मैं कहता हूं अिसीलिअे मेरी बात मान ली जाय। वर्ना अपनी प्रस्थानत्रयीके प्रत्येक वाक्यमें अुन्होंने तर्क न किया होता। 'अग्नि शीतल है अैसा सौ श्रुतियां कहें, तो भी हम अुसे कैसे मान सकते हैं?' यह स्वयं शंकराचार्यने ही स्पष्ट कहा है।

मत्स्यपुराण कहता है: 'जिज्ञासा नास्ति नास्तिक्यम्।' तिलक और गांधीने भी हमेशा यही कहा है कि आप हमारे विचारोंके दास न बनें। हम जो कहते हैं अुस पर पूरा विचार करनेके बाद यदि वह आपके गले अुतरे, तो ही आप अुसे स्वीकार करें। देश, काल और वर्तमानका विचार करनेके बाद जो सिद्धान्त आपके गले अुतरे, अुसीको आचरणमें अुतारिये। आपके विचार और आपके आचारमें कोअी भेद नहीं होना चाहिये। आप अैसा नहीं करेंगे तो आपमें कायरता आ जायेगी, आप दीन बन जायंगे, आप अधर्मी हो जायंगे।

श्रेष्ठ पुरुष, ज्ञानी पुरुष अथवा तपस्वी पुरुष जो कुछ कहते हैं वह आसानीसे अुड़ा देने जैसा नहीं होता, अिस प्रकारकी मान्यता श्रद्धा है।

सत्यवादी सज्जन अपने अनुभवके रूपमें जो कुछ कहते हैं अुस पर आदरपूर्वक विचार करना श्रद्धा है। हमारी मनःस्थिति जब विकार और मोहसे मुक्त हो अुस समय अंतरकी शुद्ध आवाज जो कहे अुसका अनुसरण करनेकी वृत्ति श्रद्धा है। सत्यको कोअी आंच नहीं आती, शुद्ध प्रेम और शुद्ध करुणासे किसीका कभी नुकसान नहीं होता, अीश्वर किसी भी समय किसीका त्याग नहीं करता — अैसी अैसी मानव-हृदयकी जो विश्वजनीन तथा सार्वभौम भावनायें हैं अुनकी दृढ़ प्रतीति श्रद्धा है।

आद्य धर्माचार्योंकी वाणीको आगे-पीछेका विचार किये बिना अर्थ करनेके लिअे केवल व्याकरणके हाथमें सौंप देनेकी वृत्ति अंधश्रद्धा है। रूढ़ियोंको युक्ति अथवा नीतिकी कसौटी पर कसनेसे अिनकार करना अंधश्रद्धा है। देशसेवाका मार्ग नीतियुक्त होते हुअे भी वह राजमान्य है या नहीं, अिस विचारमें अुलझना अंध-श्रद्धा है। जो आज तक नहीं हुआ वह भविष्यमें भी कभी नहीं होगा, अिस तरह मनमें गांठ बांध लेना अंधश्रद्धा है। हम कुछ भी न करें, स्वार्थत्याग अथवा पुरुषार्थ-का नाम भी न लें, तो भी स्वराज्य-सूर्यका अपने आप अुदय होगा — यह मान लेना अंधश्रद्धा है। बाजारमें, कोर्ट-कचहरीमें, होटलोंमें या सरकारी स्कूलोंमें अन्त्यजोंको छूनेमें कोअी हर्ज नहीं, परन्तु राष्ट्रीय शालाओंमें अंत्यजोंके साथ पढ़नेमें सनातन धर्मका सनातनत्व मिटकर वह डूब जाता है — अैसा मानना भी अंधश्रद्धा है। हमारे अखबारोंमें शराब आदि मादक पदार्थों और काम-विलासमें मदद करनेवाली दवाअियोंके विज्ञापन धनलोभसे छपते रहने पर भी यदि हम यह मानें कि हमारे लिखे हुअे संयम और ब्रह्मचर्य-सम्बन्धी लेखोंका समाज पर प्रभाव पड़ेगा, तो यह हमारी अंधश्रद्धा है। दिनोंदिन देशकी आर्थिक अवनति होने पर भी यह मानना कि देश समृद्ध और सम्पन्न हो रहा है, अंधश्रद्धा है। और, गोरोंके अधिकाधिक अुद्धत बनते जानेका प्रतिक्षण अनुभव होने पर भी यह मानना अंधश्रद्धा ही है कि धारासभामें बैठकर देशका हित किया जा सकता है तथा स्वराज्य भी प्राप्त किया जा सकता है।

अिस प्रकारकी अंधश्रद्धाओंसे मुक्त होना प्रत्येक मनुष्यका सर्व-प्रथम कर्तव्य है। समाजके नेताओं, राजनीतिज्ञों तथा धर्मगुरुओंका अैसी अंधश्रद्धासे मुक्त होना विशेष आवश्यक है, क्योंकि यदि वे अंध बने रहे तो समाजकी दशा 'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः' जैसी होगी। अितिहास और तर्क ये शास्त्रोंकी दो आंखें हैं। अिनके अध्ययनके बिना यदि कोअी धर्मोपदेशक बन जाय, तो वह अंध कहा जायगा; और अैसे धर्मोपदेशकके पास धर्म-निर्णयके लिअे जानेका अर्थ होगा 'दृष्टिकी खोजमें निकलते समय अंधापन स्वीकार कर लेना'।

१९२१

४७

अंधविश्वास और श्रद्धा

अेक लोककथा कहती है कि 'काली चौदसकी रातमें — ठीक आधी रातके समय यदि नाक काटी जाय, तो दूसरे दिन सुबह सोनेकी नाक निकल आती है।' भगवद्गीतामें कहा गया है कि 'जो मनुष्य कल्याणकारी है अुसकी दुर्गति नहीं होती।' सामान्य मनुष्यका अिन दोनों वचनों पर अेकसा अविश्वास होता है, क्योंकि दोनों वचनोंका प्रत्यक्ष अनुभव किसीको भी नहीं होता। भोला-भाला आदमी बचावमें कहेगा कि 'नाक न निकले तो दोष हमारा है। ज्योतिषके अनुसार काली चौदसकी तिथि निश्चित करनेमें भूल हुअी होगी या ठीक आधी रातका क्षण पकड़में नहीं आया होगा, अिसीलिअे सोनेकी नाक नहीं निकली। पूर्वजोंके वचन तो कभी झूठे हो ही नहीं सकते। हमारी ही कोअी भूल हो गअी होगी।' श्रद्धालु मनुष्य कहेगा: 'यह ठीक है कि कल्याणकारी धर्मराज पर आपत्ति आ पड़ी थी। परन्तु वह सच्ची आपत्ति ही नहीं थी। बाहरी लाभालाभकी कीमत ही क्या है? धर्मराजको निरन्तर भगवानका सहवास मिला। अिससे भिन्न सद्गति भला क्या हो सकती है? कष्ट-सहनको तो कायर लोग ही विपत्ति मानेंगे। भगवानने यह वचन दिया है कि कल्याणकारीकी दुर्गति कभी हो ही नहीं सकती।'

प्राकृत मानव अिन दोनों बचावोंसे असंतुष्ट रहता है। अुसकी दृष्टिमें अिन दोनों वचनों पर रखा जानेवाला विश्वास समान रूपसे अंधश्रद्धाकी निशानी है। दंभका आवरण हटा दें और औपचारिक धर्मनिष्ठाको दूर कर दें, तो आजकी दुनियामें अैसे प्राकृत लोगोंकी संख्या ही अधिक दिखाअी पड़ेगी।

फिर भी क्या अुपर्युक्त दोनों वचन और अुन पर रखी जानेवाली श्रद्धा अेकसे ही माने जा सकते हैं? पहला वचन भौतिक जगतके बारेमें अेक झूठा नियम प्रस्तुत करता है, जब कि दूसरा वचन अेक आध्यात्मिक सिद्धान्तका प्रतिपादन करता है। पहले वचनकी सत्यताकी जांच करनेके लिअे जिस प्रकारकी कसौटी आवश्यक है वैसी दूसरे वचनके लिअे आवश्यक नहीं है। मनुष्यको नअी नाककी जरूरत ही क्यों होनी चाहिये? वह नाक सोनेकी क्यों होनी चाहिये? काली चौदसके साथ सोनेकी नाकका क्या सम्बन्ध? आधी रातमें अैसा कौनसा जादुअी प्रभाव है? ज्योतिषके अनुसार काली चौदसका दिन निश्चित करना और आधी रातके क्षणको बराबर पकड़ना, ये दोनों बातें कठिन भले ही हों, किन्तु असंभव बिलकुल नहीं। प्रत्यक्ष अनुभवके बिना अैसी बातको सत्य माना

ही नहीं जा सकता। और अैसा विचित्र अनुभव करनेसे पहले तो अिस बातकी जांच करनी चाहिये कि अिस वचनमें कोअी बुद्धि-प्रयोग या सचाअी है या नहीं। अिस तरहका वचन सुनते ही अुसका प्रयोग करनेको तैयार हो जाय, अितना बेवकूफ तो अिस वास्तविक जगतमें कोअी नहीं मिलेगा।

दूसरा वचन आध्यात्मिक है। सामनेवाला आदमी अुपकार करे या न करे अथवा अपकार करे, तो भी अिस बातका कोअी विचार किये बिना सभी लोगोंके साथ जो सज्जनताका व्यवहार करते हैं अुन कल्याणकारी आर्य पुरुषोंको आंतरिक संतोष मिलता है, यह प्रत्यक्ष अनुभवकी बात है। बाहरी आपत्तियां अुन पर कितनी ही क्यों न आ पड़ें, अपने हृदयकी महत्ता ही अुन्हें अपार आनंद देती है। यही कारण है कि वे कभी अस्वस्थ नहीं होते। समाज भी जानता है कि अैसे पुरुष आपत्तिमें भी चमक अुठते हैं। अुनके चरित्रका असर समाज पर अधिकाधिक होता रहता है। अुनकी बुद्धि सदा प्रसन्न और निर्मल रहती है, अिसलिअे अुनकी दुर्गति नहीं होती। मान लीजिये कि अैसा प्रत्यक्ष अनुभव अुन्हें नहीं हुआ, तो भी अुससे क्या? कौनसा आर्य हृदय दुराचरणको पसंद करेगा? बड़ेसे बड़े प्रलोभनोंमें भी वे दुराचरणकी ओर नहीं मुड़े, यह संतोष ही अुन्हें अपार शांति प्रदान करता है। जब मनुष्य बदला लेनेके लिअे भी कोअी हीन कृत्य करता है तब अुसकी आत्म-प्रतिष्ठा नष्ट हो जाती है। समाज भले ही अुसकी प्रशंसा करे, लेकिन हृदयकी अप्रसन्नताके सामने अुस सामाजिक प्रतिष्ठाका कोअी मूल्य नहीं होता। आत्म-प्रतिष्ठा खोकर मनुष्य सामाजिक प्रतिष्ठा पाता है तब अुसके लिअे वह लाभदायी सिद्ध नहीं होती। मनुष्य कितने ही आवेशसे अपना बचाव क्यों न करे, परन्तु वह बचाव अुसे स्वयं ही पोला और पंगु मालूम होता है। अिसीलिअे कल्याणकारीकी दुर्गति नहीं होती। यह वस्तु स्वयंसिद्ध है, अिसे अुसका हृदय स्वीकार करता है। अिस वचनका भावार्थ हृदय-धर्मके साथ अितना अधिक समरस हो जाता है कि हृदय अिस वचनको हर बार अनुभवकी कसौटी पर भी चढ़ाना नहीं चाहता।

धार्मिक श्रद्धासे कहे गये वचनों और अंधविश्वासके वचनोंमें आकाश-पातालका अंतर होता है। आजका प्राकृत युग कभी कभी धार्मिक श्रद्धाके साथ धर्मके नाम पर चलनेवाले तमाम अंधविश्वासोंको भी टिकाये रखना चाहता है; और बादमें अिसके कड़वे फलोंके अनुभवसे घबरा कर अंधविश्वासोंके साथ धार्मिक श्रद्धाको भी अेक ही झटकेमें अुड़ा देना चाहता है।

'हाथकी कोहनीसे दो बालिश्त जमीन खोदनेसे पाताल दिखाअी देता है;' तथा 'आदर्श ब्रह्मचारी पूर्ण नीरोग और प्रसन्न प्रज्ञावाला होता है'—अिन दोनों वचनोंकी प्राकृत लोग अेकसी कदर करते हैं। लेकिन अिससे ये दो वचन समान कोटिके नहीं हो सकते। आज कायिक ब्रह्मचर्यके साथ मानसिक ब्रह्मचर्यका

अनुभव करनेवाले लोग अितने कम हैं कि ब्रह्मचर्य-सम्बन्धी अुपरोक्त वचनका अतिशयोक्तिपूर्ण लगना आश्चर्यजनक नहीं होगा। परन्तु जिन लोगोंने अिस दिशामें कुछ ठोस और लंबा अनुभव प्राप्त किया है, वे अपने अनुभवसे अनुमान लगाकर अिस वचनको पूर्ण रूपसे स्वीकार करनेके लिअे तैयार होते हैं। वे कहेंगे कि जिस प्रकार घर्षण-रहित यंत्र तैयार करना कठिन है, परन्तु कमसे कम घर्षणवाले नये नये यंत्र अधिकाधिक सफलतासे तैयार किये जा सकते हैं, अुसी प्रकार संपूर्ण ब्रह्मचर्यकी कोटिको पहुंचा हुआ मनुष्य दुर्लभ होने पर भी ब्रह्मचर्य-सम्बन्धी अुपर्युक्त वचनको कोअी आंच नहीं आ सकती। जिस प्रकार गणितमें अनंत-श्रेणी सम्बन्धी सिद्धान्त निर्विवाद सत्य होते हैं, अुसी प्रकार सरल कोटि विषयक आध्यात्मिक सिद्धान्त भी सत्य ही होते हैं।

अंधविश्वास तथा श्रद्धाके बीचकी समानता और विरोधको ध्यानमें रखकर हमें धर्मका संस्करण और परिष्करण करनेमें प्रवृत्त होना चाहिये। जिस प्रकार मंद अग्नि पर राख जमने लगती है और वह राख धीरे-धीरे अुस अग्निको बुझा देती है, अुसी प्रकार धर्ममें घुसे हुअे असंख्य अंधविश्वास धीरे धीरे धर्मका गला घोंट देते हैं। अंधविश्वास अज्ञानसे अुत्पन्न होते हैं। ज्ञानके विषयमें, सत्यके विषयमें प्रखर जिज्ञासा न होनेसे ही वे टिकते हैं। अंधविश्वास निरी नास्तिकता है। जिस प्रकार असावधान वैद्य या डॉक्टर बेवकूफी या लापरवाहीसे चाहे जैसी दवा चाहे जिस बीमारको दे देता है, अुसी प्रकार सत्यकी, सच्ची धार्मिकताकी परवाह न करनेवाले मूर्ख लोग ही अंधविश्वासोंको चलाते हैं और झूठे आश्वासनोंसे शांति पानेके अिच्छुक दुर्बल-हृदय मानव अैसे अंधविश्वासोंको टिकाये रखते हैं। जिस आदमीको अपनी तबीयत सुधारना है वह अपनी तबीयतके साथ दवाके गुण-दोषोंकी भी पूरी जांच करता है; अुसी प्रकार जिसे धार्मिकताका विकास करना है, सत्यरूपी स्वास्थ्य प्राप्त करना है अैसा प्रत्येक मनुष्य हरअेक मान्यताको बुद्धि और अनुभवकी कसौटी पर कसे बिना नहीं रहता।

हमारा समाज धर्मके विषयमें अितना लापरवाह हो गया है कि न तो लोगोंको सनातन श्रद्धाओंका विकास करनेकी कोअी चिन्ता है और न समाजकी ज्ञानशक्ति और प्राणशक्तिको घुनकी तरह धीरे धीरे नष्ट करनेवाले असंख्य अंधविश्वासोंकी निन्दा करनेकी चिन्ता है। समाजमें और खास करके निष्पाप और मेहनती सामान्य लोगोंमें जो अकर्मण्यता, निराशा और वृद्धत्व आ गये हैं, अुनका कारण जितनी भुखमरी है अुतनी ही अश्रद्धा और अंधविश्वास भी हैं। अिन सबको दूर करके जब तक धर्मकी शुद्धि नहीं की जाती तब तक समाजको संजीवन प्राप्त नहीं होगा। भुखमरीको हम मिटायेंगे तो ही लोग हमारी बात सुननेको तैयार होंगे। परन्तु जब वे हमारी बात सुननेको तैयार हों अुस समय हमें अुन्हें

अंधविश्वासोंका नाश करनेवाली और श्रद्धा अुत्पन्न करनेवाली सत्यकी अमृत-वाणी सुनानेको तैयार रहना चाहिये। अंधा अंधेको रास्ता नहीं दिखा सकता।

२४-७-'२७

४८

चिट्ठीका निर्णय ?

धर्मनिष्ठ और जिम्मेदार मनुष्यके लिअे भी कभी कभी किसी प्रश्न पर स्पष्ट निर्णय करना कठिन हो जाता है। कोअी समय अैसा भी आता है जब मनुष्यको वह चीज, जिसके बारेमें वह निर्णय करना चाहता है, अपने जीवनसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण लगती है। अैसे समय मनुष्य संभवतः यह व्याकुलता भी अनुभव कर सकता है: "अितनी महान वस्तुका आधार अीश्वरने मुझ जैसे अल्प शक्तिवाले सामान्य मानव पर क्यों रखा होगा?"

जिस विषयमें मनुष्यकी अपनी बुद्धि नहीं चलती अुसमें अपनेसे श्रेष्ठ विभूतिकी सलाह लेनेके लिअे अुसका प्रेरित होना स्वाभाविक और अुचित है। जिसके पास श्रेष्ठ बुद्धिमत्ता और निष्पक्ष हृदय होता है, अुसकी सलाह लेनेके लिअे अनेक लोग दौड़ेंगे ही। अैसे आर्य लोग सलाह देते समय या तो अपना अधिकारपूर्ण निर्णय स्पष्ट शब्दोंमें देकर शांत और अलिप्त हो जाते हैं अथवा यदि अुनमें शिक्षककी वृत्ति हो तो अपने निर्णयके साथ वे निर्णय करते समय किये हुअे साधक अथवा बाधक विचार भी कह सुनाते हैं। कभी कभी वे दोनों पक्षोंके विचार प्रस्तुत करके अंतमें अपना निर्णय देनेसे अिनकार भी कर देते हैं। अैसे आर्य पुरुष शब्दकोशकी तरह सदा हमारे पास नहीं रहते। अिसलिअे बहुत बार मनुष्यको अपनी ही बुद्धिका — फिर वह कैसी भी हो — अुपयोग करके किसी प्रश्नके विषयमें निर्णय करना पड़ता है।

कभी कभी निर्णय करते समय कष्टदायी दुविधा मनुष्यके सामने खड़ी हो जाती है। और वह दूर होती ही नहीं! किसी समय निर्णयमें दो पक्ष अैसे खड़े हो जाते हैं कि मनुष्यका मन दोनों ओर समान रूपसे झुकने लगता है। दोनों ओरकी दलीलें अेकसी अहम होती हैं, लाभ और हानि अेकसे दीखते हैं, प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष परिणाम भी अेकसे ही महत्त्वपूर्ण लगते हैं। अैसी परिस्थिति जब खड़ी हो जाती है तब मनुष्य लाचार बनकर चिट्ठियां डालनेका अुपाय आजमाता है। मैं मानता हूं कि यह अुपाय मनुष्यकी बुद्धिको, महत्ताको और अुसकी अीश्वर-निष्ठाको शोभा नहीं देता।

बुद्धिका कांटा बिलकुल संतुलित रहे, सर्वथा मध्यस्थ रहे, अैसा क्वचित् ही होता है। लेकिन अुसके तटस्थ हो जानेके कारण ही मनुष्य बुद्धिशून्य, अकस्मात्-मूलक चिट्ठियोंकी शरण ले तो यह ठीक नहीं है। अमुक निश्चित परिस्थितियोंमें मनुष्यको स्पष्ट निर्णय करना आना ही चाहिये। गहरा विचार करके किसी निश्चित अभिप्राय पर पहुंचनेके लिअे बुद्धिकी अेकाग्रता और निर्णय करनेका साहस दोनोंकी जरूरत होती है। यह बात बहुतसे लोगोंके ध्यानमें नहीं आती कि विचार करनेमें भी श्रमकी आवश्यकता होती है। कुछ लोग विचार करनेमें ही आलसी होते हैं। जिस प्रकार विदेशी तैयार माल आसानीसे मिल जानेके कारण ही मनुष्य दुकानसे अुसे खरीद लेता है, अुसी प्रकार सोचने-विचारनेकी झंझटके कारण मनुष्य येन-केन-प्रकारेण किसीके भी मतको अपना मत बनाकर काम चलानेके लिअे प्रेरित होता है।

निर्णयकी जिम्मेदारी लेनेकी हिम्मत न करनेवाला मनुष्य भी दूसरे मनुष्यकी, और दूसरा कोअी मनुष्य न मिले तो चिट्ठीकी, शरणमें जाता है। विचार करनेका आलस्य और जिम्मेदारीसे कम-ज्यादा बचनेकी नीयत — दोनों ही धर्मके विरुद्ध हैं। अिन दोनोंको श्रद्धा, भक्ति अथवा नम्रता जैसे दैवी गुणोंके साथ मिला देना ठीक नहीं है। चिट्ठीकी शरणमें जानेवाला मनुष्य अीश्वरकी शरणमें नहीं जाता, परन्तु अकस्मात्की शरणमें जाता है। दैव और अकस्मात् अेक ही चीज हैं। दोनों अदृष्ट होते हैं। जिसका कारण दृष्ट नहीं होता वह अदृष्ट है, अ-कस्मात् है।

मान लीजिये कि बुद्धिका कांटा बिलकुल तटस्थ है, परन्तु अेक ओर या दूसरी ओर कोअी न कोअी निर्णय करना अनिवार्य है। अैसे समय मनुष्यको अपने हृदयकी शरणमें जाना चाहिये। ॠषि कहते हैं : 'हृदयेन हि सत्यं जानाति।' मनुष्यकी निर्णय-शक्ति, साहस, जिम्मेदारी और स्वतंत्रता हृदयमें ही प्रतिष्ठित होते हैं; और हृदय कभी तटस्थ नहीं रह सकता।

'सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणम् अन्तःकरणप्रवृत्तयः।'

अवसर कितना भी गंभीर और महत्त्वपूर्ण क्यों न हो, मनुष्यको अुतना अूंचा अुठना या अुड़ना ही चाहिये। अपने हृदय पर विश्वास रखकर मनुष्यको प्रसंगानुसार बड़ा बनना ही चाहिये।

चिट्ठियोंके खिलाफ हमारी मुख्य दलील यह है कि वे मनुष्यको अपनी जिम्मेदारीसे मुक्त करके अुसे नास्तिक और कायर बनाती हैं। चिट्ठी डालकर मनुष्य जो कदम अुठाता है, अुसके लिअे कौन जिम्मेदार है? समाजके सामने तो वह खुद ही जिम्मेदार है। परन्तु मनमें वह दैवकी शरणमें गया है, मनके सामने वह खुद जिम्मेदार नहीं है। अैसी स्थितिमें आध्यात्मिक दृष्टिसे अुसके

अिस निणयकी कीमत शून्यसे भी कम है। अितनी हद तक अुसका मानव-जीवन व्यर्थ गया।

अेक तर्क यह है कि अीश्वरकी दुनियामें अकस्मात् जैसी कोअी चीज है ही नहीं; हरअेक चीजके लिअे कार्य-कारण-भाव होता है और अिसलिअे चिट्ठीके निकलनेमें या अुछाले हुअे पैसेके गिरनेमें अीश्वरकी अिच्छा अवश्य ही प्रकट होती है। पहली दृष्टिमें यह तर्क सच्चा मालूम होता है, परन्तु वह निरा भ्रम है। दुनियामें अकस्मात् जैसी कोअी चीज नहीं है। प्रत्येक घटना कार्य-कारण-सम्बन्धसे जुड़ी हुअी है, यह भी सच है। परन्तु अिसके लिअे हम भ्रमवश चाहे जैसे कार्य-कारण-सम्बन्ध स्थापित करने बैठ जायं, तो यह कैसे चल सकता है? मेरी बात तू मानेगा तो तू बुद्धिमान है, वर्ना तू मूर्ख है — अैसा हम किसी आदमीसे कहें, तो भी अुसकी बुद्धिमानी या मूर्खता अुसकी आज्ञाकारितामें नहीं समा जाती; जिसकी जीभ नाकके सिरे तक न पहुंचे अुसे अपने माता-पिता प्रिय नहीं हैं — अैसा बालकोंसे हम कहें, तो अुसके आधार पर बालकोंके प्रेमकी परीक्षा नहीं होती; आज मेरे मित्रका पत्र आयेगा तो ही मैं मानूंगा कि वह जिन्दा है, वर्ना मानूंगा कि वह मर गया है — अैसा निर्णय करके बैठ जानेवाले आदमीके संकल्प पर अुसके मित्रकी आयु अवलंबित नहीं होती; अुसी प्रकार चिट्ठियां डालनेमें बुद्धिमानी अथवा शुद्ध निर्णय नहीं आ सकता। मनुष्यके शराब पीकर धर्मबुद्धि या डरपोकपनको मिटानेमें जितनी बुद्धिमानी या बहादुरी है अुतनी ही बुद्धिमानी और अीश्वर-निष्ठा चिट्ठियां डालकर मनका संशय अथवा दुविधा मिटानेमें है।

अेक बार अेक सज्जनने किसी अवसर पर कोअी निर्णय न कर सकनेके कारण चिट्ठियां डालीं। चिट्ठीका अुत्तर ही अीश्वरकी प्रेरणा है, अैसा वे मानते थे। चिट्ठीका अुत्तर अुन्हें मिला। अुस निर्णयके अनुसार चलनेकी तैयारी अुन्होंने की; अितनेमें अपने अेक बुजुर्गका पत्र अुन्हें मिला। अुसमें लिखी तफसील और सलाहके मुताबिक अुन्हें अपना चिट्ठीका निर्णय बदलना पड़ा! अिस मामलेमें यदि यह कहा जाय कि 'घंटे भर पहले चिट्ठीका निर्णय ठीक था; लेकिन अब अधिक तफसील और सलाह मिल गअी है, अिसलिअे त्रिकाल-दर्शी सर्वज्ञ अीश्वरने पहलेका निर्णय रद कर दिया है', तो वह हास्यास्पद ही माना जायगा।

कुछ लोग यह मानते हैं कि 'पैसेके सिक्केको हम जैसेका वैसा अुछालें, तो भौतिक शास्त्रके नियमके अनुसार वह गुलाट खाकर बिना चूके शास्त्रसिद्ध रीतिसे ही अुलटा या सुलटा जमीन पर गिरेगा। अुछालते समय दी गअी मूल प्रेरणा यानी जोर, हवाकी गति आदि निश्चित कारणोंके फलस्वरूप अुसका अमुक ही पहलू अूपर आयेगा। अनिश्चितता मुख्यतः पैसेको अुछालते समय काममें ली गअी शक्तिके माप और दिशामें ही रहती है। परन्तु जब मनुष्य विशेष संकल्पके साथ

शरणागत होकर सिक्का अुछालता है तब कोअी दैवी शक्ति बीचमें पड़कर अुसकी अंगुलियोंको विशेष प्रेरणा देती है।'

भोलेभाले लोगोंको अपनी बात सिद्ध करनी है अथवा मनवानी है, अिसलिअे अुन्हें बुद्धि पर अत्याचार करके अैसी दलीलें करना सूझता है। मान लीजिये कि दो भाअियोंको किसी गांव जाने या न जानेका निर्णय करना है। स्थिति अैसी है कि दोनों साथ जायें तो ही अुनका काम हो सकता है। किसी अेकके जानेसे काम नहीं चल सकता। अैसे मौके पर मान लीजिये कि दोनों अेक-दूसरेसे कहे बिना स्वतंत्र रूपसे अपने अपने कमरेमें जाते हैं और अीश्वरकी शरणमें जाकर चिट्ठियों द्वारा जाने या न जानेका प्रश्न हल करते हैं। अिसमें अेक भाअीको अुत्तर मिलता है कि 'जाओ' और दूसरेको अुत्तर मिलता है कि 'मत जाओ'। अब वह दैवी या अदैवी गूढ़ शक्ति कहां गअी? भोले लोग अिसका अुत्तर देंगे कि 'अीश्वरने जान-बूझकर अुन्हें अुलझनमें डाला था; अीश्वर चाहता था कि दोनों मिलकर अेक ही चिट्ठी डालें और अपना निर्णय प्राप्त करें। 'स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया'। अिसलिअे किसी भी चीजको दलीलोंकी टांगों पर खड़ा किया जा सकता है। परन्तु अैसी दलीलें बुद्धि और आस्तिकताका दिवाला सूचित करती हैं। अपने हृदयके विश्वासको खोकर हम अीश्वर पर कभी अपना विश्वास बढ़ा नहीं सकते। थोड़ी देर सोचकर और समय न हो तो क्षणभरके लिअे बुद्धि और हृदयको योगयुक्त बनाकर निर्णय प्राप्त करना चाहिये और अुसके अनुसार 'सुख-दुःखे समे कृत्वा' आचरण करना चाहिये तथा यह समझना चाहिये कि सच्चा फल बाहरी बातोंमें नहीं है, किन्तु हृदयके विकास और बुद्धिके अुपयोगमें है; अिसीमें मानव-जीवनकी सार्थकता है।

हम यह नहीं कहना चाहते कि चिट्ठी डालनेका कोअी लाभ ही नहीं है। जहां दोनों पक्ष समान रूपसे महत्त्वरहित हों, कोअी न कोअी निर्णय देना अनिवार्य हो तथा किसी अेक पक्षके निर्णयको दूसरा पक्ष स्वीकार न करे, वहां चिट्ठियां डाली जा सकती हैं। अुदाहरणके लिअे, खेल-कूदमें कौनसा पक्ष पहले खेलना आरंभ करे यह तय करनेके लिअे यदि चिट्ठियां डाली जायं या पैसा अुछाला जाय, तो पक्षपातकी शंका न रहे और खेल-कूद शुरू हो जाय। दो अेकसी पुस्तकोंमें से अेकका पुट्ठा लाल है और दूसरीका हरा है। दो लड़के अिनमें से कोअी पुस्तक पसंद नहीं कर पाते और आपसके समझौतेसे भी किसी निर्णय पर आना नहीं चाहते। अैसे मौके पर कोअी आदमी आंखें बंद करके दोनों पुस्तकोंको अपने हाथोंमें ले और दोनों लड़कोंसे आंख बंद करके अेक अेक पुस्तक ले जानेको कहे, तो पुस्तकोंका बंटवारा हो सकता है। यह मजेकी बात है। रंगके साथ पुस्तकोंका कोअी सम्बन्ध नहीं है; और लड़कोंका झगड़ा निबट जाता है। परन्तु जिस मामलेमें निर्णयका थोड़ा भी महत्त्व हो अुसमें बुद्धि

और हृदयका अुपयोग करना चाहिये और जिसका अधिकार हो अुसे ही जिम्मेदारीके साथ निर्णय करना चाहिये। अिसीमें मानव-जीवनकी महत्ता है और बुद्धिदाता अंतर्यामी प्रभुके प्रति हमारी निष्ठा है।

१९३१

४९

धर्म-संकटमें क्या किया जाय?

हमारे सामने धर्म-संकटके अनेक अवसर आते हैं। अुस समय हमें सूझता नहीं कि क्या किया जाय? अिस बारेमें गहरा विचार करनेके बाद मैं अेक निर्णय पर पहुंचा हूं।

जब तक मनुष्य निचली भूमिका पर रहता है तब तक दो मार्गोंमें से अेक ही मार्ग विहित होता है; परन्तु ज्यों-ज्यों मनुष्य अूपर अुठता जाता है त्यों-त्यों कर्मकी बाहरी सूक्ष्मता-असूक्ष्मता (योग्यायोग्यता) का महत्त्व घटता जाता है। अनेक मार्ग समान रूपसे अुचित होते हैं। अुस समय किस वृत्तिसे प्रेरित होकर हम कोअी अेक मार्ग पसंद करते हैं, अिसी बात पर सारा आधार रहता है; क्योंकि अैसे समय प्रेरक वृत्ति ही कर्मका सार होती है। अिस मायावी जगतमें कर्मका परिणाम अच्छा क्या और बुरा क्या?

यहां मुझे हिमालयके अेक संन्यासीका वचन याद आता है: 'संत करे सो छाजे'—संत करे सो अच्छा। नीतिकी मीमांसा अिससे अधिक गहराअीमें नहीं जा सकती।

अूंची कला, अूंची रसिकता और अूंची नीतिमत्ताको कलाकारसे, रसिकसे और संतसे अलग किया ही नहीं जा सकता। जिस कला-रसिक पर हमारी श्रद्धा हो अर्थात् जिस कला-रसिकने हमारी श्रद्धा प्राप्त करनेके लिअे पर्याप्त तपस्या की हो, वह जब कहता है कि 'यह चित्र सुन्दर है' तब हम तुरन्त ही किसी प्रयत्न अथवा विलम्बके बिना अुस चित्रमें सुन्दरताका दर्शन कर सकते हैं। स्वादमें अिष्ट क्या है और अनिष्ट क्या है—अर्थात् कौनसे स्वादको रुचिकर मानना चाहिये और कौनसे स्वादको रुचिकर नहीं मानना चाहिये—यह बात जितनी हम कुदरतसे सीखते हैं अुतनी ही मांसे भी सीखते हैं।

[मुझे अेक घटना याद है। अुस समय मैं बच्चा ही था। हम लोग रामदुर्गमें रहते थे। मेरी मांने गुलाबका अेक सुन्दर सुगंधित फूल मुझे सूंघनेको दिया। मुझे अुसकी गंध अच्छी नहीं लगी! मांने मुझे अुलाहना दिया और कहा: "तू अिसकी सुगंधको अनुभव नहीं कर सकता? तुझे अिसकी सुगंध प्यारी

नहीं लगती? कैसा 'वनमानुष' है!" बस, अुसी क्षणसे मैं गुलाबको हृदयसे सुगंधित फूल माननेवाला बन गया, गुलाबको सूंघकर मुझे अपूर्व आनंद आने लगा। मैं आशा करता हूं कि आप लोग मुझे दुनियासे निराला (freak) आदमी नहीं मानेंगे।]

संत — जीवित संत हमें जो मार्ग बतायें वही योग्य मार्ग है। जिस हद तक हमारे भीतर संतके गुण आये होंगे अुस हद तक हमारी जागृति ही धर्माचरण है। अिस मान्यतामें अराजकता नहीं है, अव्यवस्था नहीं है। बाहरी बंधन न होनेका अर्थ यह नहीं कि व्यवस्था नहीं है। जीवनमें सभी जगह कहां बाह्य नियमन और नियंत्रण होता है?

जीवनकी व्याख्या करना असंभव है। जीवनको नियम-बद्ध करना असंभव है। जैसे जीवन स्वतंत्र (स्वबद्ध) है वैसे नीतिधर्म भी स्वतंत्र है। नीतिको मनुष्यसे कभी अलग नहीं किया जा सकता। 'Morality is subjective' अिस वचनका यह नया अर्थ है।

तब क्या सामाजिक नीति जैसी कोअी चीज है ही नहीं? अैसी बात नहीं। समाज अेक अर्ध-जीवंत रचना है। जिस हद तक अुसमें आत्माका प्रवेश होता है अुस हद तक अुसकी अपनी नीति अवश्य होती है। परन्तु व्यक्तिगत नीति, संतोंकी नीति और सभ्य समाजकी नीति परस्पर विरोधी नहीं होती — अेक ही होती है।

नीतिकी यह मीमांसा पाश्चात्यों द्वारा विकसित की हुअी नीति-मीमांसा जैसी लगती है, परन्तु तत्त्वतः यह अुससे सर्वथा भिन्न है।

पाश्चात्य नीतिके पीछे द्वैत है। 'द्वितीयाद्वै नीतिस्संभवति' यह अुनका सूत्र है। अद्वैतमें नीतिके लिअे कोअी स्थान नहीं है।' 'Morality is the law of conduct towards others' यह पाश्चात्य तत्त्वज्ञानकी व्याख्या है। हम कहें: 'Morality is the law of self-realisation.' अिस व्याख्याको ध्यानमें रखें और आत्मानुभूतिके स्वरूपको समझें, तो धर्म-संकट कभी नहीं आयेगा।

सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु।
प्रमाणं अन्तःकरणप्रवृत्तयः॥

३०-१२-'२०

५०

मरणोत्तर जीवनकी स्पष्ट कल्पना

स्वर्ग-नरकके अितिहास और भूगोल पुराणोंमें खूब पढ़नेको मिलते हैं। जैसे भारतके अुस पार तिब्बत है, दक्षिणमें लंका है, सात समुद्रोंके पार अंग्रेजोंके श्वेत-द्वीप हैं, वैसे ही बादलोंके अुस पार आकाशमें स्वर्गभूमि अर्थात् कोअी देश होगा और वहां देवगण रहते होंगे यह कल्पना पुराणोंके वर्णनोंके आधार पर मनमें पैदा होती है। पृथ्वी पर स्थित देश अुसकी सतह पर पास-पास हैं, जब कि स्वर्गके अिन्द्रलोक, चन्द्रलोक, गोलोक, विष्णुलोक आदि जहाजोंके डेक या केबिनोंकी तरह अथवा रेलगाड़ीके अिन्टर क्लासके डिब्बोंमें लगी सीटोंकी तरह या बम्बअी-की चालोंकी मंजिलोंकी तरह अूपर-नीचे हैं, अितना ही फर्क है।

नागलोककी बात अिससे जरा अलग और विचित्र है। पानीमें डुबकी लगाकर नागलोक पहुंचा जा सकता है। यह कैसे होता होगा, कुछ समझमें नहीं आता। और नरक पृथ्वीके नीचे तो है, परन्तु कहां होगा और वहां कैसे पहुंचा जाता होगा, अिसकी कोअी कल्पना ही नहीं आती। पृथ्वी गोल है, अैसा निश्चित हो जानेके बाद हम कहने लगे कि अमेरिका पातालकी भूमि है। तब फिर यमलोककी स्थापना कहां की जाय?

ये सब लोक काल्पनिक हैं, अैसा बार बार सिद्ध करनेके दिन अब लद चुके हैं। ये सारे लोक विचारशील लोगोंके मनसे कभीके अुड़ चुके हैं। किन्तु अिस बातका स्पष्टीकरण हमारा मन रोज-रोज मांगता है कि मरणोत्तर जीवन कैसा होगा। यह कहनेमें कोअी हर्ज नहीं कि सामान्य विलासी लोगोंको अिहलोकमें जो सुखोपभोग चाहिये अुसीका संशोधित संस्करण हमारे पुराणोंका स्वर्गलोक है। आखिर मनुष्यकी कल्पना भी बेचारी जा-जाकर कहां तक पहुंचनेवाली थी? जो कुछ आंखोंसे देखा हो, अनुभव किया हो, अुसीके विभिन्न अंशोंको अेकत्र करनेसे स्वर्गादि लोकोंकी बाह्य रूपरेखा तैयार होती है। पृथ्वी पर मनुष्य तरह तरहके मधुर पेय — शरबत और आसव पीता है; स्वर्गमें अिन सबके प्रतिनिधि-के रूपमें मनुष्यने माधुर्यकी पराकाष्ठा जैसे अमृतकी कल्पना की। पृथ्वी पर विलासी लोग यदि सर्वभोग्य वारांगनाओंका अुपभोग करते हैं; तो स्वर्गमें अुनके स्थान पर अप्सराओंकी योजना की गअी है। पृथ्वी पर विषय-सेवन करनेवाले मनुष्योंको व्याधि, जरा और मरणका शिकार होना पड़ता है। स्वर्ग काव्य-प्रदेशके समान काल्पनिक होनेके कारण वहां ये तीनों झंझटें नहीं हैं, अैसा स्वर्ग-विधाता कल्पकोंने निश्चित किया है। पौराणिक भूगोलशास्त्र-वेत्ता कहते हैं

कि स्वर्गमें व्याधियां नहीं हैं और आधियां अर्थात् मानसिक चिन्तायें भी नहीं हैं। परन्तु वहांका अितिहास अिसके विरुद्ध प्रमाण देता है। स्वर्गका राजा अिन्द्र भोगक्षीण नृपालोंकी तरह सदा डर-डर कर जीता है। किसीने भी तपस्या आरंभ की कि अुसका सिंहासन डोलने लगता है। कोअी भी बलवान व्यक्ति अुठ कर खड़ा हुआ कि अुसके सामने अिन्द्रका यह प्रस्ताव तैयार ही रहता है: 'तू ही अिन्द्र बन जा!' और गुप्त रूपमें अपने सुकुमार शस्त्रों (अप्सराओं) को भेजनेके लिअे भी अिन्द्र सदा तैयार ही रहता है। रोज नये नये दाव-पेच चलाकर स्वर्गमें अुसे अपना स्थान सुरक्षित रखना पड़ता है। अिससे बड़ी आधि दूसरी क्या हो सकती है?

और, बाकीके देव भी क्या किसी हद तक निश्चिन्त रहते हैं? नहीं। वे अमृतका पान करते हैं और अप्सराओंका नृत्य देखते हैं। गाना-बजाना और सारी अिन्द्रियोंको तृप्त रखना यही स्वर्गका अखंड क्रम है। परन्तु अैसी मिठाससे बिगड़ जानेवाले मुंहको फिर स्वादवाला बनानेके लिअे ही मानो स्वर्गमें सोंठके तीखे चरपरे लड्डू भी रखे गये हैं। स्वर्गके देवोंमें अेकसा दर्जा नहीं है। प्रत्येक देवको अपने अपने पुण्यके अनुसार 'अ', 'ब' या 'क' वर्ग मिलता है और स्वर्ग नामके होटलमें जिसका जितना पुण्यांश जमा होता है अुसके अनुसार अुसे सुख भोगनेको मिलता है। बैंकमें जमा रकम खतम हुअी कि स्वर्गके मालिक प्राणीको नीचे धकेल ही देते हैं। देवोंको सबसे बड़ी चिन्ता अपने दरजेकी होती है। जिनका पद अपनेसे नीचा हो अुनकी ओर तुच्छतासे देखना और जिनका पद अूंचा हो अुनसे अीर्ष्या करना — अिस तरहकी मत्सरका पोषण करनेवाली तीखी चरपरी व्यवस्था यदि स्वर्गमें नहीं होती, तो स्वर्गका अखंड सुखमय जीवन बिलकुल अूबानेवाला बन जाता!

राजा-महाराजाओंके दरबारी भोग-विलासोंको देखकर जैसे मनुष्यको स्वर्गकी कल्पना सूझी, वैसे ही कारावासकी यातनाओंके अनुभवसे अुसे नरककी कल्पना सूझी। नरकके बारेमें भी मनुष्यकी कल्पना प्रत्यक्ष अनुभवसे बहुत आगे नहीं जा सकी। कष्ट पहुंचाने या बदला लेनेके लिअे जो जो अुपाय अिस लोकमें किये जाते हैं, अुन्हींका आरोपण संशोधन और परिवर्धनके साथ नरकमें किया गया है। अिस लोकके सुखोपभोगमें जिस प्रकार रोग, बुढ़ापे और मृत्युकी अेक बड़ी कठिनाअी है अुसी प्रकार यातना देनेकी अुमंग पूरी करनेमें भी अेक कठिनाअी है। मारनेवाला आदमी कब थक जायगा या अुसके मनमें कब दया अुमड़ पड़ेगी, यह कहा नहीं जा सकता। यह अेक बड़ी कठिनाअी तो है ही। फिर भी यातना देनेमें मनुष्यका मन और शरीर बेरहम और दृढ़ बन सकते हैं। परन्तु मारपीट और तिरस्कारके अतिरेकसे जिसे पीड़ा पहुंचानी है वह बेसुध होकर गिर जाय अथवा मर भी जाय, तो अुसका क्या अिलाज हो सकता है? दोनों ही

सूरतोंमें वह हमारी पहुंचसे बाहर जा सकता है; और अिसका कोअी अिलाज नहीं हो सकता। परन्तु नरकमें अैसी कोअी कठिनाअी नहीं है। वहांके यमदूतोंका यह धन्धा ही होता है, अिसलिअे अुन्हें थकान, अुकताहट या दया छू भी नहीं सकती। और वहांकी यातनायें कितनी भी भयंकर क्यों न हों, मनुष्य न तो बेसुध होकर नीचे गिरता और न कभी मरता। मर कर ही नरकमें जाया जाता है, अिसलिअे वहां यातनाओंसे दुबारा मरनेकी बात ही नहीं रहती।

अिस प्रकार स्वर्ग और नरककी लोगोंमें रूढ़ बनी हुअी कल्पना मनुष्यके अनुभवके आधार पर ही खड़ी की गअी है, अितना समझ लेनेके बाद अुसकी बहुत कीमत नहीं रह जाती। फिर भी मनकी यह वृत्ति बनी रहती है कि मनुष्य-जीवनसे अधिक अुच्च जीवन अवश्य होना चाहिये और मनुष्य-जीवनसे अधिक हीन, अधिक अर्थशून्य और अधिक संताप देनेवाला जीवन भी होगा ही।

अतः मरणोत्तर जीवन, पारलौकिक जीवन, स्वर्गलोक, मृत्यु आदि क्या हैं, अिस पर पुनः अेक बार अपने मनमें विचार करनेकी अिच्छा मानव-जातिको बार-बार होती है। अेक देहका त्याग करनेके बाद तत्काल अथवा कालान्तरमें, अिसी पृथ्वी पर अथवा अन्यत्र, मनुष्य-योनिमें या अन्य किसी योनिमें जन्म लेकर जीव नअी देह धारण करता है और नया अनुभव लेना आरंभ करता है। अिस सर्वमान्य लोक-कल्पनाका किसी तरह विरोध किये बिना हम सर्वथा भिन्न दृष्टिसे अिन बातों पर विचार करेंगे।

कोअी भी मनुष्य जब अपने पूर्वजोंका श्राद्ध करता है तब किसका श्राद्ध करता है, किस चीजका श्राद्ध करता है? क्या वह आत्माका श्राद्ध करता है? नहीं। आत्मा सर्वव्यापी अर्थात् विभु है। अुसके लिअे मरण नहीं है, स्थानान्तर अथवा लोकान्तर नहीं है। अिसलिअे आत्माके श्राद्धका तो प्रश्न ही नहीं अुठता। तब क्या मनुष्य देहका श्राद्ध करता है? नहीं, देहका भी नहीं। देहकी तो राख या मिट्टी हो जाती है। कदाचित् देह अन्य प्राणियोंका आहार बनकर अुनके साथ अेकरूप भी हो गअी हो। मृत देहको खानेवाले सियारों, भेड़ियों या गिद्धोंका हम श्राद्ध नहीं करते। अथवा संभव है कि देहमें कीड़े पड़ गये हों और अुनका ही अेक बड़ा देश बस गया हो; लेकिन अुनकी तृप्तिके लिअे भी हम तर्पण नहीं करते अथवा पिंड नहीं रखते।

अब बाकी बचता है मरनेवाले मनुष्यकी वासनाओंका समुच्चय अथवा पीछे रहनेवाले लोगोंके मनमें रही मृतक-सम्बन्धी भावनाओंका समुच्चय। अिन दो वासनात्मक और भावनात्मक देहोंके द्वारा मनुष्य मृत्युके बाद शेष रहता है। अिन दोमें से अेक देहका अथवा दोनों देहोंका श्राद्ध संभव तो है।

लोक-कल्पना यह है कि मरा हुआ पूर्वज महाशूर, क्रूर, पेटू या आलसी हो, तो अुसका वासना-समुच्चय अथवा लिंग-शरीर बाघ या भेड़ियेके शरीरमें

जन्म लेता है। यदि वह मिलनसार न होगा, तो बाघकी योनि प्राप्त करेगा। समान शीलवालोंका संघ बनानेकी वृत्तिवाला होगा, तो भेड़ियेकी योनि अुसके लिअे अधिक अनुकूल सिद्ध होगी। परन्तु श्राद्ध अिन बाघों या भेड़ियोंका नहीं होता। अैसा हो तब तो अुनके नाम पर खीर और लड्डू अर्पण करनेके लिअे किसी वेद-शास्त्र-संपन्न ब्राह्मणको बुलाने पर यह तमाशा हो सकता है कि हमारे पूर्वज खीर और लड्डूके बदले अुस ब्राह्मणको ही पसन्द करें और चट कर जायं; और श्राद्धमें अेक समय जो पशुहत्या होती थी अुसके बदले ब्रह्महत्या हो जाय!

[मानव-पिता मनु भगवानने कहा है कि 'मां स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसं इहाद्म्यहम् अिति मांसस्य मांसत्वम्।'—जिसका मांस मैं यहां खाता हूं वह (सः) मुझे (मां) परलोकमें खायेगा, अिसलिअे मांसको मांस कहते हैं। अिस न्यायसे यदि हम श्राद्धका विचार करें, तो कहना होगा कि दुनियामें सब जगह श्राद्ध ही चल रहा है।]

पूर्वजोंमें से कोअी अपने कर्मों, वासनाओं और संस्कारोंके अनुरूप किसी भी योनिमें गया हो और वहां अपनी पुरानी वासनाओंकी तृप्ति करते करते नअी वासनाओंका बंधन रचता हो, तो अुससे हमारा कोअी वास्ता नहीं। हमारा कोअी पूर्वज अपना शरीर छोड़कर चला गया हो, तो भी अिस लोकमें अुसका संपूर्ण नाश नहीं होता। अुसके द्वारा किये गये अच्छे-बुरे कर्म, अुसके द्वारा प्रेरित अच्छी-बुरी प्रवृत्तियां और अुसके द्वारा मानव-स्वभावके विकासमें की गअी वृद्धि —यह सब अुसके चले जानेके बाद भी अिस लोकमें मौजूद रहता है।

अुसके साथ जिनका सम्बन्ध था अुन सगे-सम्बन्धी, शत्रु-मित्र आदि लोगोंकी स्मृति और भावनामें वह पहलेकी तरह ही जीवित रहता है; अितना ही नहीं, अुसके बाकी रहे स्मृतिगत जीवनमें दिन-प्रतिदिन परिवर्तन भी होते हैं। मृत्युके बाद अुसका निवास अेक ही शरीरमें नहीं रहता; स्मृतिके रूपमें, कार्यके रूपमें अथवा प्रेरणाके रूपमें वह जितने समाजमें व्याप्त होगा अुस समस्त समाजमें अुसका निवास होता है; और अुसके अिस जीवनको लक्ष्यमें रखकर ही अुसका श्राद्ध संभव हो सकता है। शिवाजी महाराज जैसे पुण्यश्लोक राजाने मोक्ष प्राप्त किया हो या अिस देश अथवा दूसरे देशमें राष्ट्र-पुरुषका जन्म लिया हो; अुनकी अिस नयी यात्रा—'केरियर'—का हम श्राद्ध नहीं करते। आज हम अुन शिवाजी महाराजका श्राद्ध करते हैं, जो हमारे हृदयमें बसकर जीते हैं, वहां बड़े होते हैं—विभूतिके रूपमें बढ़ते हैं। श्राद्ध मरे हुअे जीवोंका नहीं होता; परन्तु देहत्याग करनेके बाद अुनका जो अंश समाजमें जीवित रहता है, समाजके द्वारा प्रवृत्ति करता है, विकसित होता है और पुरुषार्थ करता है, अुसीका श्राद्ध हो सकता है। यह मरणोत्तर सामाजिक जीवन ही सच्चा पारलौकिक जीवन है। शास्त्रकारोंने मनुष्यकी जीवित अवस्थाके छह लक्षण गिनाये हैं; : 'अस्ति,

जायते, वर्धते, अपक्षीयते, परिणमते, म्रियते।' ये सब लक्षण अिस पारलौकिक जीवनको भी लागू होते हैं। अिस कारण यह जीवन काल्पनिक नहीं, परन्तु वास्तविक है, व्यापक है, दीर्घजीवी है और परिणामकारी है। यही पारलौकिक जीवन है। यह जीवन यदि सुन्दर, अुन्नतिकर, शुभकर होगा, तो वही जीवका स्वर्ग होगा। वही जीवन यदि समाजका अधःपतन करनेवाला होगा, आर्यत्वका ध्वंस करनेवाला होगा, तो वह जीवका नरक होगा। अिस प्रकार सोचें तो प्रत्येक जीवका स्वर्ग-नरक अुसकी मृत्युके बाद आरंभ होता है, परन्तु वह जीव तो अिस लोकमें ही ओतप्रोत रहेगा।

मुसलमान लोग मानते हैं कि मृत्युके बाद मनुष्य 'बरज़ख' नामके अेक स्थानमें रहकर कयामतकी — अंतिम न्यायके दिनकी — राह देखता है। सब प्राणी जब तक मरें नहीं और यहांका सारा विराट् नाटक पूरा न हो तब तक अंतिम न्यायके लिअे सब प्राणी हाजिर नहीं रह सकते और हिसाबकी बहियां भी बन्द नहीं हो सकतीं। हिसाब पूरा हो, सब लोग (नट) नाटकके अंतमें अिकट्ठे होते हैं वैसे अिकट्ठे हों और सारा भेद खुले, तो ही सबके सामने न्याय दिया जा सकता है। न्यायके अंतमें जिनके भाग्यमें स्वर्ग (बहिश्त) आये वे हमेशा स्वर्गमें आनंद भोगेंगे और जिनके भाग्यमें नरक — जहन्नुम (दोज़ख) आये वे हमेशा वेदनामें डूबे रहेंगे। यह फैसला हो तब तक मरे हुअे सभी लोगोंको बरज़खके वेटिंग रूममें बैठे रहना होगा। बरज़ख कर्मभूमि भले न हो, परन्तु वहां मनुष्यकी स्थितिमें परिवर्तन तो होता ही रहता है; क्योंकि अुसके पाप-पुण्यका हिसाब बैंकमें रखी हुअी अमानतकी तरह अथवा व्यापारमें लगाअी हुअी पूंजीकी तरह बढ़ता-घटता रहता है।

मैंने यदि अेकाध कुआं अपने जीते-जी बनवाया होगा तो जैसे जैसे लोग अुस कुअेंका अुपयोग करेंगे वैसे वैसे बरज़खमें मेरे नाम अुसका पुण्य (सवाब) बढ़ता जायगा। यदि मैंने कोअी बिलकुल नये ही प्रकारका सत्कार्य किया होगा और लोग अुसका अनुकरण करने लगे होंगे, तो सत्कृत्यके नूतन क्षेत्रकी खोज करनेवालेके नाते भी मेरा अनुकरण करनेवालोंके पुण्यमें से कुछ अंश (रॉयल्टी) मुझे बरज़खमें मिलता रहेगा। अेबल और केन नामक दो भाअियोंकी लड़ाअीके फलस्वरूप मनुष्य-जातिमें प्रथम बन्धुहत्या हुअी थी। अिसलिअे अब मनुष्य-जातिमें कोअी भी खून करता है तो खूनका रास्ता दिखानेवाले बन्धुघाती केनके नाम पर हर बार खूनके पापका कुछ अंश जमा होता ही है। परलोकमें 'पेटेंट अेक्ट' भले न हो, किन्तु न्यायका बहीखाता हमेशा जाग्रत रहता है।

अुपरोक्त बरज़खकी कल्पना और हमारी पारलौकिक जीवनकी कल्पना लगभग अेकसी है।

हम जिसे कीर्ति कहते हैं वह वास्तवमें अिस पारलौकिक जीवनका प्रतिबिम्ब है। पारलौकिक सुदीर्घ जीवनके साथ तुलना की जाय, तो जन्म-मरणके दो छोरोंके बीचका हमारा सुख-दुःखसे भरा अैहिक जीवन बहुत छोटा या संक्षिप्त कहा जायगा। परन्तु पुरुषार्थकी दृष्टिसे देखा जाय, तो यह जीवन बहुत महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि यही कर्मभूमि है। भोगकी दृष्टिसे देखें तो यह देहगत जीवन अत्यंत अल्प और तुच्छ है। अिसीलिअे जो मनुष्य अपने नफे-नुकसानका हिसाब कर सकता है, अुसे अैहिक सुखों पर अधिक दृष्टि न रखकर पारलौकिक यशःशरीरकी, अुसमें मिलनेवाले कीर्तिरूपी सुखोपभोगकी और लोगों द्वारा निरन्तर प्राप्त होनेवाली कृतज्ञताकी ही अधिक चिन्ता करनी चाहिये। अिस लोकमें हम यदि सत्कर्म करेंगे, लोगोंको सत्प्रेरणा देंगे और पीछे रहनेवालोंका सर्वांगीण विकास करेंगे, तो मृत्युके बाद अिन सबमें वृद्धि होती रहेगी और हमारा मरणोत्तर जीवन परिपुष्ट तथा लोगोंकी अुन्नति करनेवाला बनेगा।

अैसे पारलौकिक जीवनका प्राकृत लोगोंको खयाल नहीं होता, अिसीलिअे अुन्हें स्वर्ग-नरकके काल्पनिक अितिहास और भूगोलका प्रलोभन दिखाया गया है; अथवा प्रलोभनके स्थान पर यह भी कहा जा सकता है कि अुनके सामने वस्तुस्थितिका ही अेक बालग्राह्य चित्र प्रस्तुत किया गया है।

तब मरणोत्तर जीवन अर्थात् सांपराय क्या है?

१. मनुष्य मृत्युके बाद भी अपने विचारों, अपनी भावनाओं, अपने संकल्पों तथा अपने द्वारा प्रेरित पुरुषार्थोंके योगसे समाजमें जीवित रहता है। मृत्युके बादका यह जीवन अुतना ही महत्त्वपूर्ण होता है जितना कि मृत्युसे पहलेका जीवन। वह परिपुष्ट भी होता है और क्षीण भी होता है। वह जीवन समाजकी अुन्नति करनेवाला हो तो वही मनुष्यका स्वर्ग है। और यदि वह जीवन समाजको नीचे गिरानेवाला हो तो वही मनुष्यका नरक होता है। पंच महाभूतोंसे बने शरीरमें वास करनेकी अपेक्षा समाजरूपी शरीरमें वास करके मनुष्य अत्यंत दीर्घ जीवन प्राप्त कर सकता है और अैसे जीवनकी सफलताका अधिकारी बनता है। अिस मरणोत्तर जीवनका व्यक्तिरूपी दर्पणमें, अहंकार-रूपी दर्पणमें जो प्रतिबिम्ब पड़ता है, वही कीर्ति है, वही यश है।

२. मनुष्यको मृत्युके बादके समाजगत जीवनका खयाल नहीं होता, अिसीलिअे कीर्ति, यश, पुण्य, स्वर्ग, नरक आदि कल्पनायें रची जाकर मनुष्यके सामने प्रस्तुत की गअी हैं। परलोक कोअी पृथ्वीसे बाहर है, अैसी बात नहीं। परलोकका अर्थ है मृत्युके बादकी स्थिति। अिसी स्थितिको अुपनिषदोंमें 'सांपराय' नाम दिया गया है। बालकों जैसी बुद्धि रखनेवाले मूढ़को अिस सांपरायकी पहचान नहीं होती। 'न सांपरायः प्रतिभाति बालम्।' मूढ़ लोग यह मानते हैं कि शरीर, अुसके सुख-दुःख, अुन सुख-दुःखोंका साधन बननेवाली

स्थावर और जंगम संपत्ति, अिन सुख-दुःखोंका भोक्ता अहंकार (अस्मिता) और शरीर टिके अुतने समयमें मर्यादित आयु — अिन सबमें ही अुनका सारा जीवन समा जाता है। परन्तु अिन सबको मिलाकर हमारा जो व्यक्तित्व बनता है, वह हमारे जीवनका केवल अेक अल्प अंश है। वास्तवमें काल, देश (व्याप्ति) और आधारका विचार करने पर मालूम होगा कि हमारा जीवन अत्यन्त विशाल है। यह सत्य जिसने समझ लिया है और जिसके गले अुतर गया है, वह निश्चित रूपसे निष्पाप और अमर होगा।

३. अैसा मनुष्य यदि संत तुकारामके शब्दोंमें कहे कि 'मरण माझें मरोनि गेलें, झालों मी अमर' — मेरी मृत्यु मर गअी और मैं अमर हो गया हूं, तो अिसका अर्थ समझना कठिन नहीं है। जीवनकी दृष्टिसे शारीरिक मृत्यु बिलकुल तुच्छ है, अितना तो आसानीसे हमारी समझमें आ जाना चाहिये।

१९३३

५१

सृष्टिकी संहार-लीलाका बोध

राजा रूठे नगरी रक्खे अपनी
मैं हर रूठ्या कहां जाना?
— मीराबाअी

यूरोपमें अेक भयंकर संहार-लीला विश्वनाशका संकल्प करके केवल मुहूर्त-की ही प्रतीक्षा कर रही है। अेबिसीनिया, चीन, स्पेन वगैराके अनुभव अभी ताजे ही हैं। मनुष्य जब नाश करनेके लिअे तैयार हो जाता है अुस समय प्रत्यक्ष हिंसासे जितना नुकसान होता है अुसके बनिस्बत हिंसावृत्तिके बढ़नेसे हृदय-नाशके रूपमें जो नुकसान होता है वह कहीं अधिक होता है। फिर भी ये सब मानवीय आपत्तियां हैं। मनुष्य चाहे तो अिनसे बच सकता है। शत्रुकी शरणमें जाकर, युद्धसे भाग कर या दूसरे देशमें जाकर मनुष्य अिन आपत्तियोंसे खुदको बचा सकता है। परन्तु यह मार्ग कायरोंका है; वीरोंको यह पसंद नहीं आता।

वीरोंको भी मानवीय संहारसे बचनेका अुपाय मिल सकता है। शत्रुसे अधिक तैयारी करके और अनेक बहादुरोंका बलिदान देकर बाकीके लोग बच सकते हैं। मनुष्य सत्याग्रहके द्वारा भी युद्धका अिलाज कर सकता है, और बहुतसी प्राणहानिको टाल सकता है।

परन्तु जब कुदरतका कोप होता है, जब हरि रूठता है, अुस समय बचने-का कोअी अुपाय नहीं रह जाता। भूकंप, बाढ़, कॉलरा, प्लेग वगैरा रोग और

अकाल वगैरा कुदरती आपत्तियां जब टूट पड़ती हैं, अुस समय जो मानव-संहार होता है अुससे कोअी कैसे बच सकता है? जो लोग वीर हैं वे ही बच सकते हैं, अैसा हम नहीं कह सकते। और जो लोग कायर हैं वे ही बच सकेंगे, अैसा भी कोअी नियम नहीं है। कुदरती आफत वीरोंको खा जायेगी और स्त्रियों तथा बालकोंको छोड़ देगी, अैसा नियम भी कहीं नहीं है। यह भी कहीं देखनेमें नहीं आता कि पवित्र लोग अैसी आफतोंसे बच जाते हैं और अपवित्र लोग ही मरते हैं। जब द्वारका डूबनेवाली थी तब भगवान श्रीकृष्णने अपने कुछ श्रेष्ठ भक्तोंको द्वारका छोड़नेका आदेश देकर बचाया था। सज्जनोंके प्रति बताये गये भगवानके अिस पक्षपातको हम अुचित मानें या न मानें, परन्तु भगवानने दुबारा अैसा पक्षपात कभी नहीं किया। आज तो जब जब भी कुदरती आफत आती है तब तब वह किसी तरहके भेदभावके बिना अपना अंधकार्य कर ही डालती है।

अभी अभी तुर्कीके अंगोरा नगरमें भयानक — जिससे भय भी भयभीत हो जाय अितना भयानक — कुदरती कोप हुआ है। महायुद्ध कितना ही भयंकर क्यों न हो, अुसमें अेक दिनमें, अेक ही क्षणमें ४५,००० मनुष्योंका संहार आसानीसे नहीं हो सकता।* युद्धमें लोग कमसे कम अेक-दूसरे पर क्रोध करते हैं। शूर-वीर लोग शत्रुसे बदला लेते हैं, संकट कहांसे आया यह जानकर अुसका उपाय करते हैं। प्राचीन कालके धर्मयुद्धमें क्षत्रिय योद्धा सोये हुअे शत्रुको जगाकर, अुसके हाथमें शस्त्र न हो तो अुसे शस्त्र देकर और अुसके पास रथ न हो तो स्वयं रथसे अुतर कर पहले समानता पैदा करते थे और फिर अुसके साथ युद्ध करते थे। लेकिन कुदरतने धर्मयुद्धका यह नियम न तो कभी माना और न कभी पाला। भूकंप कभी यह नहीं देखता कि दिन है या रात, लोग घरमें हैं या बाहर घूमते हैं। वह तो अेक ही क्षणमें बड़े बड़े, अूंचे अूंचे महलोंको जमींदोस्त कर देता है। शहरके छोटे-बड़े सभी मकानोंको अिस तरह जड़से हिला देता है, मानों वे सब ताशके महल हों!

भूकंपके कारण कभी कभी कितने ही मकान अपना मुंह घुमाकर अुलटी दिशामें देखने लगते हैं। नदीका पाट अूंचा होकर नदीको कहांकी कहां धकेल देता है। कभी कभी जहां जंगल होता है वहां तालाब बन जाता है और जहां तालाब होता है वहां हिमालयके जैसा पर्वतराज खड़ा हो जाता है। कहा जाता है कि अिसी प्रकार प्राचीन कालमें अेक पूराका पूरा महाद्वीप अटलांटिक महासागरके पेंदेमें विलीन हो गया था। भूमध्य समुद्रके बारेमें भी अैसी ही बात कही जाती है।

---

* यह लेख लिखा गया अुस समय हिरोशिमा और नागासाकी जैसे शहरोंको पलभरमें नष्ट करनेवाले अणुबमका जन्म नहीं हुआ था।

परन्तु अिस समय तुर्कों पर जो आफत आ पड़ी है वह तो बेजोड़ है। अ-पूर्व भूकंपके कारण वहां हजारों मकान बैठ गये हैं और हजारों लोग जमीनमें दब गये हैं। अितनेमें पानीने सोचा कि 'मैं थोड़े ही किसीसे कम हूं। मैं भी अपना चमत्कार दिखाअूंगा!' और पानीकी अैसी भयंकर बाढ़ आअी कि रहे-सहे अनेक मनुष्य और ढोर अुसमें बह गये। अंगोराके लोग प्राण बचानेकी चिन्तामें पड़े थे, अितनेमें वहां पागल कुत्तोंकी अेक फौज खड़ी हो गअी!

पुराणोंमें दी गअी महान आपत्तियोंकी सूचीमें चूहोंका अुल्लेख है, टिड्डियोंका अुल्लेख है और अनाजके खेतोंको बरबाद कर डालनेवाले तोतोंका भी अुल्लेख है:

अतिवृष्टिः, अनावृष्टिः, शलभाः, मूशकाः, शुकाः, ।
प्रत्यासन्नाश्च राजानः, षडेताः अीतयः स्मृताः ।।

पाठान्तरमें कहा गया है:

स्वचक्रं, परचक्रं च, सप्तैताः अीतयः स्मृताः ।

स्वचक्रका अर्थ है आंतरिक विद्रोह और परचक्रका अर्थ है विदेशियोंका आक्रमण। अिन अीतियों, आपत्तियोंमें अीश्वरने अब कुत्तोंकी अेक आपत्ति और जोड़ दी है!

अंगोराके अुत्तरमें काला समुद्र है। अुस पर भी यह पागलपन सवार हो गया। अुसने अैसा तूफान मचाया कि जीवन (पानी) पर विहार करनेवाली अनेक नौकाओंको मृत्युकी शरणमें भेज दिया।

अब अिस भयंकर प्राणनाशके लिअे किस पर क्रोध किया जाय? अिसका अिलाज भी क्या हो सकता है? जिस मानव-संस्कृतिके हम अितने अभिमानी भक्त हैं और जिसकी रक्षाके लिअे हम प्राणोंकी बाजी लगानेको तैयार हो जाते हैं, अुस संस्कृतिकी कुदरतकी नजरमें कोअी कीमत नहीं। मधुमक्खियोंका छत्ता, दीमककी बांबी, समुद्रमें होनेवाले प्रवालके कीड़ोंके वृक्ष जैसे घर और मानवीय महासाम्राज्य — अिन सबका मूल्य प्रकृतिकी दृष्टिमें समान है।

ग्वालेका लड़का मधुमक्खियोंके छत्तेको जितनी आसानीसे तोड़ देता है अुतनी ही आसानीसे अितिहास-विधाता बड़े बड़े साम्राज्योंको अेक क्षणमें मिट्टीमें मिला देता है। अितिहास कहता है कि समरकंद और बुखाराके प्रदेशमें अमु-दरिया और सिरदरियाके किनारे तीनों महाद्वीपोंका व्यापार चलता था और महान आंतर-राष्ट्रीय संस्कृतिका वहां विकास हुआ था। परन्तु जहां भगवानने अेक फूंक मारी और भयंकर आंधी आअी कि रेतकी बाढ़ आकर सारी आबादी — संपूर्ण संस्कृति — अेक क्षणमें अुसके नीचे दब गअी! पॉम्पी शहर जिस प्रकार ज्वालामुखीकी अग्निमें जलकर भस्मीभूत हो गया, अुसी प्रकार मध्य अेशियाका अेक समृद्ध शहर रेतके समुद्रके सूखे तलमें डूब गया और सदाके लिअे नष्ट हो गया। वहांका अत्याचारी राजा भी रेतके नीचे दबकर मर गया

और लोकहितके लिअे लड़नेवाले लोकनेता भी दबकर मर गये। न्यायी और अन्यायी, प्रामाणिक और अप्रामाणिक, स्वपक्षी और परपक्षी सब कोअी धरतीमें समा गये। समूचा आनंद और समूचा दुःख, सदाचार और अनीति, जीवन और कलह — सब अेकदम शांत हो गये। हजारों वर्षोंसे मनुष्य-जातिने जो पुरुषार्थ किया था वह साराका सारा देखते देखते स्मृतिशेष बन गया। परन्तु स्मृति भी कैसे रह सकती थी? स्मृतिको रखनेके लिअे भी कोअी मनुष्य जीवित तो रहना चाहिये न? वह महान संस्कृति रेतके समुद्रमें डूब कर विस्मृतिकी खाअीमें लुप्त हो गअी।

हजारों वर्षोंके बाद भगवानने फिर अेक फूंक मारी और आंधी अुलटी चलने लगी। रेतके समुद्रमें भाटा आया और सब तरहके प्राचीन अवशेष प्रकट हो गये। जिस संस्कृतिकी स्मृति भी नष्ट हो गअी थी, अुसके बहुतसे बचे हुअे अवशेष खुले होकर हाथ लग गये।

जो भूकंप अंगोरामें हुआ वही यदि भूमध्य समुद्रमें हुआ होता, तो शायद अुस सागरके तलकी भूमि अूंची हो जाती, मुसोलिनीका अिटली, अतातुर्कका टर्की, फ्रांसका अल्जीरिया और नेगसका अेबिसीनिया सब पानीमें डूब जाते और आज जहां सहाराका रेगिस्तान है वहां फिरसे अेक विशाल समुद्र गर्जना करता होता। अुस स्थितिमें तो यूरोपके सारे प्रश्न ही अेकदम बदल जाते। और यदि सारे यूरोपमें अैसी कुदरती अुथल-पुथल हो जाती, तो फासिस्टवाद और नाज़ीवाद, साम्यवाद और पूंजीवाद — सभी वाद चिरकालके लिअे निद्राधीन हो जाते। मनुष्य-जीवन अितना ज्यादा कुदरतके अधीन है, अितना क्षणभंगुर है कि अुसमें क्षुद्र लाभ-हानिके लिअे राग-द्वेषके ज्वरमें फंसे रहना मनुष्यके लिअे कहां तक अुचित है, अिस बातका विचार करनेका समय अब आ गया है। यूरोपके महायुद्धके साथ ही मानो विश्व-नियंताने अपना अुपहासपूर्ण व्यंग तथा लोक-क्षयकृत् विकट हास्य करनेके लिअे अंगोराका भूकंप भेज दिया। मनुष्यने जो युद्ध छेड़ा है अुस पर भगवानने मानो अपना यह भाष्य कर दिया है।

मानव-पिता मनु भगवान कहते हैं कि 'न चैनं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित्।' अैसी क्षण-भंगुर कायाके सहारे रहकर अभिमान करनेका और किसीके प्रति वैर रखनेका कोअी अर्थ नहीं रह जाता।

प्राचीन लोग असंख्य महायुद्ध लड़नेके बाद जो बोधपाठ सीखे थे अुसे पुनः सीखनेके लिअे मनुष्योंको प्राचीनोंके जितनी या अुससे कहीं अधिक कीमत चुकानी पड़ेगी! यही है मनुष्यकी बुद्धिमत्ता!!

"अिस सृष्टिमें नीतिका साम्राज्य है या केवल अंधे अदृष्टका? मनुष्यको जो दुःख सहना पड़ता है वह अुसके दुराचारका परिणाम है या केवल आकस्मिक घटना है? निरा संयोग है?" ये प्रश्न बार-बार मेरे मनमें पैदा होते

हैं और जब अंगोरा जैसे भीषण संकट अकस्मात् टूट पड़ते हैं तब तो ये प्रश्न अधिक तीव्रतासे मेरे मनमें अुठते हैं। बिहारके भूकंपके बाद जब गांधीजीने कहा कि "अिस भयानक प्रकोपके पीछे मैं भारतके महापापकी सजा देखता हूँ," तब सारे बुद्धिवादी लोगोंने आश्चर्य प्रकट किया था। रवीन्द्रनाथ ठाकुरको भी दुःखके साथ कहना पड़ा था कि 'गांधीजीका यह कथन युक्ति-संगत नहीं है। मैं अैसे अंधविश्वासके साथ सहमत नहीं हो सकता।' अितना ही नहीं, गांधीजी जैसे महापुरुषके अिस प्रचारका जनता पर जो अनिष्ट असर होनेकी संभावना थी, अुसे दूर करनेके लिअे अुन्हें (रवीन्द्रनाथ ठाकुरको) अपना मत सार्वजनिक रूपमें प्रकट करना आवश्यक मालूम हुआ। गांधीजीने अिन सब लोगोंसे अेक ही प्रश्न पूछा: "क्या दुनियामें अंशतः नीतिका राज्य है और अंशतः अदृष्टका राज्य है? जो भी कुछ होता है अुसका यदि कोअी न कोअी कारण होना ही चाहिये और प्रत्येक कारणका कोअी न कोअी परिणाम होना ही चाहिये, तो क्या अिस महान प्रकोपके पीछे भी मानवीय अपराधका कोअी न कोअी कारण नहीं हो सकता?"

बिहारके भूकंपने आकर गांधीजीसे यह नहीं कहा था कि मैं अस्पृश्यता-रूपी पापका ही फल हूं। गांधीजी भी यह नहीं मानते थे कि अस्पृश्यता केवल बिहारमें ही है और दूसरे प्रान्तोंमें नहीं है——और न वे यह मानते थे कि बिहारका भूकंप बिहारके ही पापोंका फल है। कुदरतमें सारी बातें अेक-दूसरेसे जुड़ी हुअी होती हैं। पेट ठीक न हो तो सिरमें दर्द होता है। राज्यकर्ताओंकी नीयत बिगड़नेसे प्रजाको दुःख भोगना पड़ता है। महामारीके अेक रोगीके संपर्कमें आनेसे सारे शहरको कॉलरा या अैसी दूसरी किसी बीमारीका शिकार बनना पड़ता है। हाथसे चोरी करने पर भी कोड़े पीठ पर पड़ते हैं, क्योंकि हाथ और पीठ अेक ही शरीरके अंग हैं। कुदरतकी सजायें भी मानो हमें सार्वत्रिक सम्बन्धका पाठ सिखानेके लिअे ही कहीं भी प्रकट हो सकती हैं। कुदरतकी अिस रचनाको हम पूरी तरह समझ नहीं सकते। फिर भी नीतिके सार्वभौम तत्त्वोंमें हमारी श्रद्धा होनेके कारण जिस बातको हम अनुभवसे सिद्ध नहीं कर सकते तथा जिसे विरोधी तर्कसे हम काट भी नहीं सकते, अुसे श्रद्धासे मान लेते हैं।

गांधीजीने समझ लिया कि बिहारका भूकंप अेक असाधारण संकट है। अुसका सम्बन्ध देशके सैकड़ों वर्षोंसे चले आ रहे किसी पुराने और असाधारण व्यापक पापके साथ हो सकता है। अिसीलिअे अुस समय गांधीजीने अपनी अैसी श्रद्धा प्रकट की।

और, हम जरा सोचें कि अदृष्टका अर्थ क्या होता है? अकस्मात्का अर्थ क्या होता है? दैव किसे कहा जाता है? जिसका कारण तो है, परन्तु जो दिखता नहीं, वह अ-दृष्ट है। जिस घटनाका 'कस्मात्' अथवा कारण हम

नहीं खोज सकते, परन्तु जिसका कोअी न कोअी कारण तो होना ही चाहिये, अुस घटनाको हम अ-कस्मात् कहते हैं।

अिस घटनाके मानवीय और कुदरती कारणोंका विचार करनेके बाद भी कुछ कारण बाकी रह जाते हैं। 'अधिष्ठान', 'कर्ता', 'नाना प्रकारके करण' और 'विविध व्यापार'— अिन चारों प्रकारके कारणोंका हिसाब हो जानेके बाद जो कारण बाकी रहता है, अुसे दैव कहा जाता है। अूपर बताये चार कारणोंमें कोअी न कोअी नैतिक प्रयोजन तो रहता ही है और केवल 'अज्ञात' कारणमें ही 'नैतिक हेतुका अभाव है' अैसा निश्चित रूपसे कहना युक्ति-संगत नहीं है। परन्तु यदि किसी कारणके बारेमें हम अितना भी निःसन्देह कह सकें कि वह सर्वथा 'हेतुहीन' है, तो फिर वह पूर्णतया 'अज्ञात' नहीं रहता!

खैर! बुद्धिमानी तो अिसमें है कि हम प्रत्येक महान घटनासे कोअी न कोअी बोध सीखें और अंधे तथा अज्ञान बने रहनेमें ही बुद्धिकी सफलता न मानें। जब यूरोपमें महायुद्ध चल रहा है, जब पचास पचास हजार लोग कुदरती दुर्घटनासे वैसे ही मर जाते हैं, तब अिसमें मनुष्यके लिअे कोअी भी बोध नहीं है अैसा मानना कसाअीखानेके पास आनंदसे घास चरनेवाले जानवरोंकी स्थितिमें रहने जैसा है। मनुष्यको अिन सब बातों पर विचार करके कमसे कम अपने युद्ध-ज्वरको तो दूर करना ही चाहिये।

मार्च, १९४०

५२

कालकी महिमा

"कालके माहात्म्यसे सब कुछ समय पर अपने आप होगा, आप क्यों जल्दबाजी करते हैं? और, रूढ़ियोंसे चिपटी रहनेवाली जनतामें बुद्धिभेद क्यों पैदा करते हैं?" अिस तरह समाजके कुछ लोग सुधारकोंके सामने दलील करते हैं। "काल बड़ा बलवान है। दुनियामें जो परिवर्तन होना चाहिये अुसे काल स्वयं करा लेता है। आप सब कुछ अुसी पर छोड़ दीजिये। अकारण जल्दबाजी दिखा कर आप सुधारका मिथ्या प्रयत्न क्यों करते हैं? अस्पृश्यता आज जिस रूपमें है अुस रूपमें वह टिकनेवाली नहीं है, यह हम भी जानते हैं। हम यह भी नहीं कह सकते कि आज अस्पृश्यताका जो रूप है, वही सौ दो सौ वर्ष पहले था। यह सब कालबलसे बदलनेवाला ही है। अिसलिअे काल-को आप अुसकी अपनी गतिसे चलने दीजिये। व्यर्थमें समाजको छेड़ कर आप टूटे हुअे समाजके और अधिक टुकड़े क्यों करते हैं; और नये नये झगड़े क्यों

अपने सिर लेते हैं ? " अिस तरहकी दलील आजकल कितने ही लोग करते हैं। परन्तु थोड़ा सोचनेसे भी समझमें आ जायगा कि अिस दलीलमें कोअी सार नहीं है। वह जड़ताका ही लक्षण है।

लेकिन अिस दलीलके पीछे भी सनातन हिन्दू धर्मका अेक विशिष्ट लक्षण जरूर मालूम होता है । सनातन हिन्दू धर्मने कालकी महिमाको पहचाना है। 'जैसे जैसे काल बदले वैसे वैसे हमारा कलेवर बदलना चाहिये;' यह जीवन-धर्म है। यदि अिस सिद्धान्तके अनुसार हम न चलें, तो कालके शिकार बन जाते हैं। यह सब जाननेके कारण ही सनातन हिन्दू धर्म नित्य-नूतन और चिरंजीवी बना है। सनातन धर्म जानता है कि 'अेक दिनमें आम नहीं पकते।' सनातन धर्म यह भी जानता है कि 'जो रुक गये अुन्हें मरा हुआ ही समझना चाहिये।' सायकल चलती है तभी तक वह सीधी खड़ी रह सकती है । अुसकी गति रुकी कि वह गिरी। देवोंके राजा इन्द्रने कहा है कि 'जो मनुष्य बैठा रहता है अुसका भाग्य भी बैठा रहता है; जो अुठता है अुसका भाग्य भी अुठता है; जो सोया रहता है अुसका भाग्य भी सोया रहता है; जो चलने लगता है अुसका भाग्य भी चलने लगता है। अिसलिअे तुम चलो, चलो, चलने लगो। जो चलता है वही अपने स्थान पर पहुंचता है।' हमारे ॠषि-मुनियोंने जीवनको यात्रा कहा है; क्योंकि जीवनमें जाना, चलना ही जरूरी होता है। सनातन हिन्दू धर्म गंगा नदीके समान निरन्तर बहता आया है । अिसी कारणसे वह सदा ताजा, वेगवान और चिरंतन रहा है। सनातन हिन्दू धर्म वेदोंको प्रमाण मानता है, आधार मानता है; परन्तु वह वेदोंके पास ही रुका नहीं रहता। वेदोंका ही नया संस्करण जो स्मृतियां अथवा धर्मशास्त्र हैं अुनका भी वह स्वीकार करता है। लेकिन वहां भी वह ठहरता नहीं। अितिहास-पुराणोंको पांचवें वेदके रूपमें स्वीकार करके अिन्हें भी अुसने धर्मकी नअी प्रेरणा देनेका काम सौंपा। पुराणोंके बाद जो तंत्र आये अुनका भी हिन्दू धर्ममें स्थान है । अिन सब परिवर्तनोंमें बहुतसे परिवर्तन अच्छे थे, तो कुछ बहुत बुरे भी थे। हर जमानेकी परेशानियां और कठिनाअियां अेकसी नहीं होतीं। बुद्धि भी अेकसी नहीं होती। और अिलाज भी अेकसे नहीं होते। कभी कभी किसी रोगको मिटानेके लिअे हम जो दवा करते हैं वह दवा ही मूल रोगसे अधिक बुरी साबित होती है। और बादमें तो अुस दवाकी दवा करते करते ही हमारा दम निकल जाता है। तंत्रमार्गमें अितनी सड़ांध घुस गअी कि अिस बातका बहुत बड़ा भय पैदा हो गया कि धर्म और सदाचारका ही कहीं अिसकी गंदगीमें दम न घुट जाय । अिस सारी सड़ांधको दूर करनेका काम धर्म-सुधारक संतोंने किया । वैष्णव धर्मकी सारी प्रवृत्ति पुरानी सड़ांध और गंदगीको जड़से मिटा कर धर्मको भक्तिके अुज्ज्वल आसन पर बैठानेके लिअे थी। अिसीलिअे संतवाणी भी सनातन हिन्दू

धर्ममें आधार-रूप मानी जाने लगी। जिस किसी संतको धर्मानुभव हुआ है वह हिन्दू धर्मके लिअे प्रमाण है। और प्रत्येक अनुभव किसी भी समय और किसी भी स्थान पर अेकसा ही होना चाहिये। अतः जब कोअी नया व्यक्ति अनुभवकी बात लेकर आता है, तो सनातनी लोग पुराने अनुभवके साथ अुसकी तुलना करके देख लेते हैं। हर जमानेकी भाषा अलग होती है, विचार-पद्धति अलग होती है; किसीका अनुभव कच्चा हो सकता है, किसीका अधूरा हो सकता है — अेकांगी हो सकता है। कुछ लोगोंमें अपने अनुभवको शब्दोंमें अच्छी तरह रखनेकी क्षमता नहीं होती और कुछ लोग तो श्रोताओंकी शक्तिको समझ कर ही अपनी बात कहनेवाले होते हैं। अिसी कारणसे अेक अनुभव और दूसरे अनुभवमें भेद दिखाअी देता है। अिस भेद तक अनुभवोंकी समानता दिखानेकी, अुनकी अेकवाक्यता सिद्ध करनेकी जिम्मेदारी धर्मज्ञ भाष्यकारोंकी है।

जिस प्रकार सृष्टिमें विकासका तत्त्व सर्वत्र लागू होता है, अुसी प्रकार धर्मके साक्षात्कारमें भी विकास जैसी वस्तु अवश्य है। अीश्वर हमें, मनुष्यको जो ज्ञान देता है वह क्रम-क्रमसे ही देता है। मुक्ति भी मनुष्यको क्रम-क्रमसे ही मिलती है। क्रमके अिस महान तत्त्वको ही काल-माहात्म्य कहा जाता है।

जो लोग यह कहते हैं कि अीश्वरने हमारे पुरखोंको सारा ज्ञान दे दिया था, वे सर्वज्ञ थे, अिसलिअे हम अपने पुरखोंसे आगे बढ़ ही नहीं सकते, वे सनातनी नहीं हैं। जो लोग सच्चे सनातनी होते हैं वे गतिशील धर्म-प्रवाहमें विश्वास रखते हैं। वे यह माननेसे अिनकार करते हैं कि अीश्वरने अेक बार ऋषि-मुनियों और पैगंबरोंको प्रेरणा दी और फिर अीश्वर सो गया। अीश्वर सबके हृदयोंमें प्रतिष्ठित है। सच्चे सनातन धर्मका यह विश्वास है कि अीश्वरकी आवाज सुनने जितनी अंतःकरणकी शुद्धि कर ली हो, तो कोअी भी मनुष्य अीश्वरकी आवाज सुन सकता है। अिसीलिअे धर्मशास्त्रोंके अक्षरार्थसे चिपटे न रहनेवाले पुरुषोंको नास्तिक या भ्रष्ट कहकर सूली पर चढ़ाने, जला डालने या अींट-पत्थर चला कर मार डालनेकी भूल हमारे सनातन धर्मने कभी नहीं की। सनातन धर्ममें कालकी महिमाका बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। काल-महिमा सनातन धर्मकी विशिष्टता ही है।

*

अतः जो लोग काल-माहात्म्य पर निर्भर रहनेकी बात कहते हैं, वे सनातन धर्मकी नाड़ीको समझ कर सनातन वृत्तिसे ही बोलते हैं। परन्तु काल-माहात्म्यके अूपर रहनेवाला यह विश्वास दो प्रकारका होता है: अेक आस्तिक, दूसरा नास्तिक। अेकका विश्वास आत्मा पर होता है; दूसरेका जड़ता पर। मनुष्य यदि कोअी पुरुषार्थ न करे और केवल कालके प्रवाहमें बहता रहकर कहे कि मैं कालका अुपासक हूं, कालके प्रति वफादार हूं, तो वह अनात्मवादी नास्तिक

है, जड़ताका अुपासक है, मरण-धर्मी है। लकड़ीका जो टुकड़ा पानीमें बहता जाता है वह प्रवाह-धर्मी है, जीवन-धर्मी नहीं। नदीके प्रवाहमें दो पत्थर पड़े हों और अुनके बीच वह टुकड़ा फंस जाय, तो वह वहींका वहीं पड़ा रहता है और सड़ा करता है। सड़नेमें अुसे कोअी आपत्ति नहीं होती, लेकिन अपने आप वह प्रवाहमें आगे नहीं बढ़ सकता। किसीको अुस पर दया आ जाय और पानीमें तैरते तैरते अुसके पास जाकर अुसे लात मार दे या हाथका धक्का दे दे, तो प्रवाहमें आकर वह फिरसे आगे बढ़ेगा और बोल सके तो कहेगा कि 'देखो, कालका माहात्म्य, मैं कैसी प्रगति कर रहा हूं!' कोअी लोभी आदमी अुसी प्रवाहमें तैर रहा हो और अुसे अपनी शक्तिका संग्रह करना हो, तो वह लकड़ीके अुस टुकड़ेको देखकर खुश होगा। वह अुस पर सवार हो जायगा और अपनी सुविधाके अनुसार अुसे प्रगतिके पंथ पर ले जायगा। अिसमें प्रगति तो सवार होनेवाले जिन्दे आदमीकी ही मानी जायगी। लकड़ीका निर्जीव टुकड़ा नदीके अुद्गमके पास पड़ा हो तो क्या, नदीके बीचोंबीच पड़ा हो तो क्या और नदीके मुख पर ज्वार-भाटेके धक्के खाते खाते दुर्दशा भोगता रहे तो भी क्या? मुर्देकी प्रगति कैसी? अुसका अेकमात्र नसीब यही है कि या तो वह स्वयं सड़ जाय और जहर बनकर दूसरोंको मारे अथवा खाद बनकर दूसरोंका पोषण करे।

पुरुषार्थ-हीन समाज, मरा हुआ समाज, परतंत्र बना हुआ समाज अूपर कहे लकड़ीके टुकड़ेकी तरह काल-माहात्म्यकी रक्षा करता है। वह जड़धर्मी होनेकी वजहसे नास्तिक है, अुसका जीवन व्यर्थ है। अुसे देखकर अीश्वर भी रोयेगा।

काल-माहात्म्यके विषयमें पुरुषार्थी आस्तिक व्यक्तिका विश्वास अिससे भिन्न होता है। वह अीश्वरको पहचानता है। अीश्वर मंगलमय है, अीश्वरकी सृष्टि सप्रयोजन है, अिस सृष्टिका क्रम चैतन्यके विकासके लिअे है — अैसा समझ कर वह काल-प्रवाहका अुपयोग विचार-पूर्वक चैतन्यके विकासके लिअे करता है।

अुस पारके मंदिर तक जानेके हेतुसे नदीके प्रवाहमें कूदनेवाला कुशल तैराक जानता है कि वह सीधा सामनेके किनारे पर नहीं पहुंचेगा। पानीका प्रवाह अुसे नीचेकी ओर ही खींच ले जायगा। सामनेके किनारे पर पहुंचनेमें शायद अुसे अेक-दो मील प्रवाहके साथ खिचकर बहना भी पड़े। परन्तु अुसका यह दृढ़ संकल्प होता है कि भले ही नीचेकी ओर खिच जाअू, लेकिन सामनेके किनारे तो मैं पहुंचने ही वाला हूं। वह कोअी लकड़ीका टुकड़ा या मुर्दा नहीं है, जो प्रवाह-धर्ममें पड़कर अपने चैतन्य-धर्मको और प्राप्तव्य स्थानको भूल जाय। रास्तेमें पत्थर आये तो वह अुनसे बचकर निकल जायगा। भूलसे अिसी किनारे पर पहुंच गया तो फिर पानीमें कूदेगा और फिरसे अुस किनारे जानेका प्रयत्न करेगा। नीचेकी ओर खिचकर अधिक दूर न चला जाना पड़े, अिसके लिअे वह कुछ हद तक प्रवाहके विरुद्ध भी अपनी शक्तिका अुपयोग

करेगा; लेकिन अपनी अधिकांश शक्तिका अुपयोग वह सामनेवाले किनारे पर पहुंचनेके लिअे ही करेगा और अंतमें अुस किनारे पर पहुंच कर ही आराम लेगा। वह सोचता है कि प्रवाहमें हूं तब तक आराम लिया ही नहीं जा सकता, थकान अुतारी ही नहीं जा सकती; आगे बढ़ते बढ़ते ही जो आराम मिलता है, अुसका लाभ उठाकर मुझे आगे ही बढ़ना है। अेक बार सामनेका किनारा हाथमें आया कि मनचाहा आराम लिया जा सकता है और अूपरकी ओर चलकर मोक्ष-मंदिर तक पहुंचा जा सकता है। कुशल तैराककी कालोपासना अलग होती है, अुसका धीरज (धैर्य) भी अलग होता है; और शवकी कालोपासना या धीरज बिलकुल अलग होता है।

प्राचीन कालसे सभी धर्म-सुधारक कालके माहात्म्यको पहचानते आये ह और धर्मको नये संस्कार देते रहे हैं। वे कालसे लाभ अुठाते हैं, कालकी शरणमें नहीं जाते।

पश्चिमी देशोंमें काल-पुरुषकी बड़ी सुन्दर कल्पना की गअी है। वह अेक युवा पुरुष है। अुसके सारे शरीर पर चरबी या मक्खन लगा हुआ है। वह सतत दौड़ता ही रहता है। कोअी अुसे पकड़ नहीं सकता। अुसकी चोटी कोअी पकड़ न ले अिस खयालसे अुसने अपने सिरको अच्छी तरह मुंड़वा लिया है। अीश्वरकी आज्ञासे अुसने कपालके अूपर बालोंकी केवल अेक अच्छी लट रख छोड़ी है। कालको पकड़ना हो तो वह हमारे पास आये अिसके पहले ही हाथ लम्बा करके अुसकी अिस लटको पकड़ा कि काल हमारे हाथमें आया। अेक क्षणकी भी गफलत हुअी तो अुसे हाथसे छूटा ही समझिये। अुसके बाल कोअी पीछेकी ओर नहीं अुड़ते कि हम अुन्हें पकड़ लें। अिस खूबीको अंग्रेजीमें 'To catch Time by the forelock' कहते हैं।

जो मनुष्य कालके अिस स्वरूपको जानता है, वही कालके माहात्म्यको जानता है; वही कालको अपना बनाता है और कालसे सारे वरदान प्राप्त करता है।

अंग्रेज सरकारने रेलगाड़ी चलाअी, तो अुसमें ब्राह्मणके साथ भंगीको भी बैठनेकी छूट दी। ब्राह्मणका रेलसे लाभ अुठानेका लोभ छूटता नहीं; और भंगीसे दूर बैठनेके लिअे कहा जाय तो वह मानता नहीं। अिसलिअे लाचारीसे ब्राह्मणने छुआछूतके विचारको कुछ हद तक छोड़ दिया है। चिढ़ता-कुढ़ता भी वह भंगीके साथ बैठ जाता है; घर जाकर स्नान करनेका पुरुषार्थ भी अब अुसमें नहीं रह गया है। दूसरे लोग डांटेंगे, अिसका डर कम रहता है। ब्राह्मण रेलगाड़ीका लाभ अुठानेकी लालचमें पड़ा और कहने लगा कि कलिकाल आ गया है, अिसलिअे अब धर्मका पालन कठिन हो गया है। व्यास मुनिने कहा ही है कि कलिकालमें म्लेच्छ लोग बलवान हो जायंगे। व्यास जैसे त्रिकालज्ञ मुनिका वचन

गलत कैसे हो सकता है? अिस तरह काल-माहात्म्यको समझ कर रूढ़िसे चिपटे रहनेवाले ब्राह्मणने कुछ हद तक अस्पृश्यताको छोड़ा, और वह अिसका अभ्यस्त हो गया। अैसी आज तककी हमारी प्रगति रही है। अिसमें हिन्दू धर्मकी विजय कहां है, यह समझमें नहीं आता। 'जिसकी लाठी अुसकी भैंस', बलवानकी ही सत्ता सब जगह चलेगी — यही अगर सनातन हिन्दू धर्म हो तब तो बात अलग है। सच पूछा जाय तो अिसमें लज्जाजनक दब्बूपनकी नास्तिकता ही कूट-कूट कर भरी है। सरकारी अधिकारीके अन्यायके सामने झुकना पड़े तब यह दलील सामने रखना कि 'राजा विष्णुका अवतार है', कोअी धनी व्यक्ति या देशी राजा स्वेच्छाचारसे समाजको बिगाड़े तब 'समरथको नहिं दोस गुसाअीं' वाला वचन अुद्धृत करना और धर्माभिमानी लोगोंके दोषोंको छिपानेके लिअे यह कहना कि धर्मकी विजयके लिअे अधर्म करनेमें दोष नहीं — ये सब नास्तिकताके ही लक्षण हैं। अिस प्रकार लाचारीसे जो परिवर्तन करने पड़ें, स्वार्थके कारण, भयके कारण या झूठे अभिमानके कारण जो परिवर्तन किये जायं, अुनका श्रेय धर्मको नहीं दिया जा सकता; अिसे काल-माहात्म्य भी नहीं कहा जा सकता। मनुष्य-समाज कोअी जड़ पंचभूत नहीं है। वह कोअी वनस्पति-सृष्टि नहीं है, पशुयोनि भी नहीं है कि कुदरतके जोर पर लाचारीसे अपने आप जो परिवर्तन हों अुन्हींसे संतोष मान ले।

अीश्वरने मनुष्य-जातिको स्थल और काल दोनोंमें दूर तक देखनेकी दृष्टि प्रदान की है। पशु-पक्षियोंको, तिर्यक्-योनिको कुदरतने दिशादृष्टि प्रदान की है, किन्तु अधिक कालदृष्टि प्रदान नहीं की है। कालदृष्टि केवल मनुष्यको ही मिली है, अिसलिअे मनुष्यको कालके वश न रखकर अीश्वरने अुसे कालका सहयोगी, कालका साथी बनाया है। मनुष्य कालकी अवगणना हरगिज नहीं कर सकता, यह बात जितनी सच है अुतनी ही यह भी सच है कि मनुष्य शवकी तरह कालके अधीन भी नहीं रह सकता। अतः मनुष्यके भाग्यमें यह लिखा गया है कि वह कालग्रस्त या कालत्रस्त न होकर कालज्ञ बने, काल-सहायक बने और अंतमें कालकृत् (कालका निर्माण करनेवाला) बने। मनुष्यकी महिमा काल-महिमासे ग्रस्त नहीं है। मनुष्य-महिमाका अधिकार काल-महिमासे अधिक है।

समस्त मनुष्य-जातिके चैतन्य-रूप नारायणने — समस्त मनुष्य-जातिके परम आदर्श-रूप भगवान पुरुषोत्तमने — स्वयं कहा है कि मैं काल हूं। परन्तु वह काल अलग है और नामर्द आदमीको पशुकी तरह घसीट कर ले जानेवाला बलवान काल अलग है। अेक काल पर विजय प्राप्त करनी होती है, जब कि दूसरे कालकी अुपासना करनी होती है।

१६–७–'३३

जीवन-व्यवस्था

चौथा खण्ड

मंदिर-भावना

५३
हमारे मन्दिर

१

मन्दिरोंकी संस्था बहुत पुरानी है। वैदिक कालमें शायद मूर्तिपूजा नहीं थी। महाभारत-कालमें भी नहीं रही होगी। मन्दिरोंमें जाकर परमात्माकी अुपासना करनेकी प्रथा शायद हमने बौद्ध संप्रदायसे सीखी होगी। यह भी संभव है कि बाल्हीक देशसे आकर भारतमें बसे हुअे रोमनों अथवा यवनोंसे हमने मूर्तिपूजाकी प्रथा अपनाअी हो। अितिहासके अन्वेषक अिस प्रश्नका निर्णय कभी भी करें, परन्तु अितना तो निर्विवाद है कि हिन्दुओंके सामाजिक और धार्मिक जीवनमें मन्दिरोंको दीर्घकालसे महत्त्वपूर्ण स्थान मिला हुआ है।

मनुष्यको मन्दिरकी कल्पना कैसे आअी होगी? किसी भक्त या साधकने हृदयको अुन्नत बनानेवाला कोअी स्थान पसन्द करके वहां अपने ध्यान और भक्तिके लिअे कोअी आलंबन पसंद किया होगा अथवा रखा होगा? वहां भक्त-को अपनी श्रद्धाके अनुसार अथवा अीश्वरके अनुग्रहके अनुसार धर्मकी प्राप्ति हुअी होगी या अुसकी कामना सिद्ध हुअी होगी। फिर लोगोंको अिस बातका पता चला होगा। अब तो पूछना ही क्या? जिस तरह किसी वैद्यके हाथके गुणकी (निदानकी) ख्याति फैलते ही सारे रोगी दौड़ कर अुसके पास पहुंच जाते हैं, अुसी तरह किसी स्थानकी 'जाग्रत देवस्थान' के नामसे ख्याति फैली कि सारे आर्तजन अुसी स्थान पर दौड़े चले गये होंगे और अपने भक्तिभावसे अुन्होंने अुसे ओतप्रोत कर दिया होगा।

जब सच्चे हृदयका अेकाग्र समर्पण न हो सके तब मनुष्य क्या करे? तब तो हृदयके बदलेमें अपनी संपत्तिका समर्पण करना ही अुसे सूझेगा। हमें राजाके पास अरजी लेकर जाना होता है तब हम खाली हाथ अुसके सामने नहीं जा सकते। राजा तो रोज भूखा ही रहता है। अुसे तृप्त करनेके बाद ही वह हमारी प्रार्थना सुनता है। संस्कृतमें राजा और परमात्मा दोनोंको अीश्वर ही कहते हैं। तब तो परमात्माका स्वभाव भी राजाके समान ही होना चाहिये। राजा जिन चीजोंसे संतुष्ट होता है वे ही चीजें अीश्वरको भी अर्पण करनी चाहिये। राजा भव्य मन्दिरमें अर्थात् महलमें रहता है। भाट-चारण अुसका बिरुद गाकर प्रातःकाल अुसे जगाते हैं। भोग-विलासकी सामग्री सदा अुसके चारों ओर तैयार रहती है। पालकी जैसे सुखदायी वाहनमें बैठकर वह सैर करता है। मिष्टान्न अुसका रोजका भोजन है। पत्र-पुष्प-फल, धूप, पंचामृत — ये

सब अुसकी दैनिक जरूरतें हैं। अिन्हीं चीजोंसे मंदिरके देवको भी संतुष्ट करना चाहिये। सचमुच मनुष्यकी कल्पना जिस हद तक पहुंच सके अुस हद तक दयालु परमात्माको नीचे अुतरना ही चाहिये। हमारी जो कल्पना है अुससे अधिक अुन्नत कल्पना भगवानने हमें नहीं दी, अिसमें हमारा क्या दोष?

अिस प्रकार शायद मूर्तिकी षोडशोपचार पूजा करनेके लिअे ही मन्दिरोंकी रचना की गअी होगी। बुद्ध और महावीर जैसी विरक्त विभूतियोंके मन्दिरमें भोग-विलासके लिअे कोअी स्थान नहीं होना चाहिये। स्मशानवासी योगीराज महादेवके मन्दिरमें भी वैभवका कोअी स्थान नहीं होना चाहिये। परन्तु भगवान तो बेचारा भक्तोंके अधीन होता है। जब महात्माओंको भी लोगोंकी भक्तिसे परेशान होना पड़ता है तब भगवानको यदि भक्तोंका दिया हुआ रूप और स्थिति स्वीकार करनी पड़े, तो अिसमें आश्चर्य कैसा? गरमीके दिनोंमें लोग मन्दिरकी मूर्ति पर पंखा झलते हैं, जाड़ेमें भगवानको रजाअी ओढ़नी पड़ती है, चौमासेमें जुकामसे बचनेके लिअे दूधके साथ सोंठ भी पीनी पड़ती है!

किन्तु जब मूल संस्थापकके अनुयायी बढ़ जाते हैं तब मन्दिरमें जाकर पूजा करने, दर्शन करने और प्रसाद लेनेका अधिकार अुन सबका हो जाता है। जिन लोगोंको हम अपना मानते हैं अुन्हें हम मन्दिरमें ले जाते हैं और दर्शन तथा प्रसादके भागी बनाते हैं। साथ ही अैसे स्थान पर जिस प्रकार हम मूर्तिका दर्शन करके कृतार्थ होते हैं अुसी प्रकार साधकोंकी भक्तिपूर्ण आंखें देखकर भी हम कृतार्थ होते हैं।

यह तो कर्मकाण्ड और अुपासना-काण्डकी बात हुअी। साधु-संतोंने मन्दिरकी अुपयोगिताको अिससे भी आगे बढ़ाया। अुन्होंने मंदिरोंको धर्मोपदेश और भक्ति-प्रचारका धाम बना दिया और अिस प्रकार मन्दिरोंको सामाजिक जीवनके केन्द्रका रूप दे दिया। अिसकी मीमांसा भी आज हमें जाननी चाहिये।

२१–११–'२९

२

कर्मकाण्डी लोग जब पूजा करते हैं तो अकेले ही करते हैं। अनेक आदमी अेकत्र होकर जब कर्मकाण्डी पूजा करते हैं तो बड़ी असुविधा होती है। पूजा-विधिकी जटिलताकी अेक कठिनाअी तो रहती ही है। फिर कर्मकाण्डी प्रायः सकाम पूजा करते हैं। प्रत्येककी कामना भिन्न होनेके कारण सामुदायिक पूजा करनेमें अुन्हें बड़ी कठिनाअी होती है। बड़े बड़े होम-यज्ञोंमें, अिष्टियों और समाराधनाओंमें सामुदायिक विधिका पालन जरूर होता है, परन्तु अब अिन सबके दिन चले गये।

काशी-विश्वनाथके मन्दिरमें जाकर आप देखिये। अेक भक्त आता है, विश्वनाथकी पूजा करता है, अभिषेक करके लिंग पर फूल तथा बिल्वपत्र चढ़ाता है और चला जाता है। वह पूजा करके मन्दिरके बाहर निकले अिसके पहले ही दूसरा भक्त आता है; वह पहले भक्तकी सारी पूजाको फेंक देता है और नया अभिषेक और नया पत्र-पुष्प भगवान विश्वनाथको अर्पण करता है। फिर अिसकी पूजाकी भी वही दशा होती है, जो अिसने पहले भक्तकी पूजाकी की थी। सवेरेसे दोपहर तक यही क्रम चलता रहता है। आटा पीसनेकी चक्की पर अेक आदमी आता है और अपना अनाज पिसवा लेता है। फिर दूसरा आता है और अपना अनाज पिसवा लेता है। प्रत्येक आदमीका चक्कीके साथ सम्बन्ध होता है, लेकिन पिसवानेवाले लोगोंमें परस्पर कोअी सम्बन्ध नहीं होता। आदर-बुद्धिकी मंदताके दुर्भाग्यपूर्ण क्षणमें मेरे मनमें यह विचार आया कि होटलमें अेक आदमी किसी टेबल पर चाय पीकर चला जाता है। फिर टेबल साफ कर दी जाती है और दूसरे लोग वहीं आकर चाय-कॉफी पीते हैं। फिर टेबल साफ की जाती है, और फिर चाय-कॉफीके नये भक्त आते हैं। क्या यही दशा हमारे मन्दिरोंकी नहीं है? लेकिन मनको धमका कर मैंने समझाया कि अिस तरह सोचना अनुचित है। भगवान तो निरपेक्ष है। वह भक्तोंके संतोषके लिअे सब तरहकी विडंबनाको भी पूजा मानकर ग्रहण कर सकता है। क्या भगवानने स्वयं यह नहीं कहा है:

> ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
> पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
> तदहं भक्त्युपहृतं अश्नामि प्रयतात्मनः।।

भगवानका अुपहास करना ठीक नहीं कहा जायगा। शर्मके कारण मेरा मन दब तो गया, लेकिन धीमी आवाजमें कहने लगा: 'हम भगवानका अुपहास कहां करते हैं? हम तो सकाम पूजासे होनेवाले भगवानके अुपहासको देखकर मनुष्य-बुद्धिका आदर करते हैं!'

साधु-संतोंने कर्मकाण्डका महत्त्व घटा कर भक्ति तथा अुपासनाका महत्त्व बढ़ा दिया। भक्तोंमें अेकांत अुपासना भी होती है और सामुदायिक पूजा भी होती है। अिस प्रकार साधु-सन्तोंने हमें मन्दिरोंका नया अुपयोग सिखाया। अुन्होंने कहा कि मन्दिरोंमें पूजाकी विधि भले ही हो, राज-वैभवकी शोभा भले ही बढ़े, परन्तु वहां जन-समुदायको अेकत्र करके भगवानका गुणगान करना चाहिये और नीति, सदाचार तथा भक्तिका अुपदेश करना चाहिये। यही मन्दिरोंकी मुख्य प्रवृत्ति होनी चाहिये। सब लोग मन्दिरमें आओ, हिल-मिल कर रहो, अेक-दूसरेकी मदद करो और सीधे मार्ग पर चलो, यही संतोंका संदेश था। बस, फिर तो कर्मकाण्ड और शोभाकाण्ड मंदिरोंमें गौण बन गये और भक्ति

द्वारा धर्म-प्रचारका काण्ड बढ़ने लगा। परमात्माके सभी बालक प्रेमसे अेकत्र हों और सब प्रेमपूर्वक हिल-मिलकर साथ साथ 'परस्परं भावयन्तः' अुन्नतिके मार्ग पर चलें! यही हो गअी नयी प्रेरणा।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।।

यही संतोंका मार्ग है।

निर्मान-मोह साधु-सन्तोंके मनमें अूच-नीच-भावके लिअे कोअी स्थान हो ही नहीं सकता। सब मनुष्य परमात्माके बालक हैं, सब समान हैं और सब भाअी-भाअी हैं। वैश्य तुकारामने गाया है: 'आम्ही जातीचे ब्राह्मण, आमचे सोयरे मुसलमान'—हम जातिसे ब्राह्मण हैं और मुसलमान हमारे सगे-सम्बन्धी हैं। अैसे संतोंके घरमें प्रत्येक मनुष्यका प्रेमसे स्वागत हो सकता है। जिन्हें सत्पुरुषोंके अुपदेशकी जरूरत नहीं है, वे मन्दिरमें न जायं। जिन लोगोंकी आस्था अीश्वरका नाम लेनेमें है, वे सब मन्दिरमें अिकट्ठे हों। यही संतोंका नियम—संतोंका कानून है।

मंदिरके तीन विभाग होते हैं: (१) गर्भगृह जहां पूजाके लिअे मूर्ति रहती है। अिसके अूपर ही मन्दिरका शिखर होता है। (२) सभा-मंडप जहां पुराण-कीर्तन और अुपदेश-प्रवचन होता है। (अिस विभागको नाटच-मन्दिर भी कहते हैं, क्योंकि अिसी स्थान पर भगवानकी लीलाका अभिनय भी किया जाता है।) (३) गर्भगृह तथा सभा-मंडपके बीच जो छोटोसी जगह होती है, अुसे अन्तराल कहा जाता है।

कर्मकांडियोंने मंदिरके गर्भगृहका बीज बोया; ध्यानमार्गियोंने अंतरालको पसंद किया; और भक्तिमार्गी तथा पुराण-प्रिय लोगोंने अपने प्रेमसे सभा-मंडपको भर दिया। अिस तरह हिन्दू धर्मका संपूर्ण स्वरूप अेक मन्दिरमें समा जाता है। अिनमें से ज्ञान और भक्तिके प्रतिनिधिके समान सभा-मंडप ही हिन्दू समाजका सार्वजनिक स्थान माना जाता है। सभा-मंडप तक सारे हिन्दू केवल मूर्तिके दर्शनके लिअे ही नहीं किन्तु धर्मकथा सुनने-सुनानेके लिअे भी जा सकते हैं।

कर्मकांडियोंने गर्भगृहमें चलनेवाली पूजाविधिको अपने हाथमें रखा और सर्व-साधारणको केवल दर्शनका अधिकारी ठहराया; और अुसमें भी 'तर-तम' भाव (अूंच-नीच-भाव) को जोड़कर हिन्दू धर्मके टुकड़े-टुकड़े कर डाले। मुसलमानोंने मंदिरोंकी मूर्तियां तोड़कर हिन्दू समाजका अपमान किया, संपत्ति और कलाका नाश किया, परन्तु अिससे हिन्दू धर्मको किसी प्रकारकी तात्त्विक हानि नहीं पहुंची; अिसके विपरीत, हमारे अभिमानी कर्मकांडियोंने समाजको तोड़कर छिन्न-भिन्न कर दिया, हिन्दू धर्मको बड़ी हानि पहुंचायी और अिस प्रकार अीश्वरसे

अिनकार किया। अिस छिन्न-भिन्न हिन्दू समाजको पुनः संगठित और अेकजीव बनाकर धर्मको प्रतिष्ठित और शोभान्वित करना ही आज मन्दिरोंका युगकार्य है।

१९–१२–'२९

३

आजकल अस्पृश्योंके लिअे नये मन्दिर बनवानेकी सूचना की जाती है। अिस सूचना पर थोड़ा अधिक विचार करना जरूरी है।

देशमें पुराने मन्दिर अितने अधिक हैं कि अुन सबकी व्यवस्था करना हिन्दू समाजके लिअे अशक्य नहीं तो कठिन जरूर है। विधवाओंका प्रश्न जितना जटिल है अुतना ही मन्दिरोंका प्रश्न भी जटिल है। हमने अैसे अनेक अनाथ मन्दिर देखे हैं जो कहलाते तो विश्वनाथके मन्दिर हैं, परन्तु जिनमें वर्षोंसे किसीने झाड़ू भी नहीं लगाअी है। जो नियम मिट्टीकी मूर्तियोंके लिअे ठीक है वही मन्दिरोंके लिअे भी होना चाहिये। मिट्टीकी जिस मूर्तिकी पूजा नहीं होती अथवा जो मूर्ति खंडित हो गअी है, अुसका दर्शन अशुभ होता है। अुसका किसी तीर्थ या जलाशयमें विसर्जन कर देना चाहिये। कुछ अैतिहासिक मन्दिरोंको अितिहास-रक्षाकी दृष्टिसे खंडित अवस्थामें ही रखना हो तो बात अलग है। परन्तु सामान्य रूपमें प्रत्येक मन्दिरका अच्छे अखंड रूपमें ही अुपयोग होना चाहिये। और यदि अैसा न हो सके तो विधिवत् अुसका विसर्जन ही कर दिया जाना चाहिये। यदि हम पुराने मन्दिरोंकी अिस तरह व्यवस्था नहीं करना चाहते, तो नये मन्दिर बनवानेका हमें कोअी अधिकार नहीं है। जितने मन्दिर हैं अुतनोंकी रक्षा और सेवा करनेकी शक्ति हममें होनी चाहिये। अैसा न हो सके तो जितनोंकी रक्षा और सेवाकी शक्ति हममें हो तथा जितनोंकी अुपयोगिता हमें मालूम हो अुतने ही मन्दिर रखे जायं।

हम देखते हैं कि समाजको नये नये मन्दिरोंकी जरूरत है। जिस तरह कर्मकांडी साधकोंके मन्दिरोंमें ही परिवर्धन करके भक्तिमार्गी अुपासकों तथा साधु-संतोंने अुनमें नये मन्दिर बना दिये, अुसी तरह समाज-हितैषी सेवकोंके हाथों नये मन्दिरोंकी रचना होना अुचित है। और समाजकी आवश्यकताओंमें जैसा परिवर्तन होता है वैसा ही परिवर्तन मन्दिरोंकी रचना और व्यवस्थामें भी होना चाहिये।

१. सबसे पहले यह बात होनी चाहिये कि आज पूजास्थान और पूजा-मूर्ति जो 'गुहां प्रविष्ट'—अंधेरेमें होते हैं, अुसके बदले मूर्तिके लिअे 'विवृतं सद्म' बनाया जाय। मूर्ति अैसे स्थानमें अूंचाअी पर प्रतिष्ठित होनी चाहिये कि हजारों और लाखों लोग अेकसाथ अुसके दर्शन कर सकें।

२. मूर्तिका मूल अुपयोग दर्शनके लिअे है। मूर्तिको साफ करना, अुसका शृंगार करना किसी वेतन पर काम करनेवाले पुजारीका काम है। प्रत्येक भक्त खड़ा होकर मूर्तिको स्नान कराये, भोजन कराये या अन्य कोअी सेवा अुसकी करे, यह सार्वजनिक मन्दिरोंके लिअे वांछनीय नहीं है। नित्य-तृप्त परमात्माके सामने भोग लगानेकी कोअी जरूरत नहीं। अुसके समक्ष नैवेद्य रखनेसे ध्यानमें कोअी सुविधा नहीं होती। बेशक, पत्र-पुष्प, होम, धूप-दीप हो सकते हैं, संगीत हो सकता है, कला-विधान भी हो सकता है। यह सब सात्त्विक रूपमें होता है तब प्रसन्नताको बढ़ाता है और ध्यान-दर्शनमें सहायक होता है। भोग और नैवेद्यके कारण स्पर्शास्पर्शका झगड़ा बहुत ज्यादा बढ़ जाता है। यदि भोग लगाना ही हो तो अुसके लिअे अच्छे ताजे फल, सूखा मेवा और गायका ताजा दूध ही पसंद किया जाना चाहिये। मूर्तिकी सेवा तो निरर्थक है — अुसका मूल अुद्देश्य तो ध्यानके लिअे ही है। यदि हम अितनी बात समझ लें और बच्चोंकी तरह पूजाका खिलवाड़ करना छोड़ दें, तो मन्दिरोंसे सम्बन्धित अनेक झगड़े मिट जायं।

यदि मूर्तिपूजा हिन्दू धर्मका आवश्यक अंग न हो, तो फिर मन्दिरमें मूर्तिकी प्रतिष्ठा करनेका आग्रह क्यों रखना चाहिये? अैसे कितने ही हिन्दू मन्दिर हो सकते हैं, जिनमें भक्तिकी गंभीरता हो, पवित्र और शांत वातावरण हो, परन्तु मूर्ति या मूर्तिपूजाका नाम न हो। अैसे मन्दिर भी हो सकते हैं, जिनमें किसी अेक मूर्तिकी स्थायी स्थापना न की जाय, परन्तु त्योहारके अनुसार किसी भी अिष्ट मूर्तिकी स्थापना पूजाके स्थान पर की जा सके।

जिन लोगोंका अैसी पूजासे विरोध न हो, वे सब अिन मन्दिरोंमें प्रवेश कर सकते हैं। अैसे मन्दिरोंमें धर्मचर्चा, समाज-चर्चा, अितिहासका अध्ययन-अध्यापन और सब धर्मोंका अध्ययन आदि हो सकता है।

यदि हम समस्त समाज या धर्मको केन्द्रस्थानमें रखकर अपने समग्र जीवनको संगठित करना चाहें, तो यह कार्य मन्दिरों द्वारा अच्छी तरह हो सकता है। मन्दिरोंके साथ समाज-हितकी अनेक प्रवृत्तियां जोड़ी जा सकती हैं: जैसे, पाठ-शाला, रुग्णालय, पशु-चिकित्सा, सार्वजनिक स्नानागार, वाचनालय, पुस्तकालय, नाटयगृह, बैंक, प्रदर्शनी आदि। अैसे मंदिरोंकी व्यवस्था धर्मनिष्ठ, चरित्र-वत्सल लोक-प्रतिनिधियोंके द्वारा ही होनी चाहिये। पुजारीका कार्य किसी अेक जातिके हाथमें नहीं रहना चाहिये और मन्दिरमें आये हुअे दानका अुपयोग दूसरे किसी विलासके कार्यमें नहीं होना चाहिये। मन्दिरका स्थान सर्वोच्च सदाचारका पोषक होना चाहिये। मन्दिरका संगीत अुच्च कोटिका तथा संस्कारी होना चाहिये, कोला-हल मचानेवाला नहीं। अेक भी मन्दिर व्यवस्थाहीन नहीं होना चाहिये।

आज अैसे नये मन्दिरोंकी बड़ी जरूरत है। मन्दिर और मसजिदके झगड़ों-से अूब कर कितने ही लोग मन्दिरोंके विरोधी हो गये हैं। किन्तु वे समाजके

हृदयको नहीं पहचानते । मन्दिर सामाजिक और धार्मिक जीवनका केन्द्र है। अुसने हिन्दू समाजकी बहुत बड़ी सेवा की है और अपने नये रूपमें आगे भी वह खूब सेवा करेगा।

२–१–'३०

४

हमें दुःखके साथ कहना पड़ता है कि दक्षिण भारतके कुछ विशाल मन्दिरोंको और अुनके नमूने पर बने हुअे वृन्दावनके दो-तीन भव्य मन्दिरोंको छोड़ दें, तो हमारे बाकीके सब मन्दिर बहुत ही छोटे होते हैं। और किसी मन्दिरके थोड़ीसी भी लोकप्रियता प्राप्त करते ही अुसके आसपास पंडोंके मकान और बाजारकी दुकानें खड़ी हो जाती हैं। हम ट्रेनमें हों, नावमें हों या गांवमें हों, भीड़ करके बैठना और भीड़ करके बसना हमारा जाति-स्वभाव हो गया है। निःशस्त्र और अहिंसक होनेके कारण हमने आत्मरक्षाकी दृष्टिसे भीड़ पसंद की हो, या शहरकी मक्खियों जैसा अपना स्वभाव होनेके कारण हमने भीड़ पसंद की हो, या किसी अन्य कारणसे हमने यह रीति अपनाअी हो, परन्तु अितना सच है कि हम लोग सदा भीड़में ही रहते हैं । यह भीड़ व्यक्तिके विकासके लिअे अच्छी नहीं है । अेक काम करना हो तो दस आदमियोंको पूछना और अितना पूछनेके बाद भी दृढ़ निश्चयसे वह काम करनेके लिअे कटिबद्ध न होना यह अच्छा स्वभाव नहीं है । और अितना पूछनेके बावजूद हमने पूछनेकी प्रथा या रीति अच्छी तरह निश्चित नहीं की है। अिसका कारण भी हमारी यह भीड़ ही है। बड़े बड़े धार्मिक मेलोंमें जो व्यवस्था रहती है वह तो सैकड़ों वर्षोंके रिवाजसे अुत्पन्न हुअी स्वयंभू व्यवस्था है। अपने अहिंसक, सहिष्णु और मिलनसार स्वभावके कारण हम लोग अितनी अव्यवस्थाको पचा सकते हैं। अिसी कारणसे हम अपने मन्दिरोंमें दान, भक्ति, धर्म-श्रवण और अखंड जागरणके होते हुअे भी अुसका सच्चा अुपयोग नहीं कर सकते । हमारे मन्दिरोंमें खूब भीड़ होती है । परन्तु वह 'समाज' नहीं होता, केवल जमाव ही होता है। किसीका किसीके साथ कोअी सम्बन्ध ही नहीं होता । कोअी किसीको पूछता नहीं, कोअी किसीकी सुनता नहीं । यह स्थिति असामाजिक कही जायगी । मन्दिरमें प्रसाद बांटने या बेचनेकी प्रथा अत्यन्त अव्यवस्थित होती है। सुसंगठित हिन्दू समाज अिसमें भी बहुत-कुछ सुधार कर सकता है। सिक्खोंने जैसे गुरु-द्वारा-प्रबन्धक मंडल बनाया है अुसी तरह हिन्दू मन्दिर-प्रबन्धक मंडल बनानेकी जरूरत है । अिस तरहका प्रबन्ध हो जानेसे थोड़े खर्चमें बड़ी समाज-सेवा हो सकती है । सबसे पहला काम हमें यह करना चाहिये कि मन्दिरके आसपास जितनी भी खुली जमीन रखी जा सके अुतनी रखें। मन्दिर अेक सामाजिक संस्था

है। अुसमें हजारों लोग आयेंगे और अेकसाथ बैठकर कुछ विचार-विमर्श भी करेंगे। मन्दिरमें आनेके लिअे चारों ओर चौड़े रास्ते होने चाहिये। गाड़ियों और घोड़ों जैसी सवारियोंको मन्दिरके निकट आनेसे रोकना चाहिये। और मन्दिरोंके आसपास कहीं अस्वच्छता या गंदगीका नाम भी नहीं होना चाहिये।

मन्दिर हिन्दू धर्मकी रक्षाके लिअे होते हैं। अतः नये मन्दिरोंके द्वारा गोरक्षाका प्रबन्ध भी होना चाहिये। प्रत्येक मन्दिरके द्वारा आसपासके समाजको चाहिये अुतना गायका शुद्ध, ताजा और सत्त्वपूर्ण घी-दूध मिलनेका प्रबन्ध अवश्य किया जाना चाहिये। मन्दिर किसी अेक व्यक्तिकी संस्था नहीं होता, अिसलिअे वहांसे केवल स्वार्थ और अुससे पैदा होनेवाली धोखेबाजी दूर होनी चाहिये। दूधसे जो आय हो वह गोरक्षाके लिअे ही खर्च की जानी चाहिये। गायके दूधसे होनेवाली आय गोवंशको बचाने और अुसे सुधारनेके लिअे ही खर्च की जानी चाहिये। यदि गो-ब्राह्मण-प्रतिपालन हिन्दू धर्मका अेक विशिष्ट लक्षण हो, तो फिर मन्दिरोंके द्वारा केवल ब्राह्मणोंकी ही रक्षा क्यों होनी चाहिये? गायकी भी रक्षा होनी चाहिये। और सारे ब्राह्मणोंकी रक्षा भी कहां हो पाती है? केवल अिने-गिने पंडोंकी ही बन आती है। कभी कभी लंगड़ी-लूली गायोंकी रक्षा भी हो जाती है। लेकिन अिसमें हिन्दू समाजकी शोभा नहीं है। मन्दिरोंके द्वारा गोवंशकी और ब्राह्मणोंकी यानी धर्म-सेवकोंकी आदर्श रूपमें रक्षा होनी चाहिये।

५

अच्छे और बड़े मन्दिरोंके साथ छोटी या बड़ी अच्छी अथवा नामकी अेक संस्कृत पाठशाला कभी-कभी चलाअी जाती है। अुसमें संस्कृत भाषाकी और धर्मकी शिक्षा दी जाती है। हमारे समाजमें धर्मशास्त्रका अर्थ बहुत संकुचित हो गया है। अिस पाठशालामें मन्दिरोंके सेवक पुजारियोंका (अथवा पुरोहितोंका) कर्मकाण्ड और वेदान्तियोंका तर्क और ज्ञानकाण्ड अथवा वेदान्त ही मुख्यतः पढ़ाया जाता है। किन्तु धर्मशास्त्र तो जीवन-व्यापी सार्वभौम शास्त्र है। अुसमें प्राचीन पुराणोंके साथ आधुनिक अितिहास भी होना चाहिये और आचारशास्त्रके साथ आरोग्य-शास्त्र तथा संपत्तिशास्त्र भी होना चाहिये। सामाजिक धर्ममें अर्थशास्त्रका भी समावेश होता है। मन्दिरोंको दानकी जरूरत हमेशा रहती है। तब मन्दिर दाताओंकी आर्थिक सुस्थितिका विचार क्यों न करें? जैसे रेलवेको तीसरे दरजेके मुसाफिरोंसे ही अच्छी आय होती है, अुसी तरह मन्दिरोंको गरीब लोगोंके दानसे ही अच्छी आय होती है। और जिस प्रकार रेलवे तीसरे दरजेके मुसाफिरोंको तिरस्कारकी दृष्टिसे देखती है, अुसी प्रकार हमारे मन्दिरोंमें गरीबोंकी भक्तिकी कोअी कदर नहीं होती।

यह देखना प्रत्येक मन्दिरका कर्तव्य है कि अुसके द्वारा गरीब लोगोंको राष्ट्रव्यापी अुद्योगोंकी अच्छी शिक्षा मिले। मन्दिरके धनमें से गरीब कारीगरोंको अपने धन्धेके लिअे अुधार पैसा मिलना चाहिये। सोने-चांदीके पाट लाकर या गहने बनवा कर अुन्हें तालेमें बन्द रखना सामाजिक द्रोह है। मन्दिरके धनको शहरोंके बैंकोंमें रखना या प्रॉमिसरी नोटोंके रूपमें रखना भी लोकहितका द्रोह करना है। मन्दिरका धन लोकनाथ परमेश्वरका है। गरीब लोगोंकी सहायतामें ही अुसका अुपयोग होना चाहिये। गांवके किसान सरकारी लगान या साहूकारके कर्जके हमेशा देनदार बने रहते हैं। यदि चरित्रवान किसानोंको जरूरतके समय मन्दिरकी ओरसे अुधार पैसा मिलता रहे, तो वे सर्वनाशसे बच सकते हैं। कुछ प्राचीन मन्दिरोंके पास कल्पनातीत धन है। यह सारा पैसा लोकहितमें ही लगना चाहिये। स्वार्थी दलों और साधुओंने कहीं कहीं यह प्रचार शुरू किया है कि मन्दिरका पैसा समाज-हितके कार्योंमें खर्च करना पाप है। यह गलतफ़हमी दूर की जानी चाहिये। जिस प्रकार मन्दिरके खेत और बाग लगान पर दूसरोंको दिये जाते हैं, अुसी प्रकार मन्दिरका पैसा भी मन्दिरके भक्तोंको मिलना चाहिये। नहीं तो मन्दिरोंको लूटनेका जमाना आनेवाला ही है।

१६–१–'३०

५४

देव-मन्दिर: सार्वजनिक जीवनका केन्द्र

१

प्यासोंको पानी पिलाना, भूखोंको और खास करके ब्राह्मणोंको भोजन कराना, गायोंको घास खिलाना, अनाथ ब्राह्मणोंके पुत्रोंकी यज्ञोपवीत कराना, अुनके लड़के-लड़कियोंकी शादी कराना, तीर्थयात्रा करना, कुअें खुदवाना, धर्म-शालायें और मन्दिर बंधवाना — ये सब पुराने जमानेके दानधर्मके मुख्य प्रकार हैं। अतिथि-सत्कार करना, विद्याध्ययन करनेवाले ब्राह्मण बटुकोंको मधुकरी (भिक्षा) देना और पशुओंको गोग्रास अथवा काकबलि जैसा कुछ देना — ये क्रियायें नित्यकर्ममें मानी जाती थीं। अिसलिअे अिन्हें दानधर्म जैसा बड़ा नाम नहीं दिया जाता था।

आजके जमानेमें अिन सब बातों पर लोगोंकी श्रद्धा कुछ घट गअी है। दानके ये प्रकार बिलकुल बन्द तो नहीं हुअे हैं; परन्तु पुराने जमानेके विचारोंमें पले-पुसे लोगोंसे ही अिन प्रकारोंको थोड़ा-बहुत प्रोत्साहन मिलता है। समाजका

मार्गदर्शन करनेवाले नेताओंने दानधर्मको समाज-सेवाका रूप प्रदान किया है। शिक्षण-संस्थायें खोलना, दवाखाने चलाना, आरोग्य-भवन बनवाना, वाचनालय खोलना, छात्रवृत्तियां देना, पुस्तकें लिखवाना, प्रचार और आन्दोलनके लिअे पैसा अेकत्र करना और जातिकी अुन्नतिके लिअे बोर्डिंग हाअुस चलाना — यह आजकी नअी रीति है। समाजकी अुन्नतिकी कल्पना और चर्चा ज्यों ज्यों आगे बढ़ेगी त्यों त्यों नये क्षेत्र भी मिलेंगे। अुदाहरणके लिअे, अिस विचारको फैलाना आवश्यक है कि मद्य-निषेध तथा सामाजिक स्वच्छताके लिअे दानधर्म करनेसे आजके जमानेमें अधिकसे अधिक पुण्य प्राप्त होगा।

परन्तु यह विचार करना आवश्यक है कि हमारी पुरानी संस्थाओंको, जिनकी अुपयोगिताके बारेमें रूढ़िवादी समाजको जरा भी शंका नहीं है, पुनर्जीवन प्रदान किया जा सकता है या नहीं। दस वर्ष पहले सनातनी लोगोंमें अैसी अेक हवा चल पड़ी थी कि नये मन्दिर बनवानेकी अपेक्षा पुरानोंका जीर्णोद्धार करनेमें अधिक पुण्य है। काशीके प्रसिद्ध तैलंग स्वामीने काशीमें यही मुख्य कार्य किया था। जिन पुराने मन्दिरोंको अच्छी आय होती हो अुन मन्दिरोंके प्रबन्धको सुधार कर मन्दिरोंका पैसा समाज-सेवामें खर्च किया जाना चाहिये; सुधारका यह अेक महत्त्वका विचार भी सारे देशमें खूब फैला था। सिक्ख लोगोंका गुरुद्वारा-प्रबन्धक आन्दोलन अिसका अेक नया रूप है। दक्षिणके कुछ मन्दिरोंकी आय छोटे-बड़े देशीराज्योंकी आयके बराबर होती है। दक्षिणमें मन्दिरोंकी आयकी व्यवस्थासे सम्बन्ध रखनेवाला अेक कानून भी पास हुआ है। मन्दिरोंके व्यवस्थापक अपने पदके कारण (**ex-officio**) सत्पुरुषोंके रूपमें पूजे जाते हैं। अुन लोगोंका चरित्र कैसा होता है, यह तो वे ही जानें। प्रत्येक मन्दिरके व्यवस्थापकके बारेमें कोअी न कोअी किंवदन्ती, अफवाह समाजमें चलती ही रहती है। सभी बातें निराधार नहीं हो सकतीं। और सभी बातें सच हैं यह विश्वास भी कैसे दिलाया जाय? कुछ मन्दिरोंके व्यवस्थापक-ब्रह्मचारियोंके मैंने बाल-बच्चे देखे हैं। शिष्टाचारको अेक ओर रखकर अुनसे पूछा जाय तो वे निर्लज्ज होकर कहते हैं: 'ब्रह्मचारीको आप हमारा अुपनाम समझिये।' अैसे लोगोंकी संख्या अधिक तो नहीं है, लेकिन समाजमें अुनका निभ सकना ही दुःखकी बात है।

यह सच है कि मन्दिरोंके अनेक व्यवस्थापक अपढ़, पिछड़े हुअे, डरपोक और लोभी होते हैं; और योग्यताकी अपेक्षा अधिक सत्ता अर्थात् पैसेका अुपयोग करनेकी सुविधा होनेके कारण जितने भी शक्तिशाली सत्ताधारी या दुर्जन अिनके संपर्कमें आते हैं अुन सबकी खुशामद करना, अुन्हें प्रसन्न रखना, अिन व्यवस्थापकोंका जीवन-धर्म बन जाता है। सरकारी अधिकारियोंकी तो अुन्हें दिन-रात खुशामद करनी पड़ती है। 'राजा विष्णुका अवतार है और राजाके साथ अुसके

छोटे-बड़े अधिकारी भी आ जाते हैं।' पत्थरके विष्णुकी अपेक्षा अिस जीते-जागते विष्णुकी या अिन काल-भैरवोंकी अुपासना अुपासकोंके लिअे प्रत्यक्ष फल देनेवाली सिद्ध होती है। कुछ मन्दिरोंकी ओरसे पुजारी ब्राह्मणोंके सिवा बाजे बजानेवालों, नृत्यनारियों आदि तरह तरहके गुणीजनोंको भी वार्षिक वृत्ति (सालियाना) मिलती है। वहां धर्मके नाम पर सब-कुछ चलता है। अैसी संस्थाओंका सुधार अंग्रेजोंके राज्यमें असाध्य नहीं तो दुःसाध्य अवश्य है। मन्दिरोंके सम्बन्धमें अैसे अनुभवके बाद कौन धर्मनिष्ठ या नीतिवान देशप्रेमी अैसा होगा, जो अुसी ढंगके नये मन्दिरोंकी स्थापनासे प्रसन्न होगा?

अिस सबके बावजूद अस्पृश्यता-निवारणके सम्बन्धमें नये मन्दिर स्थापित करनेकी बात हमारे लोगोंको सूझी है। अंत्यज, भील आदि पिछड़ी हुअी जातियोंको धर्मज्ञान और धर्मके अनुकूल शिक्षा देना जरूरी है। अुन्हें शुभ संस्कारोंकी तालीम मिले, यह भी अुतना ही जरूरी है। पिछड़ी हुअी जातियोंको मन्दिरोंमें, अुत्सवोंमें तथा पूजा, अर्चा आदि बाह्य विधियोंमें अूंची जातियोंसे जरा भी कम रस नहीं होता। अैसा भी कहा जा सकता है कि पिछड़े हुअे लोगोंको अुत्सवादि बाह्य प्रकारोंकी आवश्यकता अूंची जातिके लोगोंसे अधिक होती है। अिस सारी वस्तुस्थितिका विचार करने पर लगता है कि अुनके लिअे मन्दिर बनवाना जरूरी है। परन्तु हमारा नया आन्दोलन, नूतन प्रेरणा, शुद्ध हिन्दू धर्म-विषयक हमारा आदर्श और भविष्यके हमारे स्वप्न — अिन सबको दृष्टिमें रख कर अिन नये मन्दिरोंकी रचना, व्यवस्था, पूजाविधि, अन्य प्रथायें, त्योहार आदिका विचारपूर्वक तथा अुपयुक्त रूपमें निर्णय किया जाना चाहिये। अेक बार परम्परा बन गअी कि फिर अुसे बदलना मुश्किल होगा। आदि-संस्थापकोंमें विचारका जो बीज होगा, वही आगे चल कर फलका रूप लेगा।

किसी मन्दिरके आसपास अितनी सारी चीजें जुड़ी हुअी होती हैं; और हम चाहें तो मन्दिरोंके द्वारा धर्मसेवाका बहुत बड़ा कार्य कर सकते हैं। अिसलिअे अिन नये मन्दिरोंके बारेमें खूब सार्वजनिक चर्चा होनी चाहिये।

अनेक मन्दिरों तथा अुनमें प्रचलित पद्धतियोंका आस्तिक बुद्धिसे निरीक्षण करनेके बाद अिस विषयमें जो विचार मुझे सूझे हैं, अुन्हींको मैं यहां प्रस्तुत करना चाहता हूं।

२

पहले हम मन्दिरोंकी रचनाका विचार करें। हमारे मन्दिरोंके सामान्यतः तीन विभाग होते हैं: (१) जिस विभागमें मूर्ति होती है वह गर्भगृह, (२) जिसमें कथा-कीर्तन चलता है वह सभा-मंडप और (३) अिन दोनोंको जोड़नेवाला बीचका भाग अंतराल। मन्दिर यदि बड़ा हो तो अुसके आसपास बड़ा

आंगन होता है। सामने दीपस्तंभ होता है और आंगनके चारों ओर ओसारे होते हैं। अिनके बाहर कुछ दुकानें तो होती ही हैं, परन्तु मन्दिरके 'सेवकों' के मकान भी पास ही कहीं बने हुअे होते हैं।

हिन्दू मन्दिरोंमें बड़ीसे बड़ी कठिनाअी यह होती है कि जितने लोग मन्दिरका लाभ अुठाते हैं अुनकी तुलनामें मन्दिर सदा ही छोटा होता है। मन्दिरका स्थापत्य मजबूत होता है, अुस पर अद्‌भुत कला अुंड़ेली जाती है। खास तौर पर अिटलीसे लाये हुअे संगमरमरके पत्थर अुसमें जड़े होते हैं, नये ढंगके पाखानोंमें जैसी चमकती चीनी मिट्टीकी तख्तियां (टाअिल्स) लगाअी जाती हैं वैसी ही तख्तियोंसे मंदिरकी फर्श और दीवालें सजाअी जाती हैं! परन्तु मन्दिर तो छोटा ही होता है। पुण्यके लोभी दानशूर लोग सारा पुण्य अपने ही नाम पर लिखे जानेकी आशासे अकेले अपने ही खर्चसे मन्दिर बनवायें तो यही होगा। मन्दिर बनवानेमें मुख्य विचार सुविधाका नहीं होता। अिसके पीछे प्रेरक वृत्तियां परलोकमें पुण्य और अिस लोकमें कीर्ति अर्जित करनेकी ही होती हैं। किसी अेक शहरमें दस या बीस मन्दिर होंगे, लेकिन दीवाने-आम, संथागार या टाअुन-हॉलकी गरज पूरी करनेवाला अेक भी मन्दिर नहीं होगा। अब भविष्यमें हम जो मन्दिर बनवायेंगे वे छोटे हों या बड़े, परन्तु अुनके साथ अितना बड़ा आंगन तो रहेगा ही कि जिसमें गांवके सब लोग अेकत्र हो सकें। मन्दिरका वैभव बढ़े और सार्वजनिक जीवन समृद्ध हो, तो बड़ी परिषदें बैठ सकें अैसा खुला एम्फीथियेटर (रंगशाला) खड़ा किया जा सकता है। अिससे भी अधिक जगहकी जरूरत हो तो रंगशाला पर छज्जा भी बनवाया जा सकता है। लेकिन प्रत्येक मन्दिरके आसपास विस्तीर्ण और खुली जगह तो होनी ही चाहिये। रास्तेकी दुकानों जितने संकरे मन्दिर बांधनेसे कोअी लाभ नहीं होगा। अैसे मन्दिर बनवानेकी अिजाजत ही नहीं मिलनी चाहिये।

दूसरी बात। हमारे पुराने मन्दिरोंके गर्भगृह अत्यन्त मजबूत किन्तु बिना प्रकाशवाले और संकरे होते हैं। मूर्तिकी रक्षाकी अपेक्षा मूर्तिके गहनोंकी रक्षाके खयालसे ही शायद यह व्यवस्था की गअी होगी। गर्भगृहमें बैठकर मूर्ति पर अभिषेक करनेवाले स्वर्गके अुम्मीदवारको अिहलोकमें दूसरी बार गर्भवासका अनुभव करानेका अुद्देश्य भी अिसमें हो तो कह नहीं सकते! मूर्तिका अिस प्रकार दम घोंटनेसे भाविक लोगोंको दर्शनकी बड़ी असुविधा होती है। भविष्यके मन्दिरोंमें मूर्तिका दूरसे दर्शन हो सके अिस खयालसे अेक अूंचे चबूतरे पर अुसे खड़ा करना चाहिये। मूर्तिके आसपास दीवाल तो होनी ही नहीं चाहिये। मूर्तिके आसपास चार, आठ या अिससे अधिक स्तंभों पर ही शिखर बनाया जाय, तो वह सुन्दर दिखाअी देगा और दर्शनके अभिलाषी भक्तोंको भी अिससे बड़ी सुविधा होगी। मूर्ति पर अच्छी तरह प्रकाश पड़ेगा, फिर तो 'धर्मस्य तत्त्वं

निहितं गुहायाम्' कहनेका समय नहीं आयेगा। अधिकसे अधिक किया तो मूर्तिके पीछे अुसे ढंक सके अितनी बड़ी दीवाल बनाअी जा सकती है। भीड़को रोकनेके लिअे चाहें तो मूर्तिके आसपास चार फूट अूंचा कठघरा बना दिया जाय। परन्तु अुपर्युक्त व्यवस्थामें भीड़की गुंजाअिश ही नहीं रह जायगी। हर आदमीके आगे घुस कर अपने हाथसे मूर्तिकी पूजा करनेकी प्रथाका अंत कर दिया जाय, तो भीड़ होनेका कोअी कारण ही न रह जाय।

मन्दिरके सामने यदि दीपस्तंभ बनाना हो तो वह अितना अूंचा होना चाहिये कि सारे गांवके लिअे पहरेदारकी मीनारका काम दे सके। रातमें मार्ग भूले हुअे लोगोंको दिशाका ज्ञान करानेके लिअे दीपस्तंभके शिखर पर अेक बड़ा दीपक सारी रात जलाया जाय, तो कहीं कहीं तो यह व्यवस्था अत्यन्त लाभदायी सिद्ध होगी। मन्दिरके आंगनमें अेक ओर अेक बड़ा कुआं अवश्य होना चाहिये। कुअेंके आसपास अैसी व्यवस्था होनी चाहिये, जिससे गांवके अनेक लोग और राहगीर वहां स्नान कर सकें और कपड़े धो सकें, और फिर भी वहां कीचड़ या गन्दगी न हो। जिस प्रकार भोजन करनेके लिअे अनेक लोग अेक स्थान पर जमा होते हैं, या शामको बहुतसे लोग अेकसाथ घूमनेके लिअे जाते हैं; अुसी प्रकार स्नानके लिअे अनेक लोगोंके अेक स्थान पर जमा होनेका रिवाज भी डाला जा सकता है। नदी-तट पर अनेक लोग अिकट्ठे तो होते हैं, परन्तु वहां क्लब जैसा वातावरण नहीं जमता। मन्दिरको यदि हमें अपने सार्वजनिक जीवनका केन्द्र बनाना हो, तो नगरवासियों अथवा ग्रामवासियोंके मन्दिरमें अनेक प्रकारसे और अनेक कारणोंसे अेकत्र होनेका रिवाज डालना चाहिये।

१९३१

५५

मूर्तिपूजा

हरअेक समाजको अपनी संस्थाओं और सामाजिक प्रथाओंकी समय समय पर जांच करनी चाहिये और प्राचीनके साथ समभाव रख कर, वर्तमान गतिविधिको अच्छी तरह समझ कर तथा भविष्य पर दृष्टि रख कर अुनमें आवश्यक परिवर्तन कर लेने चाहिये। अब मूर्तिपूजाकी प्रथा अथवा संस्थाकी हर पहलूसे जांच करनेका समय आ गया है। यहां अेक अैसे सामान्य जनके मनमें पैदा होनेवाले कुछ विचार दिये जाते हैं, जो न तो मूर्तिपूजाका विरोध करता है और न मूर्तिपूजाके विषयमें आज अधिक अुत्साह रखता है।

मैं मानता हूं कि मूर्तिपूजा धर्म-साधनाका आवश्यक अंग नहीं है। असके साथ मैं यह भी मानता हूं कि हमारे देशमें जिस प्रकारसे मूर्तिपूजा होती है अुसमें मूर्ति-विध्वंसकोंके कथनानुसार अनैतिकता भी नहीं है। मूर्तिपूजाका आश्रय मनुष्यके चित्तके लिअे आवश्यक नहीं है; और फिर भी यदि वह मूर्तिपूजाका आश्रय ले, तो अुसमें शरमाने जैसी कोअी बात नहीं है। मूर्तिपूजाके द्वारा मोक्षके निकट आनेकी बातमें विश्वास नहीं होता; फिर भी अितना सच है कि मूर्तिपूजाके द्वारा, और विशेषतः मन्दिरोंकी स्थापनाके द्वारा, हमने अपनी संस्कृतिको बहुत बड़ा वेग दिया है, अपने समाजका संगठन किया है, अपने धार्मिक साहित्य, संगीत, कला तथा अुत्सवोंका विकास किया है और किसी हद तक सारी जनतामें सर्वोदयकी दिशामें ले जानेवाले संस्कार फैलानेकी सुविधा खड़ी की है। हमारी प्रजाकी रसिकता, संस्कारिता और धार्मिकताको प्रकट करनेके लिअे मन्दिरोंका बहुत बड़ा अुपयोग हुआ है। अतः हमारे मन्दिर जो हमारी भक्तिके भाजन बन गये हैं, वह सर्वथा अुचित ही है। किन्तु अिसका यह अर्थ नहीं कि मूर्तिपूजा और मन्दिरोंकी संस्थामें कोअी मौलिक परिवर्तन किया ही नहीं जा सकता।

जीवित समाज चाहे तो आगे-पीछेका पूरा विचार करके अपने धर्ममें और धार्मिक संस्थाओंमें — समाजमें और प्रचलित सामाजिक रूढ़ियोंमें — आवश्यक परिवर्तन करनेका अुसे सदा ही अधिकार है। अैसा समझ कर ही यह लेख अनेक वर्ष पहले लिखा गया था। आज भी मेरे अिस मतमें कोअी परिवर्तन नहीं हुआ है। हमारे मन्दिरोंके विषयमें अिससे पहले मैंने अनेक लेख लिखे हैं। सौराष्ट्रके वरतेज गांवमें हरिजनोंके लिअे मन्दिरकी स्थापना हुअी तब अुसमें मूर्तियोंकी प्रतिष्ठा मेरे हाथों ही हुअी थी। अुस समय मैंने जो भाषण दिया था अुसमें मैंने मूर्तिपूजाकी सभी पहलुओंसे मीमांसा की थी। अिस विषयमें आदरके साथ

ठोस विचार करना जरूरी है। कोओी मनुष्य मूर्तिपूजाका समर्थन करता है या विरोध करता है, केवल अितना ही देखकर घबरा जाना या डर जाना आजके जमानेके लिओ और हमारे हितकी दृष्टिसे भी ठीक नहीं है।

सच पूछा जाय तो हिन्दू धर्ममें न तो मूर्तिपूजाका आग्रह है और न अुसका विरोध है। अिस प्रश्नका बहुत महत्त्व नहीं है कि महाप्रयत्न करने पर भी वेदोंमें मूर्तिपूजाका अुल्लेख खोजा जा सकता है या नहीं। महाभारतमें मन्दिरका कहीं अुल्लेख नहीं है, यह सिद्ध करनेकी भी जरूरत नहीं है। हमारे आचार-धर्मका सारा आधार श्रौतसूत्रों तथा गृह्यसूत्रों पर है। अुन्हींसे स्मृतियोंका विस्तार हुआ है। मनुष्य बिलकुल जड़ बन जाय अिस हद तक स्मृति-साहित्यमें आचार-धर्मका ब्योरेवार विस्तार किया गया है। लेकिन अुसमें मूर्तिपूजा, देव-मन्दिर आदिकी झंझट बिलकुल नहीं है। अिसलिओ यद्यपि हिन्दू धर्म मूर्तिपूजा-का विरोधी नहीं है, फिर भी अिस विषयमें दो मत नहीं हो सकते कि 'हिन्दू धर्मके मूलमें मूर्तिपूजा नहीं है।' तब फिर मूल हिन्दू धर्मका प्रधान अंग तो वह मानी ही कैसे जा सकती है? तो यह मूर्तिपूजा हिन्दू धर्ममें आओी कहांसे?

मूर्तिपूजा और मूर्ति-निर्माणके बीच हमें भेद करना चाहिये। मूर्तियां तो हमारे देशमें परापूर्वसे अर्थात् प्रागैतिहासिक कालसे बनती रही होंगी। मोहें-जो-दड़ोमें जो मिट्टीकी मूर्तियां मिली हैं अुनमें से अेकके बारेमें यह अनुमान किया गया है कि वह पुजारीकी होगी और दूसरी दो छोटी मूर्तियोंके विचित्र शिरो-वेष्टनके आधार पर यह कल्पना की गओी है कि वे कृषि-देवताकी होंगी। ये मूर्तियां भी मिट्टीकी ही हैं। पशु-पक्षियोंकी मूर्तियां तो अनेक तरहकी वहां मिली हैं। परन्तु यह कहना मुश्किल है कि अिन सबका अुपयोग पूजाके साधनके रूपमें होता था या नहीं। जिन मूर्तियोंको कृषि-देवताकी मूर्तियां माना गया है, वे शायद नौकरानियोंकी मूर्तियां भी हो सकती हैं; क्योंकि अुनका शिरोवेष्टन अैसा लगता है मानो अुनके सिर पर दोनों ओर दो टोकरे कांवरकी तरह रखे गये हों।

प्रश्न यह नहीं है कि ये मूर्तियां कहांसे पैदा हुओी हैं, परन्तु यह है कि पूजाके साधनके रूपमें मूर्तियां हमारे देशमें कहांसे आओीं अथवा अिस रूपमें अुनका अुपयोग कबसे होने लगा?

कुछ लोग तो मानते हैं कि बौद्धों और जैनोंने अिस देशमें मूर्तिपूजाका आरंभ किया। पहले प्राचीन बौद्ध मूर्तिकलामें स्वयं बुद्धकी मूर्ति नहीं बनाओी जाती थी। अेक घोड़ा बनाया जाता था, जिस पर जीन तो कसी रहती थी लेकिन सवार नहीं होता था; और अुसके आसपास भक्तोंका मेला दिखाया जाता थी। अिससे मान लिया जाता था कि घोड़े पर बुद्ध भगवान विराजमान हैं। अुस समय बुद्ध भगवानको मूर्तिके द्वारा व्यक्त न करनेकी मर्यादाका पालन किया जाता होगा।

कुछ बौद्ध अैसा कहते हैं कि पहले हममें मूर्तिपूजा थी ही नहीं। यह तो तंत्रमार्गकी छूत है। तांत्रिकोंके असरसे महायान पंथका जन्म हुआ और अुसके बाद परलोकके सुख-दुःखके चित्र और विमान लोगोंको दिखाकर अुनकी श्रद्धाको जाग्रत करने और दृढ़ बनानेके प्रयत्न होने लगे। मूर्तिपूजाका यह सम्प्रदाय अुसी समयसे दिखाअी देता है। अधिक संभावना अिस बातकी है कि मूर्तिपूजा हमारे यहां ग्रीससे आअी होगी। पत्थरकी खुदाअीकी कला यवन (आयोनिया – ग्रीस) देशसे बाल्हिक देशमें होती हुअी भारतमें पहुंची है। कला-रसिक, संस्कारी तथा अुत्सव-प्रिय आर्योंको — फिर वे वेदधर्मी हों, जैनधर्मी हों या बौद्धधर्मी हों — सुन्दर सुन्दर मूर्तियां, अुनकी पूजा, अुत्सव, रथयात्रा, अूंचे मन्दिर और अुनमें चलनेवाले भोग ये सब पसंद आ गये होंगे। महाभारत-कालके अन्तमें यज्ञकी प्रथा निश्चित रूपसे शिथिल पड़ गअी थी। अुसके बदलेमें लोगोंको कल्पनाके लिअे और अुत्साहके लिअे कोअी भोजन चाहिये था। अिसलिअे मूर्तिपूजा अुन्हें अनुकूल लगी होगी। किसी राज्यको दृढ़ और सुस्थिर बनानेके तीन मुख्य अुपाय होते हैं: (१) सैनिक बलसे लोगोंको दबाना; (२) शिक्षा या प्रचार द्वारा लोगोंके हृदयों अथवा भावनाओं पर अधिकार करना; और (३) जनताकी चित्तवृत्ति पर रंग चढ़ानेवाले अुत्सवों, 'समाजों', यात्राओं आदिका आयोजन करके लोगोंकी खुशामद करना। मुसलमान भारतमें आये अुससे पहले जो अनेक जातियां बाहरसे आकर भारतमें बस गअीं, अुन्होंने यहांका धर्म स्वीकार किया, यहांके धार्मिकोंको प्रोत्साहन दिया, यहांकी भाषा बोलना शुरू किया और सब तरहसे वे यहींके बन गये। अुसके बाद तो अिन बाहरसे आकर बसे हुअे लोगोंकी भली-बुरी कल्पनायें, मान्यतायें और रूढ़ियां भी हमारे समाजमें प्रचलित हुअे बिना कैसे रह सकती थीं? अिस प्रकार हिन्दू धर्म गंगा नदीके प्रवाहके समान अत्यन्त विशाल हो गया। लेकिन अुसमें कूड़ा-करकट भी आ गया। यहां हमारा कहनेका मतलब यह नहीं कि मूल वैदिक धर्म अत्यन्त शुद्ध था, अुसमें किसी भी प्रकारका मैल या मिश्रण नहीं था। परन्तु मूल धर्म समाजकी ही तरह अेकरूप, सुसम्बद्ध और प्राणवान था; जब कि बादका मिला-जुला धर्म निःसंदेह अव्यवस्थित, शिथिल और मेदस्वी बन गया था। 'नया मुल्ला पांच बार बांग देता है' — अिस कहावतके अनुसार ये बाहरसे आये हुअे राजा और जन-समुदाय देशी लोगोंकी रूढ़ियों तथा भावनाओंका शायद अधिक कट्टरतासे पालन करते थे और विविध अुत्सवों तथा मन्दिरोंको प्रचलित करके अपना परायापन मिटानेका प्रयत्न करते थे। जो भी हो, परन्तु अितना तो निर्विवाद है कि हिन्दू समाज और हिन्दू धर्ममें मूर्तिपूजाकी जड़ें खूब गहरी जम गअी हैं।

कहावत है कि आदमी जमीन-जागीरके लिअे सगे भाअीको भी मार डालता है और अपना धर्म भी छोड़ देता है। मूर्तिपूजा और मन्दिरोंकी स्थापना

कुछ ब्राह्मणोंके लिअे जागीर-सी बन गअी। सामान्य लोगोंको भी त्याग, तपस्या और चित्तशुद्धिके कठिन धर्मकी अपेक्षा 'देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः' अिस न्यायसे देवोंको खिलायें-पिलायेंगे तो देव भी हमें खिलायें-पिलायेंगे, अिस प्रकार भोग और मोक्षका संमिश्र प्रलोभन दिखानेवाला धर्म अधिक पसंद आया; और मंदिर तथा मूर्तिपूजा अंतमें हिन्दू धर्मके लोकमान्य अंग बन गये।

अेक कल्पना अैसी भी है कि आर्योंने मूर्तिपूजा भारतके अनार्यों अथवा जंगली लोगोंसे धीरे धीरे ग्रहण की होगी। नाथद्वाराके श्रीनाथजीकी डरावनी मूर्ति, पुरीके जगन्नाथजीकी विचित्र मूर्तियां तथा अैसी अन्य मूर्तियां देखकर लगता है कि मूर्तियोंके ये प्रकार हमने सौन्दर्योपासक ग्रीस देशसे तो नहीं ही लिये होंगे। हमारे देशके अेक विद्वान यह सिद्ध करनेका प्रयत्न कर रहे हैं कि मूर्ति-विध्वंसक मुसलमान भारतमें आये अुससे पहले — बहुत समय पहले — लिंगपूजा जैसी पार्थिव-पूजा अरबस्तानसे ही भारतमें आअी होनी चाहिये। आजकी मूर्तिपूजा, संभव है, अूपर वर्णन किये गये सभी प्रवाहोंमें से निकल कर स्थिर हुअी हो!

सगुण-निर्गुण अुपासना तथा व्यक्त-अव्यक्त गतिके प्रश्न तो बिलकुल अलग और बहुत पुराने हैं। मूर्तिपूजाकी स्थापनासे लोगोंको लगा कि यही सगुण अुपासना है। और कर्मकांड, तंत्रमार्ग, भक्ति आदि भावना-प्रधान तथा कला-प्रचुर मार्गोंको लगा कि मूर्तिपूजा अुन्नतिका अेक प्रभावशाली अुपाय जरूर है। अव्यक्त गतिकी अपेक्षा व्यक्त गति कम कष्टकारक हो सकती है। हम यह भी स्वीकार करें कि निर्गुण अुपासनाकी अपेक्षा सगुण अुपासना अधिक अर्थपूर्ण और संतोषकारक है। यह सच है कि प्राकृत, सामान्य जनोंके लिअे व्यक्त और सगुण अुपासना ही ठीक है। किन्तु अिससे यह सिद्ध नहीं होता कि अज्ञानी, अबोध और अंधविश्वासी लोगोंके लिअे मूर्तिपूजामें खतरा नहीं है। सामान्य लोग यथासंभव अुदार-चरित संतों और सत्पुरुषोंकी सेवा-शुश्रूषा करें और अुनके सत्संग द्वारा धर्मबोध ग्रहण करें, यह सगुण अुपासनाका अेक अच्छा प्रकार है। अीश्वर परम पिता है, माता है, स्वामी है, पति है, प्रेमपात्र है, मित्र है, गुरु है, आचार्य है — अिस प्रकार किसी भी अेक या अनेक सम्बन्धोंकी कल्पना करके और अीश्वरके न्यायी, दयामय, कल्याणकारी, ज्ञानदायी, क्षमावान आदि अनेक सद्‌गुणोंका ध्यान धर कर अीश्वरकी भक्ति करना ही सच्ची व्यक्त-गति है, सगुण अुपासनाका मुख्य अर्थ भी यही है। मुसलमान, सिक्ख, प्रार्थना-समाजी, प्रोटेस्टेन्ट अीसाअी वगैरा सब मूर्तिका आलंबन लिये बिना अिसी ढंगसे सगुण अुपासना करते हैं। प्राकृत लोगोंके लिअे यही अुचित है।

सच पूछा जाय तो मूर्तिपूजा जड़ और अंधविश्वासी लोगोंके लिअे नहीं, परन्तु विशिष्ट संस्कार पाये हुअे तथा तत्त्वज्ञानमें आगे बढ़े हुअे कला-रसिक, कर्मपरायण लोगोंके लिअे ही अुपयोगी हो सकती है। अीश्वर सर्वत्र है, अिस तत्त्वका

सच्चा रहस्य जो लोग समझ सकते हैं, केवल अुन्हींके लिअे मूर्तिपूजा धार्मिकताका विकास करनेका अेक निर्दोष साधन हो सकती है। फिर भी मूर्तिपूजा अिसका सर्वश्रेष्ठ साधन तो मानी ही नहीं जा सकती। कहा जाता है कि मूर्तिपूजा जड़ बुद्धिके लोगोंके लिअे ही है; परन्तु जड़ समाज मूर्तिपूजाके रहस्यको नहीं समझ सकता। जड़ मनुष्यकी दृष्टिमें तो मूर्ति अेक बड़े भूतकी तरह है। मूर्तिके साथ अुसके मनमें केवल भय ही अुत्पन्न हो सकता है और अुसकी पूजा बलवानकी शरणमें जाकर बच जानेका अेक अुपाय ही होती है। अैसे लोगोंके लिअे मूर्तिपूजा निर्भयता तथा स्वतंत्रताकी विनाशक है। भीतरसे पोली लकड़ीकी बड़ी मूर्ति बनाकर अुसके हाथमें रखा हुआ भोग अुस हाथके पीछे गुप्त रूपसे बंधी हुअी रस्सीको खींचकर मूर्तिके मुंहमें गिरा दिया जाता है -- अिस बातको क्या हम नहीं जानते? भारतके बाहर मूर्तिपूजाने अवर्णनीय अत्याचारोंको प्रोत्साहन दिया है और भारतमें मूर्तिपूजाने पिछड़ी हुअी जातियोंके लिअे अगणित अंधविश्वासोंको जन्म दिया है। जिन लोगोंको तत्त्वज्ञानकी शिक्षा प्राप्त हुअी है, अुन्होंने बेशक मूर्तिपूजासे बहुत लाभ अुठाया है। परन्तु अैसे लोगोंमें जो लोग शुद्ध आत्मार्थी अर्थात् मोक्षार्थी थे, वे तुरन्त मूर्तिपूजासे अूपर अुठ कर आगे बढ़ गये। मूर्तिपूजाका बचाव करते हुअे अेक बार स्वामी विवेकानन्दने कहा था: 'मूर्तिपूजासे यदि रामकृष्ण परमहंस प्राप्त होते हों, तो मूर्तिपूजा दीर्घायु हो!' पुजारी रामकृष्ण परमहंसका मूल धन्धा ही मूर्तिपूजाका था, परन्तु अंतमें वे भी अुससे बाहर निकल गये थे। फूल अपने झाड़ पर ही अीश्वरको अर्पित हैं, अुन्हें तोड़कर मूर्तिके सिर पर क्यों चढ़ाया जाय — अैसा रामकृष्ण परमहंस कहते थे और भावावेशमें आ जाने पर मूर्तिकी पूजा करनेके बदले वे अपनी ही पूजा करने लग जाते थे। अुन्होंने मूर्तिपूजाको अंत तक छोड़ा नहीं था, परन्तु आगे जाकर वे मूर्तिपूजाके सच्चे स्वरूपको समझ गये थे।

अतः ध्यानपूर्वक जांच करनेसे मालूम होगा कि मूर्तिपूजा बिलकुल जड़ लोगोंके लिअे हितकर नहीं है, और अत्यन्त संस्कारी तथा गंभीर लोगोंके लिअे वह आवश्यक नहीं है। जिन्हें मूर्तिपूजाकी आदत हो गअी है अुन्हें मूर्तिपूजाको छोड़ना हो, तो अिसके लिअे बीचकी सीढ़ी है मानस-पूजा। हमारे साधु-संतोंने मूर्तिपूजाका प्रायः सीधा विरोध नहीं किया, परन्तु पूजाके बदले अुन्होंने भजनको ही प्रधानता दी।

अीसाअी धर्मने अनेक देवोंको आग्रहपूर्वक छोड़कर अेक देवकी स्थापना की, तब सामान्य लोगोंने अनेक संतोंकी पूजा शुरू कर दी, क्योंकि अनेकता अुनके खूनसे निकली नहीं थी। अिसी प्रकार अेकेश्वरी धर्मका आग्रह रखनेवाले अिस्लामी अरबस्तानमें और टर्कीमें भी पवित्र स्थान, पवित्र कबरें, कुरानके मंत्रोंका अुच्चारण और अुससे होनेवाले चमत्कार आदि पूजाके अनेक प्रकार अुत्पन्न हो गये।

सच पूछा जाय तो धर्म असलमें शास्त्रोंके और धर्मगुरुओंके आदेशों पर आधार नहीं रखता। धर्म शुद्ध सात्त्विक भावनाओं पर, शुद्ध बुद्धि पर, भले-बुरेका विवेक करनेवाली विवेचक शक्ति पर तथा पवित्र पुरुषोंके अनुभव पर आधार रखता है। धर्म अेक जीवन्त वस्तु है। शास्त्रों तथा ग्रन्थोंके शब्दोंको प्रमाण मान कर बैठ जाना ही जड़ पूजा या बुतपरस्ती है। हृदयके भीतरसे परमात्माको और अुसकी दी हुअी जीवित धर्मवृत्तिको हटा कर अुनके स्थान पर शास्त्रों, ग्रन्थों और पुराने रीति-रिवाजोंको बैठाना धर्मकी घोर अवगणना करना है।

हमें यह ध्यानमें रखना चाहिये कि समाज जब अपने बल पर भीतरसे अर्थात् स्वेच्छासे, आंतरिक प्रेरणासे प्रगति नहीं करता तब अुसे बाहरी दबावके कारण लाचार होकर परिवर्तन करने पड़ते हैं। अंतमें जो होना है वह तो हो ही जाता है। लेकिन अनिच्छासे कोअी काम करनेसे जो विकृति अुत्पन्न होती है, अुसका असर लम्बे समय तक बना रहता है। अीश्वरकी मूर्ति बनानेसे और अुसकी षोडशोपचार पूजा करनेसे मानवकी प्रौढ़ बुद्धिका शायद अपमान होता होगा, परन्तु अिससे अीश्वरका अपमान होनेकी बात किसीके गले नहीं अुतरती। पहली बात तो यह है कि अीश्वरका मान-अपमान मनुष्यके हाथमें है ही नहीं। मनुष्यने अपने स्वभावके आधार पर ही अीश्वरको 'जेलस गॉड' अर्थात् 'अीर्ष्यालु देव' बना दिया है। अीर्ष्यालु पति, अीर्ष्यालु राजा, अीर्ष्यालु गुरु और अीर्ष्यालु देव -- ये सब अेक ही वृत्तिके परिपाक हैं। अीश्वर अेक है, फिर भी अुसके अनेक गुणों और विभूतियोंके सम्बन्धमें मानवने अनेक देवोंकी कल्पना कर ली है। अिसलिअे अेक अीश्वरके सिवा बाकी सब देवी-देवता काल्पनिक हैं। अितने देवोंको देखकर परमात्माको चिढ़ क्यों आने लगी? अीश्वर जानता है कि भूलसे ही क्यों न हो, लेकिन ये लोग पूजा तो अन्तमें मेरी ही करते हैं। क्या अीश्वर यह नहीं जानता कि मनुष्य-जाति कितनी अपूर्ण है, अुसकी जरूरतें क्या हैं और अुसे संतोष कैसे मिलता है? हृदयमें बसकर हृदयको प्रेरित करनेवाला अन्तर्यामी क्या मनुष्यके हृदयके भावोंको नहीं जान सकता?

जिस प्रकार मूर्तिपूजाके लाभ हैं अुसी प्रकार अुसके कुछ नुकसान भी हो सकते हैं। अिन नुकसानोंमें अेक बड़ा नुकसान है धर्म-रहस्यको समझनेमें मूर्तिपूजासे अुत्पन्न होनेवाली बाधा। जड़ पार्थिव पदार्थकी मूर्ति बनानेके बाद हम यह माननेकी गलती करते हैं कि अन्य पदार्थोंकी अपेक्षा अुसमें अधिक शक्ति है; यह गलती हमेशा हमारे मार्गमें बाधक बनती है। मनुष्यकी भावना अेक जगह स्थिर होती है और दूसरी जगह स्थिर नहीं होती, यह स्वभावगत भेद है। परन्तु अिसे वस्तुगत भेद मानना अथवा अैसे भ्रमको प्रोत्साहन देना वांछनीय नहीं है।

मनुष्यमें भोग भोगनेकी, कलाका आनंद लूटनेकी, अुत्सव मनानेकी और समूहमें अेकत्र होकर मौज मारनेकी वृत्ति होती है। यह वृत्ति अेकाअेक नष्ट नहीं की जा सकती। किसी विशेष दृष्टिसे अिन सब वृत्तियोंको मारनेकी अपेक्षा जान-बूझ कर विशिष्ट समयमें अिन्हें सुधारने और व्यवस्थित बनानेसे ही अिनके बुरे स्वरूपसे बचा जा सकता है। अिसीलिअे हिन्दू समाजके प्राचीन नेताओंने धर्मका और सार्वत्रिक वासनाओंका सम्बन्ध जोड़ दिया था। अेक ओर अिससे लाभ हुआ। भोग, कला, अुत्सव आदिमें भी धार्मिक वृत्तिका प्रवेश हो, यह कोअी मामूली प्रगति नहीं है। लेकिन अिसी बातका दूसरा पहलू यह है कि अिस प्रगतिके साथ धर्ममें —धर्म-सम्बन्धी विचारोंमें, धार्मिक आदर्शोंमें भोगादि मलिन वस्तुअें घुस गअीं। अिसे कौन हितकारी मान सकता है? शहदमें पानी डालनेसे पानीका स्वाद तो सुधरता है, किन्तु अुतनी ही हद तक शहदका स्वाद बिगड़ जाता है या अुतर जाता है। वैसी ही यह धर्म और भोगादिके सम्बन्धकी बात है। धर्मका प्रचार बढ़ानेके लिअे, धर्मको लोकप्रिय बनानेके लिअे, प्राचीन लोगोंने जो अुपाय अपनाये, अुन्हींके कारण अुन लोगोंको किसी हद तक धर्मको शिथिल भी बनाना पड़ा। बेशक, अिसका यह परिणाम हुआ कि बहुतसे अैसे लोग, जो अन्य किसी प्रकारसे धर्मके प्रभावमें न आते, आसानीसे अुसके प्रभावमें आ गये। परन्तु अिस बातसे अिनकार नहीं किया जा सकता कि अिसके फल-स्वरूप धर्मकी गति तथा धर्मका तेज कुछ मंद पड़ गया। प्रत्येक धार्मिक वस्तुके प्रति मनुष्यके हृदयमें श्रद्धा और भक्ति तो रहती ही है। अिसलिअे जो चीज किसी भी कारणसे अेक बार धर्ममें घुस जाती है अुसकी जड़ें जीवनमें अितनी गहरी पैठ जाती हैं कि अधर्मकी पोषक होनेका विश्वास हो जाने पर भी अुसे हटाना कठिन हो जाता है। प्राणियोंका बलिदान, देवदासियोंकी प्रथा, पूजामें तांबूल आदिका अुपयोग, अस्पृश्यता, प्रतिनिधिके द्वारा पाप-क्षालन और पुण्य-प्राप्ति, भूत-प्रेतोंका पूजन, द्रव्योंको जला कर किया जानेवाला यज्ञ आदि कितनी ही घातक और भ्रमोत्पादक बातें धर्ममें घुस जानेके कारण ही आज तक टिकी हुअी हैं और अभी भी हमारी प्रगतिमें बाधा पहुंचाती रहती हैं। मूर्तिपूजाको भी यह बात लागू होती है। रामकृष्ण परमहंस शराब नहीं पीते थे; परन्तु पूजामें अुपयोग की गअी शराब यदि प्रसादके रूपमें अुन्हें दी जाती, तो वे अुस शराबमें अेक अंगुली डालकर अुसका छोटासा छींटा मुंहमें अुड़ाते या शराबमें अंगुली डालकर माथे पर अुसका तिलक कर लेते थे। अुन्होंने मांस खाना छोड़ दिया अुसके बाद कोअी अुन्हें प्रसादका मांस देता, तो अुसे सिर पर चढ़ाकर वे अेक ओर रख देते थे।

कितनी ही हानिकारक बातें मूर्तिपूजाके द्वारा अपनी प्रतिष्ठा और आयु बढ़ाती चली जाती हैं। भोगमें धार्मिकताको स्थान देकर संयम अुत्पन्न करनेके

प्रयत्नसे भोग ही अधिक दृढ़ हुआ है। अेक ओर मूर्तिपूजा द्वारा यदि कल्पना-शक्ति —— रसवृत्ति —— को तालीम मिली, तो दूसरी ओर अिन्हीं बातोंकी प्रगति पर अंकुश लग गया।

नदीके प्रवाहमें कोअी बांस बांध रखनेसे जिस तरह कितना ही कूड़ा-कचरा और काअी अुसके आसपास लिपट कर पड़ी रहती है, अुसी तरह मूर्तिपूजाके आसपास कितने ही अंधविश्वास और सामाजिक बुराइयां टिकी हुअी हैं। हमारे मन्दिर सामाजिक तो हैं, परन्तु सार्वजनिक नहीं हैं! अिस कारणसे बहुतसी सामाजिक सम्पत्ति व्यक्तिगत बन जाती है। नतीजा यह है कि या तो अिस सम्पत्तिका दुरुपयोग होता है या अुसका कोअी अुपयोग ही नहीं होता। नामधारी राजाके मन्त्रियोंमें जो दोष आ जाते हैं वे सब दोष देवस्थानोंमें भी आ जाते हैं।

परन्तु यह तो मैंने केवल हानिका ही पहलू बताया। अिसके लाभ भी अनेक हैं। कुल मिलाकर लाभ अधिक है या हानि अधिक है, अिसकी जांच की जानी चाहिये।

१९३०

५६

नये मन्दिर

नये जमानेके हम लोग मन्दिरोंका अुपयोग पहलेके लोगोंके जितना नहीं करते। मन्दिरोंमें जाना बहुतोंको लगभग निकम्मा काम मालूम होता है। किसी विशेष अुत्सवके अवसर पर जाना पड़े तो बात अलग है। वर्ना हमारी भावना यह हो गअी है कि मन्दिर केवल अशिक्षित रूढ़िवादियों, बूढ़ियों, विधवाओं और दक्षिणाके लोभी पंडे-पुजारियोंके लिअे ही हैं। किसी मन्दिरकी मूर्ति विशेष सुन्दर हो अथवा विशिष्ट शृंगार धारण करती हो, तो अुसकी मोहकताको देखनेके लिअे जरूर हमारा मन ललचा सकता है। किन्तु दर्शनके लिअे अिकट्ठे हुअे असंस्कारी लोग अपने कोलाहलके कारण कहीं मोहकता और काव्यमयताको टिकने दें तब न! मंदिरमें पुरोहित, पंडे और भिखारी हमें अेक मिनटकी भी शांति नहीं लेने देते। मूर्तिका ध्यान धरनेके लिअे अेक क्षण हम खड़े रहें अुतनेमें तो 'चरणामृत लो और दक्षिणा दो' का अुनका तकाजा शुरू हो जाता है।

कुछ मन्दिरोंके देव जन्मसे श्रीमंत राजाओंके समान होते हैं। राजाओंके जितने भी भोग-विलास और व्यसन होते हैं, वे सब अिन देवोंको मिलने चाहिये। अेक मन्दिरमें तो मैंने वेश्याओंको मन्दिरकी सीढ़ियोंकी पांवचप्पी करते देखा है। अिन देवोंके अंत:पुरमें अनेक देवियां भी होती हैं और राजाओंकी तरह अिन

देवोंके देवियोंसे मिलनेके दिन भी निश्चित किये हुअे होते हैं। भक्त लोग जिस दिन अीश्वरके समान होंगे वह शुभ दिन होगा। परन्तु तब तक तो अीश्वरको अपने भक्तोंके समान ही बनना पड़ रहा है। अीर्ष्यालु प्रजाके देव भी अीर्ष्यालु ही होते हैं। राजाओंकी निरंकुशताकी आदी बनी हुअी प्रजाके देव भी पलमें कृपालु बन जाते हैं और पलमें क्रूर बन जाते हैं। हमारे कुछ देव शीघ्रकोपी हैं, तो कुछ रुधिर-प्रिय हैं। और अुनका यह स्वभाव अंतमें हमारी पूजाविधियोंमें प्रकट होता है।

हमारे धनिक लोग जिस प्रकार अर्जित संपत्तिको पीढ़ी-दर-पीढ़ी बनाये रखनेके लिअे अुसका स्थावर जमीनमें रूपांतर कर देते हैं, अुसी प्रकार जिसे भी पूजाकी कोअी नअी विधि सूझती है वह अुसे शास्त्रकी आज्ञाका रूप देकर चिरंतन बना देता है। हर मन्दिरकी पूजाकी प्रणाली अलग होती है, परन्तु अेक बार वह चली कि फिर अुसमें कोअी परिवर्तन नहीं हो सकता। सरकारकी जबरदस्ती या शंकराचार्यके समान महापुरुषोंकी जबरदस्तीके कारण कोअी परिवर्तन हो जाय तो भले हो जाय।

हमारे मन्दिरोंकी सम्पत्ति और अुसका होनेवाला अुपयोग किसी भी सज्जनको बेचैन बना सकते हैं। फिर भी यह आशा लगभग व्यर्थ मालूम होती है कि अुस संपत्तिकी व्यवस्थाकी गहरी जांच करके अुसका कोअी सदुपयोग किया जा सकता है। सिक्ख लोगोंने अपने मन्दिरोंमें सुधार करनेका प्रयत्न किया तब बात खून-खच्चर तक पहुंच गअी थी। दक्षिण भारतमें मन्दिरोंकी आय पर समाज अथवा सरकारका अधिकार जमानेके लिअे कानून बनानेका आन्दोलन चल रहा है। विदेशी सरकारको महायुद्धके जैसे अवसर पर मन्दिरोंकी सम्पत्तिसे वार-बॉन्डके लिअे पैसा मिलता है, अुस समय तक सरकार भी मन्दिरोंकी व्यवस्थामें हस्तक्षेप क्यों करे?

'मन्दिरोंकी संस्था जड़तासे घिरी हुअी है। अुसमें कोअी सुधार नहीं हो सकता। किसी दिन जीर्ण होकर वह अपने आप नष्ट हो जाय तो बात अलग है।' अैसा माननेवाले अनेक लोग होंगे। लेकिन अभी अभी अमरेली और दाहोद जैसे स्थानों पर समाज-सेवकोंने स्वयं ही नये मन्दिरोंकी स्थापना की है; यह जाननेके बाद तो हमें यही कहना पड़ता है कि मन्दिरोंकी संस्था अभी भी पूरी निरर्थक अथवा कालग्रस्त नहीं हुअी है।

आज हम अपनी नअी भावनाओंका, नअी आध्यात्मिक भूख और नये सामाजिक प्रश्नोंका तथा आदर्शोंका विचार करके ही नये मन्दिर बनवायें और अुनके लिअे नये नियम रचें। आजके नये मन्दिर भले ही खिलौनों जैसे हों। अिन मन्दिरोंकी स्थापनामें मदद करनेवाले मध्यमवर्गके लोगोंमें मन्दिर-सम्बन्धी श्रद्धा और आस्था भले ही शिथिल हो। भले ही अिन मन्दिरोंकी स्थापना

अज्ञानी लोगोंको आश्वासन देनेके लिअे केवल 'लोक-संग्रह' की नीयतसे ही की जाती हो। लेकिन अगर अिन मन्दिरोंके आसपास धार्मिक बुद्धिसे की जानेवाली समाज-सेवाका तप बढ़े, तो भविष्यमें ये जाग्रत स्थान माने जायंगे और हजारों-लाखों लोग अिनसे लाभ अुठायेंगे। अतः आजसे ही हमें अिन मन्दिरोंकी स्थापना, अिनकी रचना और पूजा-अर्चाकी विधिके बारेमें, भविष्यकी दृष्टि रखकर, निर्णय कर लेना चाहिये।

हमारे प्राचीन मन्दिर छोटे हों या बड़े, मुख्य देवकी मूर्ति तो वहां अंधेरेमें ही रहती है। क्या अृषियोंने ही यह गाया नहीं था कि पुराण-पुरुष 'गुहायां प्रविष्ट' है? अंधेरेकी मददसे मूर्तिके बारेमें भय और गूढ़ताका भाव अुत्पन्न होता है; और द्वार पर बैठे हुअे व्यवस्थापक अथवा पुजारी महाराजकी आय निश्चित हो जाती है। अितिहासकी दृष्टिवाला मनुष्य कहेगा कि मूर्तिको अंधेरेमें अिसलिअे छिपाकर सुरक्षित रखा जाता है कि कोअी अुसे आसानीसे तोड़ न डाले, कोअी अुसे चुराकर न ले जाय। संस्कृतिकी स्वाभाविकताका विचार करनेवाले लोग यह भी कहते हैं कि प्रचंड गर्मीवाले अिस देशमें मोटे-मोटे पत्थरोंसे बने ठंडे मन्दिरोंके भीतर खूब गहराअीमें बनी आधे अंधेरेवाली शीतल कोठरियोंमें दोपहरका समय बिताना भगवानके लिअे और भक्तोंके लिअे सुखद और शांतिप्रद होता है। अिस कारणसे पूजाके स्थान अैसे ही बनवाये जाते हैं।

जो भी हो, लेकिन अिस बातका ध्यान रखना जरूरी है कि भविष्यके मन्दिर देवोंको अंधेरेमें न बैठायें। निरंकुश बादशाह (और गणंजय डिक्टेटर) का दर्शन भले ही कठिन और दुष्प्राप्य हो, किन्तु प्रजा-नायकका तो सबके बीच होना ही शोभा देता है। भविष्यके हमारे मन्दिर चारों ओरसे खुले होने चाहिये। मजबूत स्तंभों पर यदि मन्दिरका शिखर बनाया जाय, तो शोभामें और सुरक्षिततामें जरा भी कमी नहीं आयेगी। अैसे मन्दिरोंमें मूर्तिको यदि अूंचे चबूतरे पर स्थापित किया जाय और चबूतरेके आसपास काफी जगह छोड़कर अेक कठघरा बना दिया जाय, तो मूर्ति भी सुरक्षित रहेगी और अुसका दर्शन भी सरल हो जायेगा। मन्दिरकी रचना अैसी होनी चाहिये कि हजारों लोग दूरसे भी अेकसाथ मूर्तिका दर्शन कर सकें। दर्शनके लिअे आनेवाले लोगोंकी संख्या अमर्यादित हो, तो कुछ जैन और बौद्ध मन्दिरोंकी तरह मन्दिरके मध्यमें चार दिशाओंमें देखनेवाली चार मूर्तियां बैठा देनी चाहिये। और मूर्ति यदि अेक ही मुखवाली हो, तो अुसकी रक्षाके लिअे पीछेकी ओर अेक छोटीसी शिला खड़ी कर देना काफी होगा।

मन्दिर भले ही छोटा हो, किन्तु अुसके आसपास पर्याप्त खुला स्थान तो होना ही चाहिये। हमने अपने कितने ही मन्दिरोंको अुनके चारों ओर घनी बस्ती बसाकर बिगाड़ दिया है। सारी जनताको यदि मन्दिरके चारों ओर खुली

जगह् रखना जरूरी लगे, तो वैसी जगह् पाना कठिन नहीं है; कठिन बात तो यात्रियोंकी सुविधाके लिअे मन्दिरके चारों ओर छोटे-बड़े छप्पर खड़े करनेका मोह् छोड़ना है। पह्ले मन्दिरके आसपास मंडप बांधे जाते हैं, फिर धर्मशालायें बांधी जाती हैं और अुसके बाद किरायेके लोभसे वहां दुकानें खड़ी कर दी जाती हैं —जिससे मन्दिरका पवित्र वातावरण ही नष्ट हो जाता है। मन्दिरमें या मन्दिरके आसपास जो भी कोअी दीवाल वगैरा बनवाता है, वह् अुस दिशामें दर्शनकी सुविधाको रोकनेका पाप करता है।

मन्दिरोंके बारेमें बनाने जैसा मुख्य नियम तो नैवेद्य और भोगसे सम्बन्ध रखता है। हिन्दू धर्मको विदेशी लोग 'चूल्हा-धर्म' या 'रसोअी-धर्म' कह्ते हैं। जहां पकाये हुअे भोजनका सवाल आता है वहां जात-पांतके और छुआछूतके सभी सवाल खड़े हो जाते हैं। अिसमें कोअी शंका नहीं कि हमारे ॠषि-मुनियोंने कंद-मूल और फलको ही पवित्र माननेमें बहुत बड़ी बुद्धिमानी बताअी थी। मन्दिरोंमें सूखे या ताजे, कच्चे या पक्के फल ही भोगके रूपमें ले जाये जायं, अैसा नियम बनाना अत्यन्त आवश्यक है। अधिकसे अधिक शक्कर, दूध, मक्खन और दूधसे तैयार होनेवाली ताजी मिठाअियां —अितनी ही वस्तुअें नैवेद्यके लिअे अुचित मानी जायं। हमारा पेट और हमारा स्वाद कृत्रिम हो गया है, अिसलिअे हम अनाजको पका कर और तरह् तरह्के मसालोंसे बिगाड़ कर खाते हैं। नित्य-तृप्त अीश्वरको अैसा भोजन खिलानेकी क्या जरूरत? वाल्मीकिने कहा है: 'यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवताः'। मनुष्य जैसा अन्न खाता है वैसा ही अन्न वह् अपने देवोंको अर्पण करता है। अिस प्रकार अनार्य लोगोंके देव और देवियां भेड़-बकरों और भैंसोंका भोग मांगने लगे। यदि हम परिशुद्ध हिन्दू धर्मके देवोंकी अुपासना करना चाहते हों, तो हमें परम पावन ॠषियों द्वारा हविष्य माने गये कंद-मूल और फल तथा गरीका नैवेद्य ही देवोंके सामने रखना चाहिये। ॠषि-पंचमीके दिन बैलकी सेवासे अुत्पन्न किया हुआ कुछ भी न खानेका नियम होता है। स्वार्थके कारण हम पशुओं पर जो अत्याचार करते हैं, अुसीका भान यह् नियम हमें कराता है। मनुष्य-जाति सदाके लिअे यह् निष्पाप आहार खानेवाली बन जाय, यह् सत्ययुगके लिअे हमारा अेक स्वप्न है। हमारी पूजाविधि द्वारा अिस आशाको पोषण मिले, तो यह् कोअी छोटा लाभ नहीं है।

अिस प्रकार पूजाविधिमें से 'चूल्हा-धर्म' को हटा देनेके बाद पुराणकारकी यह् सलाह् स्वीकार करनेमें हमारे लोगोंको बहुत आपत्ति नहीं होगी:

कृष्णालयसमीपस्थान् कृष्णसेवार्थमागतान्।
चांडालान्पतितान्व्रात्यान् स्पृष्ट्वा न स्नानमाचरेत्॥

“भगवानकी सेवाके लिअे आये हुअे तथा मन्दिरके समीप अेकत्र हुअे चांडालों, पतितों या भ्रष्ट लोगोंको हम छुअें, तो भी स्नान करनेकी जरूरत नहीं है।”

हमने अपनी पूजाविधिमें कर्मकांड और तंत्रको आवश्यकतासे अधिक स्थान दे दिया है। पूजामें तो हृदय-धर्मकी अुत्कटता और सादगी होनी चाहिये। मनुष्यके जैसी सारी जरूरतें अीश्वरकी भी होती हैं, यह कल्पना करके षोडश अुपचारोंका आडंबर बढ़ानेकी अपेक्षा यदि हम अृषियोंका यह वचन याद रखें कि नित्य-तृप्त अीश्वरको किसी वस्तुकी जरूरत नहीं है और अपनी भक्ति तथा पूजाको हम हृदयको संतोष देनेवाली बनायें, तो बहुतसी झंझटोंसे बच जायंगे। अीश्वरकी पूजा तो केवल भाव-प्रधान ही होनी चाहिये। रसायनशास्त्रके प्रयोगोंकी तरह अथवा वैद्योंकी दवा बनानेकी विधियोंकी तरह अीश्वर-पूजाको कर्मकांडी बनानेकी कोअी जरूरत नहीं। औषधकी भस्म तैयार करनेमें यदि कोअी गलती हो जाय, तो वह जहर बन जाती है; अुसी प्रकार पूजाकी विधिमें जरासी भी गलती होने पर महादेव या माता हमें भस्म कर देगी — अिस तरहका डर बढ़ानेसे सकाम भक्तिमें अुत्कटता भले ही आये, लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि अुससे धार्मिकता निश्चित रूपसे दृढ़ होती है। पूजाकी विधि सरल और अुत्कट भक्तिवाली होनी चाहिये।

अैसी पूजा करनेके लिअे किसी विशेष पंडे, पुजारी, ब्राह्मण या तपोधन, साधु या मुखियाको रखना जरूरी नहीं है। पेशेवर पुजारीको पूजाके लिअे रखते ही अुसके पीछे असंख्य बुराअियां आयेंगी। यहां हम पुराने मन्दिरोंकी बात नहीं करते। अुन्हें अुनके सारे अटपटे रिवाज जब तक चलें तब तक मुबारक हों। किन्तु नये मन्दिरोंमें तो हम पूर्णतया शुद्ध रहें! अैसे सभी लोग, जो मूर्ति-पूजाके विरोधी नहीं हैं, मन्दिरमें दर्शनके लिअे आ सकते हैं — फिर वे किसी भी धर्मके अनुयायी क्यों न हों। अुनके लिअे अितना नियम काफी होगा कि वे मन्दिरमें आकर मन्दिरकी मर्यादाका पालन करें। जहां तक पूजाका सवाल है, अुस मन्दिरमें विश्वास रखनेवाले हर हिन्दूको, मान्य की हुअी विधिके अनुसार, पूजा करनेकी छूट होनी चाहिये। पुरुष हो या स्त्री, दोनों स्नान करके और धुले हुअे स्वच्छ कपड़े पहन कर (और भूखे पेट) मन्दिरमें पूजा करने जायें। अिसमें जात-पांतका कोअी भेद नहीं होना चाहिये। स्त्री-पुरुषका भी कोअी भेद नहीं होना चाहिये। जिन लोगोंने मिलकर मन्दिरको बनवानेका अुद्योग किया हो, वे सब पूजाकी अपनी बारी बांध लें। जबसे लोगोंको पैसेके बल पर मन्दिर बनवाने और चलानेकी सुविधा सूझी तबसे हिन्दू समाजमें आवश्यकतासे अधिक मन्दिर बनने लगे हैं। और ये मन्दिर भक्तिका पोषण करनेके लिअे नहीं परन्तु अमुक लोगोंकी अुमंगको या प्रतिष्ठाकी लालसाको तृप्त करनेके लिअे ही बनवाये जाते

हैं। जो लोग मन्दिर बनवायें अुन्हें ही मन्दिरका नित्य-नैमित्तिक खर्च अुठाना चाहिये।

दर्शन करानेके लिअे भक्तोंसे दक्षिणा लेनेका तो प्रश्न ही नहीं अुठना चाहिये। दर्शन कर लेनेके बाद किसीकी कुछ देनेकी अिच्छा हो, तो वह लिया जा सकता है; परन्तु इस तरह अिकट्ठा हुआ धन मन्दिरके मालिकों, संचालकों, पुजारियों (यदि दुर्भाग्यसे पुजारी हों तो) अथवा मन्दिरके देवी-देवताओंका नहीं माना जा सकता। जिस समाजसे यह धन प्राप्त होता है अुसकी भावनाके अनुसार समाज-सेवाके किसी भी योग्य कार्यमें अिस धनका अुपयोग होना चाहिये। लेकिन यह अेक स्वतंत्र विषय हुआ। अिसकी चर्चा अलगसे की जानी चाहिये।

हिन्दुओंके मन्दिरोंमें हजारों या लाखों लोग अेकत्र भले ही होते हों, परन्तु पूजा तो प्रायः व्यक्तिगत ही होती है। सामुदायिक अुपासना शायद ही कहीं देखनेमें आती है। अिस कारणसे संगीतके बदले मन्दिरोंमें कोलाहल सुनाअी देता है और कलाका विकास होनेके बजाय कलाकी विकृति ही दिखाअी पड़ती है। मन्दिर मुख्यतः अेक सामाजिक संस्था है। अिन मन्दिरोंमें धर्मके सामाजिक स्वरूपके विकासकी अुपेक्षा नहीं होनी चाहिये। शुद्ध, सात्त्विक, पवित्र और कला-रसिक अग्रणियोंको मन्दिरकी संस्थाका सारा तंत्र रचना चाहिये। पूजाकी विधि भी अिसका अनुसरण करनेवाली ही होनी चाहिये।

जिस तरह हमने मन्दिरोंमें अुपयोग किये जानेवाले या रखे जानेवाले आहार (नैवेद्य) के विषयमें अूपर स्पष्टता की, अुसी प्रकार पूजामें अथवा मन्दिरमें अुपयोग किये जानेवाले वस्त्रोंके बारेमें भी कोअी निश्चित और स्पष्ट नियम होना चाहिये। परमात्मा 'दीनन दुखहरन' है, पतित-पावन है। अुसे राज-विलास या वैभवका शृंगार शोभा नहीं देता। शुद्ध खादीके कपड़े ही अुसे शोभा देंगे। सिंहासन पर बैठे हुअे रामकी अपेक्षा अहल्याका अुद्धार करनेवाले, गुहकको गले लगानेवाले तथा शबरीके बेर चखनेवाले तपस्वी या वनवासी रामकी मूर्ति ही मुझे पूजा अथवा भक्तिके लिअे अधिक अुपयुक्त लगती है।

अिस प्रकार समाजके भविष्य-हितका पोषण करे अैसी मन्दिरोंकी रचनाका विचार करनेके बाद अुनका समाजके अैहिक और पारलौकिक कल्याणके लिअे कैसे लाभ अुठाया जाय, अिस प्रश्न पर विचार किया जाना चाहिये।

१५-४-'२८

५७

प्राण-प्रतिष्ठा*

श्री मूलचन्दभाओीका आमंत्रण स्वीकार किये सिवा कोओी चारा नहीं था, अिसलिअे मैं आपके बीच आ गया हूं। किन्तु राम-मन्दिरमें मूर्तिकी प्राण-प्रतिष्ठा करनेके पवित्र कार्यमें भाग लेते समय मुझे अनेक प्रकारसे संकोच होता है, घबराहट मालूम होती है। पुण्य प्राप्त करनेके लिअे या भक्ति-अुपासनाका प्रचार करनेके लिअे मन्दिर बनवानेका अुत्साह रखनेवाली दुनियासे हम बहुत दूर हैं। हिन्दू सामाजिक जीवनमें अेक समय मन्दिरोंका जो स्थान था वह आज नहीं रहा है। नये ढंगसे शिक्षा पाये हुअे लोगोंमें जो पक्के सनातनी हैं वे मन्दिरों, मूर्तिपूजा आदिका चाहे जितना सैद्धान्तिक बचाव करें, परन्तु अिनके विकासका प्रयत्न कोओी करता हो अैसा मालूम नहीं होता। समाजकी अग्रगण्य जातियोंमें सामाजिक प्रयत्नसे मन्दिर बनवानेका विशेष प्रयास दिखाओी नहीं देता। मन्दिरोंके द्वारा धार्मिक जीवन समृद्ध होता है या नहीं, अिस विषयमें लोगोंकी शंका दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। कुछ मन्दिरोंकी व्यवस्था अितनी बुरी है कि वे व्यक्तिगत सम्पत्ति जैसे ही बन गये हैं। अितना ही नहीं, वे मुफ्तकी आयके साधन भी बन गये हैं। और आलोचक तो यहां तक कहते हैं कि कुछ मन्दिरोंके अनीतिके धाम बन जानेकी आवाज भी सुनाओी देने लगी है। अैसे समय यह अेक बड़ा सवाल है कि जो जातियां अभी तक पिछड़ी हुओी हैं, जिनकी संरक्षकताका कार्य हमने अहंकारसे या जिम्मेदारीके भानसे अपने हाथमें ले रखा है, अुन जातियोंको हमें संदेहास्पद दिशामें ले जाना चाहिये या नहीं? जैसे जैसे मूर्तिपूजा और देव-मन्दिरोंकी आलोचना होती है वैसे वैसे अिन दोनोंके पीछे रहे भव्य आदर्शको चित्रित करके हम अिनका बचाव करते हैं। अिस अुच्च और भव्य चित्रको दृष्टिके समक्ष रखते हुअे भी हम दूसरी तरहसे परेशानी महसूस करते हैं। जिस अुच्च आदर्शके बल पर हम अिन दोनोंका औचित्य सिद्ध करते हैं अुस आदर्शको हमने अपने जीवनमें कुछ अंश तक भी सिद्ध किया है? अथवा, और कुछ नहीं तो क्या अुस आदर्शकी दिशामें प्रयाण करनेकी वृत्ति भी हमारे जीवनमें दिखाओी देती है? अिस तरहकी अन्तर्मुखी शंका हमें जरूर व्याकुल बना देती है। व्यवहारमें भी हम देखते

---

* सौराष्ट्रके वरतेज नामक गांवमें हरिजनोंके लिअे बनाये हुअे राम-मन्दिरमें मूर्तिकी प्राण-प्रतिष्ठा करनेके अवसर पर ता० १०–८–'२९ को दिया गया प्रवचन।

हैं कि बीज बोनेका काम तो सरल है; परन्तु अुस बीजसे जो अंकुर फूटता है अुसका पालन-पोषण करनेके लिअे, अुसकी रक्षा करनेके लिअे सारा जीवन निचोड़ कर रख देना पड़ता है। हमें मकान बनवानेमें और मन्दिर बनवानेमें भेद करना चाहिये। आज देशमें जब मन्दिरों और मन्दिरोंकी व्यवस्थाके बारेमें अितनी आलोचना होती है अुस समय नये मन्दिर बनवानेसे पहले हमें अिस बातकी जांच अवश्य करनी चाहिये कि पुराने मन्दिरोंके दोषोंको दूर करनेकी कोअी व्यवस्था हमने यहां की है या नहीं। अैसा हम नहीं करेंगे तो समाजके अुपालंभ या अुलाहनेके पात्र बनेंगे।

फिर, यह तो हमारे समाजके सबसे छोटे भाअियोंके लिअे बनाया हुआ मन्दिर है। अिसके सम्बन्धमें तो हमारी जिम्मेदारी हजार गुनी बढ़ जाती है। जिस संस्थाको संस्कारी मानी जानेवाली जातियां भी शुद्ध नहीं रख सकीं, अुसे चलानेकी जिम्मेदारी अपने छोटे भाअियोंके सिर पर डालनेसे पहले हमें जरूर सोचना चाहिये। दो दिनके अुत्साहके बाद मन्दिरको चलानेके बारेमें लोग लापरवाह या निरुत्साही नहीं बन जायंगे अिसका विश्वास यदि हमने कर लिया हो, समयके प्रभावसे चारों ओर फैल रही नास्तिकता तथा पर-जीवनके विषयमें बढ़ती जा रही अश्रद्धाके सामने यह मन्दिर टिकेगा अिसका विश्वास यदि हमने कर लिया हो, सामाजिक प्रतिष्ठाके अभावमें आसानीसे फैलनेवाले अनाचारसे यह मन्दिर भ्रष्ट नहीं होगा अैसा यदि हमारा विश्वास हो गया हो, मन्दिरकी पूजा-अर्चा, अुसकी मरम्मत और अुसके आसपासकी स्थूल तथा नैतिक स्वच्छताके प्रश्नका हल हमने सोच निकाला हो तथा कौमी अथवा राजनीतिक विप्लवसे अिस नये मन्दिरकी रक्षा करनेकी अपनी जिम्मेदारीका हमें पूरा भान हो चुका हो, तो ही हम मन्दिर जैसी धार्मिक संस्था खड़ी कर सकते हैं। अेक बार मन्दिर बनवानेके बाद वह अखंड रूपमें चलता रहना चाहिये। समाजको अुससे लौकिक तथा धार्मिक लाभ मिलना चाहिये, क्योंकि वह अेक स्थायी सनातन संस्था है।

अिन सब बातोंका विचार करते हुअे अिस समारोहमें भाग लेते समय मनका अस्वस्थ होना स्वाभाविक ही है।

सबसे पहले हम मूर्तिपूजाका ही विचार करें। मूर्तिपूजा हमारे धर्मका आवश्यक अंग नहीं है।

अुत्तमा सहजावस्था, मध्यमा ध्यानधारणा।
अधमा तीर्थयात्रा च, मूर्तिपूजाऽधमाधमा॥

मूर्तिपूजा सबसे निकृष्ट है, अैसा प्राचीन वचन भी हमारे यहां है! अिसे हम अेकांगी, मताग्रही वचन कहकर अुड़ा सकते हैं और चाहें तो तर्क चलाकर यह सिद्ध कर सकते हैं कि 'न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद् यशः।'

श्रुति-वचन भी मूर्तिपूजाका निषेध नहीं करता। किन्तु मैत्रेयी अुपनिषद् जैसे प्रधान अुपनिषद्में कहा गया है: "पत्थर, लोहे, स्फटिक या मिट्टी जैसी पार्थिव वस्तुकी मूर्ति बनाकर पूजा करनेसे भोग भोगनेके लिअे बार-बार जन्म लेना पड़ता है। अिसलिअे संयमी मुमुक्षु पुरुषको अपने हृदयके भीतर ही अंतर्यामीकी अर्चना करनी चाहिये। जन्म-मरणके चक्रसे बचना हो तो बाहरी पूजा-अर्चाका त्याग करना ही चाहिये।"* बेशक, यह सीख मुख्यतः मुमुक्षु संन्यासियोंके लिअे है। परन्तु मोक्ष किसे नहीं चाहिये? हमारे देशमें अधिकारवाद पर खूब सोचा-विचारा गया है। ज्ञानी, संन्यासी या अैसे अन्य अधिकारी पुरुष भले ही मूर्ति-पूजाका त्याग करें, ध्यान-कुशल लोग भले मानस-पूजा द्वारा ही मूर्तिपूजा कर लें; परन्तु सामान्य लोगोंके लिअे तो मूर्तिपूजा ही अेकमात्र आश्रय है। ध्यान, पूजा अथवा सेवाके लिअे कोअी न कोअी आलंबन तो अुन्हें चाहिये ही। अिस प्रकारकी दलील हम हमेशा सुनते हैं।

लेकिन मेरे गले यह दलील कभी अुतरती नहीं। मैं यह मानता हूं कि हर कोअी आदमी मूर्तिपूजा नहीं कर सकता। मूर्तिपूजाके लिअे विशेष अधि-कार प्राप्त करना होता है। मनुष्यके धार्मिक विचार अेक खास अूंचाअी तक पहुंचे हों, तो ही अुसे मूर्तिपूजासे लाभ होता है। वर्ना मूर्तिपूजा अज्ञान, अंधविश्वास तथा अनाचारकी जननी बन जाती है। बादमें धार्मिक पुरुषोंको अिनका कड़ा विरोध करना पड़ता है। अरबस्तान, सीरिया, खाल्डिया, मिस्र आदि देशोंमें अनधिकारी लोगोंके बीच चलनेवाली मूर्तिपूजाने कहर ढा दिया था। अिससे अूब कर हजरत अिब्राहीम, मूसा, महम्मद वगैरा खुदापरस्त पैगंबरोंको अुसका कड़ा विरोध करना पड़ा। जो लोग यह नहीं जानते कि अीश्वर सर्व-व्यापी है, अंतर्यामी है, वे मूर्तिपूजासे सच्चा लाभ नहीं अुठा सकते। अिसके विपरीत, भय अथवा लोभसे अन्यान्य पार्थिव वस्तुओंका ध्यान करके वे अधिक भयभीत और लोभी बनेंगे और अपने भीतर दासवृत्तिको बढ़ाकर गुलाम बनेंगे। जिस समाजमें अीश्वरका विभुत्व दृढ़तासे स्वीकार किया गया है, जिस समाजकी परम्परा अीश्वरको हृदयके भीतर ही खोजनेकी है, अुस समाजमें मूर्तिपूजाका स्वरूप बदल जाता है, मूर्ति केवल 'पूजा तक मर्यादित रहनेवाला प्रतीक' बन जाती है, अिन्द्रिय द्वारा अमूर्त तत्त्वका ध्यान करनेका केवल अेक साधन बन जाती है।

हमारे सामनेका गढ़ा हुआ पत्थर है तो पत्थर ही, परन्तु अीश्वरके प्रति अपनी भक्ति प्रकट करनेके लिअे हम अुसमें अीश्वरत्वका आरोपण करते हैं — अिस बातको समझनेके लिअे विशेष आध्यात्मिक तैयारी, दार्शनिक विकास

* पाषाण-लोह-मणि-मृण्मय-विग्रहेषु पूजा पुनर्जनन-भोगकरी मुमुक्षोः।
तस्माद् यतिः स्वहृदयार्चनमेव कुर्याद्; बाह्यार्चनं परिहरेत् अपुनर्भवाय॥

आवश्यक होता है। अीश्वर जब सर्वत्र विद्यमान है, तो हम यह क्यों मानें कि वह अिस पत्थरमें नहीं है? हमारा हृदय जहां माने वहां अीश्वर है ही, अिस प्रकारका विश्वास या संतोष मनुष्य दूसरी किसी तरह नहीं बढ़ा सकता।

मेरी यह दृष्टि यदि गलत न हो तो अिससे यह शंका जरूर अुठती है कि 'यदि अैसा ही हो तो अग्रगण्य जातियां भले मूर्तिपूजा करें, वेदांत-शास्त्र जाननेवाले पंडित भले ही पत्थरको स्नान करायें और भोजन खिलायें, परन्तु पिछड़ी हुअी जातियोंको तो हमें अिस कैदमें डालना ही नहीं चाहिये।' मेरे विचारसे यह तर्क ठीक नहीं है। हमारे साधु-संतोंने सैकड़ों वर्षों तक दया-बुद्धिसे जो कार्य किया है, अुसका प्रभाव सारे समाज पर पड़ा है। हमारे ये छोटे भाअी शास्त्रीय चर्चामें अथवा दुनियवी समझदारीमें भले ही हमसे पिछड़े हुअे हों, परन्तु यह अनुभव कभी नहीं हुआ कि अीश्वर-निष्ठा, भक्ति और आत्म-समर्पणके बारेमें वे हमसे पिछड़े हुअे हैं। जैसे प्रेमशक्तिको बाहरी शिक्षा-की जरूरत नहीं होती वैसे श्रद्धाको भी तार्किक कसरतकी जरूरत नहीं होती। अनुभवी संतोंने श्रद्धा दी और हमारे देशकी मुग्ध-हृदय जनताने अुसे आत्म-बुद्धिसे ग्रहण किया।

ये भोलेभाले लोग सर्वोच्च आध्यात्मिक ज्ञानके अधिकारी हो सकते हैं या नहीं, अैसी शंका संतोंके मनमें कभी नहीं अुठी।

तब हमारे देशमें मूर्तिपूजाका क्या स्थान है?

हम यह न मानें कि मूर्तिपूजा हर मनुष्यके लिअे जरूरी है। फिर भी सब मनुष्य जाने-अनजाने किसी न किसी ढंगसे मूर्तिपूजा करते ही हैं। बहुतेरे लोग कला-रसिक तो होते ही हैं। अिन्द्रियों द्वारा अिन्द्रियातीत वस्तुका आस्वाद भोगना और अिस प्रकार अिन्द्रियोंकी विषय-लोलुपताको कम करना अथवा अुच्च दिशामें मोड़ना -- यह मार्ग अनेक लोगोंके लिअे बड़ा अनुकूल होता है। काव्य अथवा संगीतके द्वारा मनुष्य दुनियवी दुःखको जो भूल जाता है अुसका कारण यही है। यह कलावृत्ति अनेक लोगोंमें अितनी प्रबल होती है कि मूर्तिपूजाके द्वारा वे अनायास अपने हृदयका विकास कर सकते हैं। चक्रको घुमानेके लिअे जैसे बीचमें अेक स्थिर धुरीका होना जरूरी है, राज्यतंत्रको सुस्थिर रखनेके लिअे जैसे कुछ प्रजाओंको नामके राजाकी जरूरत होती है, सेनाको जैसे अपनी प्रतिष्ठाके प्रतीकके रूपमें झंडेकी जरूरत रहती है, वैसे ही मनुष्य-मात्रको अपना आध्यात्मिक प्रेम अुंड़ेलनेके लिअे तथा ध्यानमें अेकाग्र होनेके लिअे मूर्तिकी जरूरत रहती है। कुछ लोग मूर्तिको छोड़कर केवल मन्दिरको ही आवश्यक मानते हैं। परन्तु यह तो तफसीलकी बात हुअी। आदरका भाव किसी न किसी आलंबनकी खोजमें रहता ही है; फिर वह मूर्ति हो या ग्रन्थ, तालाब हो या नदी, प्रकाश हो या अंधकार, पूर्व दिशा हो या पश्चिम दिशा, पूर्वज हों या पूर्वग्रह।

यह आलंबन विघ्नरूप न बने, बन्धनकारक न हो, कल्पना और विचारका अवरोधक न बने, शोधको गलत रास्ते न ले जाय और अनुभवको कलुषित न करे, अिसके लिअे समाजको पहलेसे ही हृदयकी शुद्ध शिक्षा-दीक्षा मिलनी चाहिये। यह शिक्षा-दीक्षा हर देशके संत और फकीर जनताको देते आये हैं और आज भी देते हैं। हृदय द्वारा धार्मिक शिक्षण देनेकी व्यवस्था यदि न हो और खाली मन्दिर ही हों, तो अिसमें कोअी शंका नहीं कि वे शापरूप ही सिद्ध होंगे। जिस प्रकार किसी सुयोग्य, अनुभवी और समर्थ मनुष्यके बिना कोअी संस्था नहीं खोली जा सकती, अुसी प्रकार शुद्ध हृदय और अीश्वर-निष्ठासे कैसी भी परिस्थितियोंमें समाजका मार्गदर्शन करनेकी थोड़ी-बहुत शक्ति रखनेवाला समाज-सेवक न मिले तब तक मन्दिर बनवानेसे हमें क्या लाभ होगा?

मन्दिर सामाजिक शिक्षाका केन्द्र है, धार्मिक संगठनका अेक बड़ा साधन है तथा जनताके विविध आदर्शोंको जीवित रखनेका अेक माध्यम है। व्यक्तिगत जीवन तथा पारिवारिक जीवनसे परे जितना भी मानव-जीवन है, अुस सारे जीवनका हम चाहें तो अपने मन्दिरों द्वारा विकास कर सकते हैं।

तब प्रश्न अुठता है कि क्या अिन सारी बातोंका विचार करनेके बाद हम मन्दिर बनवानेमें प्रवृत्त हुअे हैं? अैसा ही होता तो हमने सभी वर्णोंके लिअे समान मन्दिरोंकी स्थापना की होती। जैसे अछूतोंके लिअे अलग शालायें खोलना और अलग कुअें खुदवाना हमारी लाचारीको प्रकट करता है, अुसी प्रकार अुनके लिअे अलग मन्दिर बनवाना भी अच्छी स्थितिका द्योतक नहीं है। जिस प्रकार मैं चाहूं तो रेलमें अछूतोंके डिब्बेमें बैठ सकता हूं, चाहूं तो अछूतोंकी शालामें अपने बालकोंको पढ़ने भेज सकता हूं या अछूतोंका कुआं साफ हो तो अुसका पानी पी सकता हूं, अुसी प्रकार मन्दिरोंमें श्रद्धा रखनेवाले सब लोगोंको अछूतोंके मन्दिरमें जानेकी स्वतंत्रता है। और अिस स्वतंत्रताका लाभ हम सबको लेना चाहिये। यदि हमारा रूढ़िवादी समाज समयको पहचान कर यह बात स्वीकार न करे, तो कुछ लोगोंको यह नियम बनाना पड़ेगा कि हम पूजा करेंगे तो अछूतोंके मन्दिरमें ही करेंगे, दान देंगे तो अछूतोंके मन्दिरको ही देंगे और अुत्सव मनायेंगे तो अछूतोंके मन्दिरके छत्रके नीचे ही मनायेंगे।

लेकिन मन्दिरोंके बारेमें किसी भी तरहका अुत्साह अूंची जातियोंमें है? आज हम मन्दिरोंके द्वारा अपने सामाजिक-धार्मिक जीवनकी शोध बहुत कम करते हैं। आधुनिक ढंगसे सोचने-विचारनेवाले लोग अिसके लिअे दूसरे ही केन्द्र खोज रहे हैं। हम लोगोंको अन्तर्मुख होकर अपनी वृत्तियोंकी जांच करके देखना चाहिये कि लोक-संग्रहके नाम पर हम कहीं अिन बाल-जातियोंमें अंध-विश्वासोंको तो नहीं बढ़ा रहे हैं? वे लोग हमारा अनुसरण करें अिस खयालसे हम अैसी चीज तो गंभीर भावसे अुन लोगोंके हाथमें नहीं सौंप रहे हैं, जो

स्वयं हमें खिलौने जैसी मालूम होती है? अथवा अिन लोगोंमें जड़ जमा कर बैठे हुअे अंधविश्वासोंका ही लाभ अुठाकर अुनकी सेवाके नाम पर हम अुनकी जेबोंसे पैसा अिकट्ठा करनेका साधन तो खड़ा नहीं कर रहे हैं? यह अंतिम अुद्देश्य अीमानदारीसे मनमें रखा जाय, तो भी अिसका परिणाम हितकर तो हो ही नहीं सकता। मन्दिरका मुख्य अुद्देश्य सामाजिक अुपासनाका, शुद्ध धार्मिकताका विकास करना ही होना चाहिये। यह अुद्देश्य हो तभी अिन जातियोंमें मन्दिरके लिअे कोअी स्थान हो सकता है। वर्ना लौकिक शिक्षणकी संस्था खोलकर धीरजके साथ प्रतीक्षा करना ही हमारे लिअे बेहतर होगा।

और, हम तो आज राम-मन्दिर खोलने जा रहे हैं। रामचन्द्रके चरित्रमें हिन्दू जीवनके सर्वोच्च आदर्शका कौनसा पहलू हमें नहीं मिलता? पुत्रकामेष्टि यज्ञकी दिव्य ज्वालासे जिन रामका जन्म हुआ, अुनका संपूर्ण जीवन यदि यज्ञकी आहुतिके समान सिद्ध हो तो अुसमें आश्चर्य कैसा? रामचन्द्र अर्थात् पवित्र आहुति। अिन रामचन्द्रने समस्त आर्य जातिके लिअे, और भविष्यका विचार करें तो सारी दुनियाके लिअे, जीवनका भव्य आदर्श अुपस्थित किया है। यह शबरीके जूठे बेर खानेवाले रामका मन्दिर है। अपनी मित्रतासे, अपने सखाभावसे गुहक जैसे भील राजाको कृतार्थ करनेवाले रामचन्द्रका यह मन्दिर है। जटायुके समान गृध्रराजका श्राद्ध करनेवाले रामचन्द्रका यह मन्दिर है। वानर-राज सुग्रीवके साथ संधि करनेवाले रामचन्द्रका यह मन्दिर है। वानर-यूथ-मुख्य हनुमानको अपना हृदय अर्पण करनेवाले रामचन्द्रका यह मन्दिर है। विजयसे प्राप्त हुअी सम्पत्ति भक्तराज राक्षस विभीषणको प्रसादके रूपमें दे देनेवाले रामचन्द्रका यह मन्दिर है। 'दीनन दुखहरन देव' रामका यह मन्दिर है। अिस मन्दिरमें अूंच-नीचका भेद नहीं होना चाहिये, अशिक्षित और शिक्षितका भेद नहीं होना चाहिये; द्विज और अत्यंजका भेद तो होना ही नहीं चाहिये। यहां अमीर और गरीबका भेद नहीं होना चाहिये; यहां सभी रामभक्त समान भावसे अेकरूप हो जाने चाहिये। और अेक होकर वे अिस मन्दिरमें कैसी प्रेरणा प्राप्त करें? यह प्रजा-रंजक राजाका, अेकपत्नी-व्रती पतिका तथा अेकवचनी मर्यादा-पुरुषोत्तमका मन्दिर है। अैसे रामचन्द्रके मन्दिरमें आकर हम अिन सभी अुदात्त गुणोंका विकास अपने भीतर करनेके लिअे बंधे हुअे हैं।

अखंड और जाग्रत प्रयत्नके बिना अिस आदर्शको हृदयंगम नहीं किया जा सकता; अिसका विकास नहीं किया जा सकता। अैसे नये मन्दिरोंके साथ हमें बिलकुल नयी प्रणालिका जोड़नी चाहिये। हमारे अंधविश्वास और हमारी पुरानी प्रथायें अिन नये मन्दिरोंमें किसी भी तरह हमारी प्रगतिमें बाधक नहीं बनने चाहिये। अिन नये मन्दिरोंकी पूजामें पान-सुपारी जैसे व्यसनोंके लिअे कोअी स्थान नहीं होना चाहिये। भूखों मरनेवाली क्षीणवीर्य प्रजाके राजा रामचन्द्रको

अब छप्पन भोगोंको भूल जाना होगा। अेक भी शास्त्र अैसा नहीं कहता कि मनुष्य जितने मौज-शौक करे वे सब अपने अिष्टदेवसे भी अुसे करवाने चाहिये। हमें पूजा और भक्तिके द्वारा अपना और अपनी जनताका विकास साधना चाहिये। नीचे गिरानेवाले साधनोंको धार्मिकताका रूप देनेकी गलती हम न करें।

जहां पूजा होगी वहां विधि तो रहेगी ही। किन्तु विधिके आडंबरको बढ़ा कर अुसके विशेषज्ञ 'सेवकों' का अेक नया वर्ग हम क्यों खड़ा करें? अिन 'सेवकों' के प्रभुत्व और स्वामित्वसे आज तक क्या हम कम त्रस्त हुअे हैं? क्या हम जानते नहीं कि काशी, रामेश्वर, जगन्नाथपुरी, नाथद्वारा, वैद्यनाथ धाम, ज्योतिर्मठ, बदरीनारायण, द्वारका और डाकोर जैसे स्थानोंमें भक्तिभावमें डूबे हुअे यात्रियोंकी कैसी दुर्दशा होती है? हमारे अिन मन्दिरोंमें सबको पूजाका अेकसा अधिकार होना चाहिये। मूर्तिके चरण धोना, पत्र-पुष्प चढ़ाना, खादीका वस्त्र अर्पण करना, धूप-दीप रखना और थोड़ा फलाहार चढ़ाना — अितनेसे पूजाविधि पूरी हो जानी चाहिये। भक्तको जैसे सूझें वैसे स्तोत्र वह गा सकता है और भगवानकी प्रार्थना कर सकता है। नित्यकी पूजाके लिअे अैसे भक्तोंको ही पूजाकी बारी बांधनी चाहिये, जो मन्दिरके आसपास रहते हैं और मन्दिरके द्वारा अपनी अुन्नति करते हैं। यदि हम जात-पांतके अूंच-नीच-भावके झगड़ोंसे बचना चाहते हैं, तो हम मन्दिरमें पकाये हुअे भोजनका नैवेद्य कभी न रखें। मन्दिरमें हमें सर्वत्र पवित्रताका भाव भर देना चाहिये। परन्तु यदि हम मन्दिरमें छुआछूतकी झंझटसे मुक्त नहीं होंगे, तो वहां भ्रातृभावका सामाजिक जीवन खड़ा करना कठिन होगा। रेशमी कपड़े, आभूषण, सोने-चांदीके बरतन — छिछले जीवनका यह आडंबर प्रभुके मन्दिरमें बिलकुल शोभा नहीं देता। वहां तो शुद्ध जीवनका संगीत प्रवाहित होना चाहिये। रामका मन्दिर वशिष्ठके आश्रम जैसा होना चाहिये, विश्वामित्रकी यज्ञभूमि जैसा होना चाहिये, शबरीके पवित्र धाम जैसा होना चाहिये। वहां अखंड रूपमें विद्याध्ययन चलना चाहिये। वहां लोक-सेवाकी कोअी न कोअी योजना निरन्तर तैयार होनी चाहिये। रामका अिस प्रकारका प्रसाद संपूर्ण समाज-जीवनमें सभी लोगोंको प्रतीत होना चाहिये।

आज हम यहां प्राण-प्रतिष्ठाकी विधि करनेके लिअे अेकत्र हुअे हैं। प्राण-प्रतिष्ठाका अर्थ क्या है? क्या हम पत्थरकी मूर्तिमें प्राण फूंक सकते हैं? क्या हम अपनी ओरसे श्री रामचन्द्रजीको प्रतिष्ठा प्रदान करनेवाले हैं? प्राण-प्रतिष्ठा हमारे धार्मिक जीवनकी अेक रूढ़ बनी हुअी विधि है। परमात्मा तो सदा ही सर्वत्र व्याप्त है। परन्तु पूजाके लिअे हम जिस प्रतिमाको पसंद करते हैं अुसे पूजाके योग्य बनानेके लिअे हम अपने हृदयमें बसे हुअे अीश्वरका अुसमें आरोपण करते हैं। अिसीको कहा जाता है प्राण-प्रतिष्ठा। अीश्वर यदि कहीं अधिकसे अधिक प्रत्यक्ष हो तो हमारे लिअे वह अपने शुद्ध हृदयमें ही है। अिस हृदयस्थ

नारायणको, अिस आत्मारामको मूर्तिमें संचरित हुआ मान कर हम मूर्तिमें अुसकी पूजा करें और पूजा समाप्त होनेके पश्चात् वहांसे अुसका विसर्जन करके पुनः अपने हृदयमें अुसका दर्शन करें, यह हमारे पूर्वजोंकी पद्धति है। मन्दिरोंमें तो सामाजिक प्राणकी और हमारे सर्वोच्च आध्यात्मिक जीवनकी प्रतिष्ठा करनी होती है। अुस जीवनकी यत्किंचित् झांकी तो हमारे पास प्रत्यक्ष होनी ही चाहिये। विधि तो अेक बाह्य चिह्न है। प्राचीन ॠषियों द्वारा बताअी हुअी पद्धतिसे हम यह विधि पूरी कर सकते हैं। अैसी विधि यदि हमें न मिले तो जो भी विधि सूझे अुसीसे हम अपना काम चला सकते हैं। परन्तु सच्ची प्राण-प्रतिष्ठा तो तभी होगी जब समाजका आध्यात्मिक आदर्श निश्चित करके मन्दिरके द्वारा हम अुस आदर्श तक पहुंचनेका संकल्प करेंगे। हमारे भीतर सच्ची जीवन-व्यापी धर्मनिष्ठा हो, अनन्य भक्ति और अीश्वर-शरणकी भावना हो, 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य' की साधना हो और शुद्ध धार्मिक वृत्तिसे समाज-सेवा करनेकी बात हमें सूझे, तभी अैसी प्राण-प्रतिष्ठा संपन्न हो सकती है।

अिस प्राण-प्रतिष्ठाका अर्थ यह होता है कि हम समाजके प्राणकी स्थापना यहां मंदिरमें और मूर्तिमें करते हैं। प्रत्येक व्यक्तिको यह प्रण करना चाहिये कि प्राण भले ही चले जायं परन्तु हमारा मन्दिर अप्रतिष्ठित नहीं होगा। सोमनाथके मन्दिरके खंडहर जिस भूमि पर बिखरे हुअे पड़े हैं अुस भूमि पर नया मन्दिर बनवानेका प्रारंभ करनेसे पहले हमें गंभीरतासे सोचना चाहिये कि क्या हमारा संकल्प धार्मिक वैर-द्वेषको शांत करनेका है? बाहुबलसे धर्मस्थानोंकी रक्षा करनी पड़े तो अवश्य की जा सकती है, परन्तु अैसी रक्षासे धर्म तो अपमानित होता ही है। धर्म-विजयको बाहु-विजयकी आशा नहीं रखनी चाहिये। जब तक हमारा प्रेमभाव मनुष्य-मात्रके हृदय पर विजय प्राप्त नहीं करता तब तक धर्मकी विजय हुअी अैसा नहीं कहा जा सकता।

परन्तु यदि हम अैसा मानें कि द्वेष, क्रोध आदि शत्रु हमारे समाजसे बाहर हैं, तो वह हमारी बहुत बड़ी भूल होगी। दूसरे धर्मोंने हमारे जितने मन्दिरोंको तोड़ा या भ्रष्ट किया, अुनसे अधिक मन्दिरोंको हमारे समाजके लोभ, अनास्था, अीर्ष्या, अनाचार आदि महादोषोंने जर्जरित किया है। अिस भीतरी आक्रमणसे समाजको बचानेकी हमारी प्रतिज्ञा हो, तो ही हम सच्ची प्राण-प्रतिष्ठा कर सकेंगे।

जिस पुण्य-पुरुषके हाथों अिस मन्दिरकी शिलारोपण-विधि संपन्न हुअी है, अुसका अंत्यज-सेवाका अुत्साह, धर्मके लिअे मर-मिटनेकी अुसकी तैयारी, प्राणी-मात्रके प्रति अुसके हृदयमें रही दया और मानव-मात्रके प्रति अुसके चित्तमें बसी हुअी अवैर-बुद्धि यदि हमें आदर्श मालूम होती हो, तो ही हम यह प्राण-प्रतिष्ठा करें।

यह मन्दिर मुख्यतः अंत्यजोंके लिअे है। अंत्यज ही अिसे चलायेंगे और निभायेंगे। अुन्हींकी अिच्छाको तृप्त करनेके लिअे हमने यह मन्दिर बनवाया है। परन्तु अैसा नया मन्दिर खोल कर हमने अपनी सामाजिक जिम्मेदारीको बढ़ाया है, अितना याद रखनेकी नैतिक जिम्मेदारी तो हम सवर्णोंकी है ही। यही कारण है कि अंत्यजोंको लक्ष्य करके न बोलते हुअे मैं अंत्यजोंका हाथ पकड़नेके लिअे तैयार हुअे लोगोंको लक्ष्य करके आज यहां बोला हूं। अंत्यज तो लम्बे समयके अन्याय-अत्याचारसे अकुलाये हुअे बालक हैं। अुनके सारे दोषोंके लिअे हम लोग ही जिम्मेदार हैं। हम लोग ही अुनके लिअे अीश्वरके दरबारमें अुत्तर-दायी हैं। आज तक हमने अुनके स्वाभाविक जीवन-विकासको रोका है; अिसीमें से यह जिम्मेदारी पैदा हुअी है। अिस जिम्मेदारीका स्मरण करके हम प्रभु रामचन्द्रसे प्रार्थना करें: 'हे अनाथोंके नाथ, हम सभी तेरे सामने बालक हैं। हम प्रमादी हैं। तुझे पहचाननेके अपने अेकमात्र कर्तव्यको भूलकर हम क्षुद्र वासनाओंके पीछे दौड़ते हैं और आपसमें लड़ते-झगड़ते हैं। दीन, हीन, पतित होकर भी हम अेक-दूसरेके प्रति अूंच-नीचकी भावना रखकर हंसीके पात्र बनते हैं। अेक-दूसरेसे द्वेष करके हम नष्ट-भ्रष्ट हो रहे हैं। तू हम सबको अेक कर दे। हमारे बीच अेकताकी स्थापना कर। हमें प्रेमका दान दे। हमारे हृदयमें, हमारे समाजमें, हमारी अिस दुनियामें तेरा जय-जयकार हो! भारतमें स्वराज्यकी — धर्मराज्यकी स्थापना हो!'

५८

मूर्तिका जन्म

अेक मूर्तिकार था। वह अपने ध्यानकी मस्तीमें घूमता था। अुसने जंगलमें अेक पत्थर देखा। वह था तो दूसरे पत्थरोंके जैसा ही; परन्तु जैसे हमें अंगूरके भीतरके बीज अुसे प्रकाशके सामने रखते ही दिखाअी देते हैं अथवा जैसे अेक्स-रे द्वारा हमें अपने शरीरके भीतरकी हड्डियां साफ दिखाअी देती हैं, वैसे ही अुस मूर्तिकारको पत्थरके भीतर अेक मूर्ति दिखाअी दी। फर्क अितना ही है कि सुन्दर और आकर्षक अंगूरके भीतर हमें खुरदरे बीज जैसे-तैसे दिखाअी देते हैं तथा लावण्य और प्रसन्नतासे खिले हुअे मानव-शरीरके भीतर अेक्स-रेकी सहायतासे आंखोंको डरावना लगनेवाला अस्थि-पंजर दिखाअी देता है, क्योंकि दोनों जगह हमारी पार्थिव दृष्टि काम करती है; जब कि मूर्तिकारकी पार्थिव आंखें तो ब्रह्मदेवके बनाये हुअे पत्थरको ही देखती थीं, परन्तु रसेश्वर द्वारा प्रदान की हुअी कल्पनाकी गुप्त दृष्टिसे अुसने अुस खुरदरे पत्थरके भीतर अेक सुन्दर सुडौल

और जीती-जागती मूर्तिको देखा — बस अुसी प्रकार जैसे भगवान रामचन्द्रके चरणोंने शिलामें अहल्याको देखा था। फिर तो पूछना ही क्या? सोनेकी खदानमें, दुर्घटनाके कारण, जब अेकाध मनुष्य दब जाता है तब अुसे बाहर निकालनेके लिअे — अुसका दम घुटनेके पहले ही अुसे जीवित बाहर निकालनेके लिअे — जिस प्रकार बाहरके लोग प्रयत्न और अुतावलीकी पराकाष्ठा कर देते हैं, अुसी प्रकार वह मूर्तिकार मनुष्यों और बैलगाड़ीकी मददसे तुरन्त अुस पत्थरको अपने घर ले गया। फिर अुसने हाथमें हथौड़ी और छैनी लेकर अुस मूर्ति पर चढ़ी हुअी पत्थरकी परतोंको तोड़ कर हटानेका प्रयत्न आरंभ किया। हथौड़ीका अेक अेक प्रहार वह जल्दी जल्दी लेकिन दृढ़ता और निश्चित शक्तिसे पत्थर पर करने लगा। कैसा अुसका बल था! और फिर भी कैसी अुसकी कुशलता और कोमलता थी! भीतरकी मूर्तिको जरासी भी चोट कहीं लगती, तो मूर्तिकारके प्राण सूख जाते थे। वह काम करता गया। पसीनेसे अुसका शरीर तरबतर होता गया। पत्थरकी परतें अेकके बाद अेक टूट कर गिरती गअीं — पहले मोटी मोटी परतें, फिर पतली और बारीक। धीरे धीरे मूर्तिका स्वरूप प्रकट होने लगा। डूबते मनुष्यको पानीसे बाहर निकालनेके बाद या सोते मनुष्यको नींदसे जगानेके बाद पहले-पहले जैसे अुसके अंग-प्रत्यंग आलस्यसे भरे दिखाअी देते हैं और चेहरा व आंखें अूंघते आदमीके-से लगते हैं अुसी प्रकार मूर्तिका दर्शन होने लगा। कोअी सर्जन जिस प्रकार अपने प्राणोंको और अपनी विद्याको, अपनी निष्ठा और अपने ध्यानको, अपनी अंगुलियोंमें अेकाग्र करके योगयुक्त स्थितिमें रोगीका ऑपरेशन करता है, अुसी प्रकार हमारा वह मूर्तिकार स्वयं बनाये हुअे सूक्ष्म औजारोंसे मूर्तिको जगाने लगा। मूर्तिकारके अिस कोमल और गुप्त स्पर्शका अनुभव होते ही मूर्ति पहले हंसी, फिर अुसने धीरे धीरे अपनी आंखें खोलीं। मूर्तिकारको देखकर अुसने पूर्ण परिचयका द्योतक मंद-सा स्मित किया। फिर अपने वस्त्रोंको ठीक करके वह बोली: “क्यों मूर्तिकार बन्धु, मुझे तुमने किसलिअे बुलाया है? युगोंकी मेरी नींदसे तुमने मुझे क्यों जगाया है? तुम मुझसे कैसे कार्यकी आशा रखते हो?”

अपनी ही बनाअी हुअी मूर्तिके समक्ष मूर्तिकार हाथ जोड़कर खड़ा हो गया। अुसने अपना सिर झुकाया और अत्यन्त नम्रतासे भक्तिपूर्ण स्वरमें बोला: “क्षमा करना, देवी। यह दुनिया अब अधिक दुःख नहीं सहन कर सकती। दुःखकी दीक्षासे दिव्य बननेके बजाय यह दुनिया दुःखसे घायल होकर नास्तिक बन रही है। मनुष्यके प्रति मनुष्यका व्यवहार विपरीत हो गया है। मनुष्यको अब प्रसन्नता, बंधुता, प्रेम और अुन्नत बननेकी दीक्षा देनी है। परन्तु मुझसे यह कार्य नहीं हो सकता। अिससे मेरा दम घुटता था, मैं भीतरी ही भीतर कुढ़ता था। परन्तु जंगलमें अुस पत्थरके भीतर मुझे तेरा दर्शन हुआ और मुझे

मार्ग मिल गया। मुझे लगा कि यही दीन जनोंके अुद्धारका मुहूर्त है, अिसलिअे मैंने तुझे बुलाया है। मैं यहां तेरी स्थापना करूंगा। यहां मैं तेरे योग्य अेक मन्दिर बनाअूंगा। सारी दुनियाके लोगोंको आमंत्रण दूंगा। वे आकर तेरा दर्शन करेंगे, जिससे अुनके हृदयमें भक्तिका आस्तिक भाव अुदय होगा, अुनके सामने जीवनका रहस्य प्रकट होगा; और अुसके बाद वे मनुष्यको मनुष्यके रूपमें, भाअीके रूपमें, तेरे भक्तके रूपमें, पहचानना सीखेंगे। मेरी प्रार्थना है कि अिस कार्यको अखंड रूपमें करनेके लिअे, हे भुवनेश्वरी, तू यहीं सदा विराजमान रह।"

देवीने प्रसन्न होकर कहा: "तथास्तु। परन्तु तुझे अपने लिअे कोअी वरदान मुझसे नहीं चाहिये?"

"क्यों नहीं, माता? मुझे अेक वरदान अवश्य चाहिये। तेरा दर्शन करनेके लिअे यहां आनेवाले लोग, तेरा आविष्कार करनेवाले मुझ मूर्तिकारको भूल जायं, मेरा नाम खोजने न बैठें। मैं यही वरदान मांगता हूं कि मेरे कारण तेरे दर्शनमें, तेरे साक्षात्कारमें कोअी विक्षेप न पड़े।"

देवी परेशानीमें पड़ गअी। अुसके होंठ बंद हो गये। मानो 'वरं ब्रूहि' कहनेका अुसे पश्चात्ताप हो रहा हो। परन्तु तुरन्त पुनः प्रसन्न होकर अुसने कहा: "तथास्तु।" अितना कहनेके बाद देवीने मूर्तिकारको अुठाकर अपने हृदयमें समा लिया। वह बोली: "अब तू मुझसे भिन्न रह ही नहीं सकता। मेरे साथका यह अभेद ही तुझे मेरा वरदान है। मैं अिस पत्थरमें आवृत्त थी, लुप्त थी, सुप्त थी। तूने मेरा आविष्कार किया। अब मैं तुझे अपने हृदयके साथ अेकरूपता प्रदान करती हूं। तूने मुझे देह दी; मैं तुझे विदेह बनाती हूं। लोग मेरे द्वारा तुझे ही देखेंगे। अब मुझमें और तुझमें कोअी भेद रहा ही नहीं है।"

मूर्तिकारका शरीर वहीं लुढ़क गया!

३०-९-'३९

५९

प्रेमके अधिकारी

हम लोग छह भाओ थे। मैं सबसे छोटा था। मेरा जन्म अंतमें हुआ था, अिसलिअे मैं 'अंत्यज' था। अिस कारणसे बचपनमें सभी भाओ मुझ पर प्रेम बरसाते थे। कोओ खानेकी चीज अुनके हाथमें आती, तो सबसे पहले वे मुझे खिलाते थे। चित्रोंकी पुस्तक पर मेरा ही अधिकार होता था। मैं कितना ही गंदा क्यों न होअूं, मेरे माता-पिता और बड़े भाओ मुझे गोदमें लेनेमें हिचकिचाते नहीं थे। मुझे नहलानेका काम कभी नौकरोंको नहीं सौंपा जाता था; यह काम पिताजी स्वयं करते थे। प्रेमके अैसे मीठे वातावरणमें पल-पुस कर मैं बड़ा हुआ। मुझे स्मरण नहीं है कि बचपनमें मेरी गंदगी और मेरा अज्ञान घरमें किसीके लिअे हानिकारक सिद्ध हुआ हो।

जो स्थिति बचपनमें मेरी थी वही हर बालककी होती है। जो पवित्र नियम परिवारको लागू होता है वही नियम कम या अधिक मात्रामें समाजको भी लागू होना चाहिये। चारों वर्णोंकी चिन्ता रखनेवाले हमारे पूर्वजोंने ढेढ़, भंगी, चमार, महार आदि जातियोंको जो 'अंत्यज' नाम दिया था वह तिरस्कारकी भावनासे तो नहीं ही दिया होगा। 'अंत्यज' प्रेमका शब्द है (जिस प्रकार 'अग्रज'—ब्राह्मण—शब्द आदरका सूचक है)।

हमें सोचना चाहिये कि आज हम अंत्यजोंके साथ समाजमें कैसा व्यवहार करते हैं। परिवारमें जैसे अच्छीसे अच्छी वस्तु हम अपने छोटे भाओको देते हैं, अुसी प्रकार क्या हम अंत्यजोंको सामाजिक लाभ देते हैं? राजा-महाराजाओंके दरबारमें अैसे अैसे सुन्दर चित्र सजाये हुअे रहते हैं, जो गरीबोंको देखनेके लिअे भी नहीं मिलते। राजा-महाराजा मिष्टान्न खाते हैं; गरीबोंको मिष्टान्न कहां मिलते हैं? अमीर लोग हमेशा गंधर्वोंका गान सुनकर अपना चित्त प्रसन्न कर सकते हैं, परन्तु गरीब लोग अुससे सदा ही वंचित रहते हैं। राजाओंके दीवानखानोंमें गुलदस्तोंमें रमणीय पुष्प-रचना की जाती है; लेकिन गरीबोंको अुसकी कल्पना भी नहीं आती। अिस तरह अमीरी हमेशा बहिष्कार-प्रेमी, स्वार्थी होती है; अिसीलिअे अुसे धर्मद्रोही माना गया है। धर्म सबके लिअे होता है। 'विवृताश्च वेदा:'—वेद सबके लिअे खुले हैं। वेदोंके द्वार किसीके लिअे बन्द नहीं हैं। जो धर्म सामाजिक संस्कृतिके, समाज-जीवनके सारे लाभ समाजके सभी अंगोंको न दे सके वह धर्म कैसा? अिसीलिअे तो धर्म-मन्दिरोंमें—देवमन्दिरोंमें अमीर-गरीबका भेद किये बिना सभीको धर्मका प्रसाद दिया जाता

है। चित्रकार लाख रुपये लेकर भी जैसा चित्र राजाके लिअे नहीं बना देता वैसा चित्र वह भक्तिभावसे देव-मन्दिरको और देवभक्तोंको, बिना कुछ लिये ही, अर्पण कर देता है। पंडित विष्णु दिगम्बर, जो अुत्तम कोटिके गायक थे, हजार रुपये लिये बिना राज-दरबारमें गाते नहीं थे; परन्तु वे ही जब हरद्वार जाते थे तो गंगाके तट पर बैठकर अपना अुत्तम संगीत गंगा मैयाको सुनाते थे और देश-देशांतरके असंख्य भक्त अुसे मुफ्तमें सुन सकते थे।

दुनियाका सर्वोत्तम कला-कौशल भारतमें तो अुसके मन्दिरोंमें ही देखनेमें आता है। धर्मका अुपदेश करनेके लिअे हजारों रुपयेका वेतन लेनेवाला आर्च-बिशप रखनेकी प्रथा हमारे देशमें नहीं है। धर्मका अुपदेश, पुराणोंका श्रवण और नाम-संकीर्तन सभी लोगोंके लिअे हैं। जात-पांतके झगड़े समाजमें चल सकते हैं; परन्तु अीश्वरके घर तो सभी मनुष्य समान हैं। पंढरपुरके विट्ठल-मन्दिरमें सब जातियोंके लोग जा सकते हैं। जगन्नाथपुरीमें जातिभेद रखना महा-पाप माना जाता है। बदरीनारायणके प्रसादका भात कोअी अंत्यज लेकर आये तो भी ब्राह्मण अुस पर टूट पड़ता है। यही बताता है कि धर्मगृहमें किसीका निषेध नहीं है; किसीका बहिष्कार नहीं है। काशी-विश्वनाथके मन्दिरके द्वार भी सदा सब लोगोंके लिअे खुले रहते हैं।

तब हमारे असंख्य मन्दिरोंमें अंत्यजोंके लिअे मनाही क्यों होती है? मन्दिर बनवानेमें जितना पुण्य है अुतना ही पाप अंत्यजोंको मन्दिरसे बाहर रखनेमें है। दक्षिणमें अेक पुरानी कथा है कि अेक अंत्यज भक्त कनकदासको अुड़पी क्षेत्रके अेक प्रसिद्ध मन्दिरमें प्रवेश करनेसे रोक दिया गया। अुस सच्चे भक्तने पुजारीसे नम्र प्रार्थना की कि मुझे चाहे जितनी दूर खड़ा रखिये, लेकिन देवताके दर्शन करने दीजिये। मन्दिरके पुजारी सदा अीश्वरके पुजारी नहीं होते। अुसने अंत्यज भक्तको धिक्कार कर वहांसे निकाल दिया। अिस पर वह बेचारा मन्दिरके पीछे जाकर रोने लगा। कहा जाता है कि अुसकी आर्तवाणी सुनकर मन्दिरकी मूर्ति घूम गअी और जिस ओर कनकदास खड़ा था अुस ओर अुसका मुंह हो गया। यह देखकर सब लोग चकित हो गये।

अुस अवसर पर अंत्यज भक्तने ब्राह्मण पुजारीसे गिड़गिड़ा कर जो प्रार्थना की, और बादमें मन्दिरकी खिड़कीसे भगवानका दर्शन होने पर अुसने जो धन्यता अनुभव की, अुसका भक्तने अेक कन्नड़ कवितामें बड़ा सुन्दर चित्रण किया है। मैं अुसका अर्थ तो नहीं समझ पाया, परन्तु अुस कविताका करुण स्वर और भक्तिकी अुत्कटता आज भी मेरे हृदयमें ताजी है।

मअी, १९३९

६०

कनकदास

१

कुदरतमें नैतिक नियमोंके तथा भौतिक नियमोंके बीच सम्बन्ध होना ही चाहिये, अैसी श्रद्धा मनुष्यके हृदयमें है। यह श्रद्धा सब देशोंमें होती है और सब कालोंमें होती है। प्रज्ञाके अभावमें मनुष्य अिन दोनोंका सम्बन्ध विचित्र ढंगसे जोड़ना चाहता है और अुससे अनेक तरहके अंधविश्वास पैदा होते हैं। मनुष्य यदि झूठ बोले और कुछ ही देरमें अुसे ठोकर लगे, तो तुरन्त अुसका यह कहनेका मन हो जाता है: "देखा, पापका परिणाम! अभी दुनियामें सत्य जीवित है।" पंजाबका लेफ्टिनेन्ट गवर्नर यदि लाला लाजपतरायको देश-निकालेकी सजा देकर ब्रह्मदेशमें भेज दे और यदि थोड़े ही दिनों बाद वह गवर्नर मर जाय, तो लोग जरूर कहेंगे: "जायगा कहां? साधु आदमीको परेशान करना कोअी आसान बात है क्या?" पुराणोंमें भी कितने ही पात्र हाथमें जल लेकर कहते हैं कि "यदि आज तक मैं कभी असत्य न बोला होअूं, अथवा आज तक मैं पूर्ण ब्रह्मचारी रहा होअूं, तो आकाशमें सूर्य रुक जाय अथवा मृत ब्राह्मण जीवित हो जाय।"

हम अितना ही कहेंगे कि अिसके पीछेकी श्रद्धा तो सच्ची है, परन्तु प्रज्ञाके साथ अुसका योग नहीं है।

पश्चिम समुद्रके किनारे मालपे नामक बंदरगाहके पास अुड़पी नामका अेक वैष्णव-क्षेत्र है। भक्ति-योग-धुरंधर श्री मध्वाचार्यके कारण यह स्थान विशेष प्रसिद्ध हो गया है। कोअी व्यापारी द्वारकासे नौकामें कीमती माल भरकर दक्षिणकी ओर जा रहा था। मालपे बन्दरगाहके पास अुसकी नौका आयी और सागरने रौद्र रूप धारण किया। मल्लाहोंने जी-तोड़ प्रयत्न किया, लेकिन बचनेका कोअी रास्ता मिल नहीं रहा था। समुद्रकी अेक अेक अुत्ताल तरंग मानो मौतकी भूखी जीभ बन रही थी। किनारे पर खड़े अेक महापुरुषने यह भयंकर दृश्य देखा। अुनके हृदयसे कारुण्यकी सरिता बह निकली। अुन्होंने अीश्वरसे प्रार्थना की: "प्रभो, अिन अनाथोंकी सहायता कर। अिन्हें बचा ले।" अेक क्षणमें समुद्र शांत हो गया, मानो किसी वीतराग योगीकी ही मुखमुद्रा अुसने धारण कर ली हो। नौका सही-सलामत किनारे पर आ गयी। लोगोंको यह समझनेमें देर नहीं लगी कि यह अिन महापुरुषकी ही कृपाका फल है। नौकापतिने महापुरुषके चरणोंमें प्रणाम करके कहा: "महाराज, अिस नौकामें मेरा जो कुछ भी है वह सब आपका ही है। आपके आशीर्वादसे मैं फिर व्यापार करूंगा और चाहे जितना

धन कमा लूंगा। लेकिन अिस बार आपने मुझे जीवन-दान दिया है, अिसलिअे मेरा यह धन स्वीकार करके आप मुझ पर अनुग्रह करें।" नित्य-तृप्त संन्यासीको धनका लोभ कैसे हो सकता है? परन्तु बेचारे सेठको संतुष्ट करना आवश्यक था। अिसलिअे महापुरुषने कहा: "तुम्हारी नौकामें यह जो अितना गोपीचन्दन पड़ा है वह हमें दे दो, तो हमें संतोष होगा। बाकीका तुम्हारा धन तुम्हीं ले जाओ। हम तुम्हारा धन लेकर क्या करें?"

अुस गोपीचन्दनकी पीली मिट्टीके ढेरमें दैवयोगसे दो मूर्तियां निकलीं। स्वामीने अेक मूर्तिकी तो मालपेके किनारे ही स्थापना कर दी और दूसरीकी स्थापना वहांसे दो तीन मील दूर अुड़पी नामक स्थानमें की। अुड़पीके श्रीकृष्णकी यही मूर्ति देखने हम लोग गये थे। मन्दिर वैसे तो काफी छोटा है, परन्तु प्रमाण-बद्ध और सुन्दर है। वहां हमने अेक विचित्र बात देखी। मन्दिरका महाद्वार हमेशा बंद रहता है, क्योंकि महाद्वारकी ओर भीतरकी मूर्तिकी पीठ है। पीछेकी ओर दीवालमें पत्थरकी अेक जाली लगी हुअी है; अुस जालीमें से ही मूर्तिके दर्शन होते हैं। मन्दिरके भीतर जाना हो तो अुसकी बायीं ओर जो दरवाजा है, अुसीसे जाया जा सकता है। हर कोअी मन्दिरके भीतर नहीं जा सकता। हम लोग भीतर गये थे। लेकिन वहां अैसा घोर अंधेरा था और वहांकी हवा अितनी रुंधी हुअी थी कि हम पसीनेसे तरबतर हो गये और हमारा दम घुटने लगा, मानो गर्भवासका दूसरा अनुभव कर रहे हों! घबराते ही घबराते हमने प्रार्थना की: "हे वैकुंठ-नायक, हमें दूसरी बार गर्भवासका अनुभव न हो।" हमारी समझमें यह बात नहीं आअी कि मूर्तिकी नाक पर सोनेका टुकड़ा क्यों जड़ा गया है। काठियावाड़की यह मूर्ति यहां दक्षिणमें कैसे आ गअी, यह प्रश्न हमारे मनमें अुठा। परन्तु मुख्य कुतूहल तो यह था कि मूर्ति महाद्वारसे विमुख क्यों है। जांच करने पर अंत्यज साधु कनकदासकी कहानी सुननेमें आअी।

२

संत कवि कनकदास असलमें धारवाड़ प्रदेशके बाड़ गांवके निवासी थे। अुनका मूल नाम था वीरनायक। वे शिकारीका धन्धा करते थे। अचूक बाण मारकर लक्ष्यको बींधनेमें अुनकी बराबरी कर सकनेवाला कोअी दूसरा आदमी अुनके समयमें नहीं था। (अुस समय किसने सोचा होगा कि अस्पृश्योंका यह सरदार अुपनिषद्में बताअी हुअी:

> प्रणवो धनुः, शरो ह्यात्मा, ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
> अप्रमत्तेन वेद्धव्यं; शरवत् तन्मयो भवेत्॥

जैसी दैवी बाणविद्यामें भी प्रवीण हो जायगा?)

वीरनायक चित्रकलदुर्ग (आजका चितलद्रुग) के राजाकी सेनामें सेनापतिके पद पर पहुंचे थे। वे संपत्ति और प्रतिष्ठाके स्वामी बन गये थे। किन्तु अेक

बार अेक युद्धमें अुन्हें विरक्ति हो गअी। अन्तर्नादने अुनसे कहा : "वीरनायक, तू दुनियाकी सारी मायाका त्याग कर दे और अेकतारा तथा भिक्षापात्र हाथमें लेकर दास बन जा!" आत्मवीरोंका लक्षण ही यह है कि जीवनमें परिवर्तन करते समय अुन्हें मनके साथ बहुत संघर्ष नहीं करना पड़ता। और यदि संघर्ष करना भी पड़े तो वे अिस संघर्षमें हारते नहीं। वीरनायकने घर-बार त्याग दिया और वे यात्राके लिअे निकल पड़े। तिरुपति, कांची, कलहट्टी आदि स्थानोंमें घूमकर वे विजयनगर पहुंचे। अुस समय वहां महान कृष्णदेवराय राज्य करते थे। वहां वीरनायकको अपने गुरु मिल गये। अुन्होंने अुनसे मध्व-संप्रदायकी दीक्षा ली और फिर यात्रा आरंभ कर दी।

चिदंबरम्, श्रीरंगम्, मदुरा, रामेश्वर, अनंतशयन, कन्याकुमारी, गोकर्ण आदि स्थानोंकी यात्रा करते हुअे अनेक प्रकारके कष्ट भोगते भोगते कनकदास अुड़पी आ पहुंचे। अुड़पी कट्टर सनातनी ब्राह्मणोंका केन्द्र था। कनकदास जैसे अंत्यजको वहां खड़ा भी कौन रहने देता? अैसी दशामें अुन्हें भिक्षा देनेका तो प्रश्न ही नहीं अुठता था। अनेक संकट अुठानेके बाद वादिराज स्वामीका ध्यान कनकदासकी ओर गया। अुड़पीके मन्दिरकी व्यवस्था अलग अलग आठ मठोंके स्वामियोंके हाथमें थी। अिनमें से सोडे मठके मुखिया थे वादिराज स्वामी। वे असाधारण विद्वान तथा धर्मशील व्यक्तिके नाते प्रसिद्ध थे। अुन्होंने समझ लिया कि कनकदास अुनसे भी बड़ा भक्त है। मन्दिरकी पूजाके बाद वादिराज स्वामी प्रथाके अनुसार सबको हस्तोदक देते थे और अुसके बाद ही सब ब्राह्मण भोजन करने बैठते थे। यह हस्तोदक प्रतिष्ठाके क्रममें ही सबको मिलता था। कनकदासकी योग्यता जान लेनेके बाद वादिराज स्वामी मन्दिरसे निकल कर सबसे पहले कनकदासके पास जाते थे और अुन्हें हस्तोदक देनेके बाद ही अन्य ब्राह्मणोंको देते थे। अिससे ब्राह्मण बहुत चिढ़ गये। वादिराजने अुनसे कहा: "भाअियो, कनकदास मुझसे भी बड़ा भक्त है। अिसे चरणामृत सबसे पहले न दूं तो अधर्म हो।" ब्राह्मणोंने अिसका प्रमाण मांगा। वादिराज मन्दिरमें गये। वहांसे दाहिने हाथकी मुट्ठीको बंद करके वे बाहर आये और ब्राह्मणोंसे प्रश्न किया: "ब्राह्मणो, मेरे हाथमें क्या है? बताओ।" हर ब्राह्मणने अलग अलग अुत्तर दिया। अंतमें कनकदासकी बारी आअी। वे तो भक्तिमें मग्न हो गये। अुनके कंठसे गीत फूटा: "ये तो वासुदेव परमात्मा हैं।" जैसे जैसे गीत आगे बढ़ता गया वैसे वैसे वादिराजके हाथका बोझ भी बढ़ता गया। वे अुस बोझको सहन नहीं कर सके। अंतमें अुन्होंने मुट्ठी खोल दी। अुसमें क्या था? अेक शालिग्राम और तुलसी-पत्र!

वादिराज स्वामीने अेक दिन ब्राह्मणोंको अेक अेक केला दिया और कहा: "आज अेकादशी है। यह केला तुम अैसे स्थान पर जाकर खाना जहां तुम्हें

कोअी न देख सके।" कनकदासको भी अेक केला दिया गया था। शामको सब लोग अिकट्ठे हुअे। वादिराजने यह जाननेके लिअे सबसे पूछा कि अुनकी आज्ञाका पालन किसने कैसे किया। (हर ब्राह्मणने कहां कहां अेकान्त खोजा, यह हम जानते तो बड़ा मजा आता)। अकेले कनकदासके हाथमें ही केला जैसेका तैसा था। अुन्होंने कहा: "जहां जाअूं वहीं वासुदेव हैं। अेकांत कहां मिल सकता है? अिसलिअे मैं केलेको हाथमें रखकर ही बैठा हूं।"

अेक दिन कनकदासकी अिच्छा हुअी कि मन्दिरके तालाबमें स्नान करके भगवानके दर्शन किये जायं। वादिराज अुस दिन अुड़पीमें नहीं थे। कनकदासकी अिच्छा पूरी करे अैसा दूसरा कोअी व्यक्ति अुड़पीमें नहीं था। जितनी बार वे दर्शन करने गये अुतनी ही बार ब्राह्मणोंने अुन्हें बाहर निकाल दिया। अंतमें निराश होकर कनकदास मन्दिरके पीछे गये और वहां गीत गाने लगे। अुन्होंने हृदयका सारा दुःख अपने अिस गीतमें अुंडेल दिया। परमात्मासे भक्तका यह दुःख सहा नहीं गया। मूर्तिने अेकाअेक अुन कर्मकांडी ब्राह्मणोंसे विमुख होकर अपना मुख पीछेकी ओर घुमा लिया!

यह क्या हो गया? अब क्या किया जाय? किसीको कुछ सूझता ही नहीं था। वादिराज आये। अुन्होंने अिस घटनाके बारेमें जानते ही ब्राह्मणोंसे कहा: "अरे, तुमने कनकदासका कोअी अपराध किया है, अिसीलिअे भगवान वासुदेवने हमारे आचार-धर्मकी ओर पीठ फेर ली है।" अंतमें अुन्होंने पीछेकी दीवालमें पत्थरकी अेक जाली बनवाअी और कनकदासके लिअे वासुदेवके दर्शनकी सुविधा कर दी। आज भी वह खिड़की 'कनकदासकी खिड़की' कही जाती है। अुस खिड़कीके पास ही कनकदासकी कुटिया है। आज वहां संस्कृतका अेक वर्ग चलता है।

अेक बार रथयात्राके अवसर पर जाने क्यों भगवानका रथ आगे बढ़ता ही नहीं था। अंतमें वादिराजने कहा: "मालूम होता है कि कनकके स्पर्शके बिना रथ चलने देनेकी भगवानकी अिच्छा नहीं है।"

धन्य हैं वादिराज स्वामी, जिन्होंने अिस बातको समझ लिया कि अंत्यजोंके स्पर्शके बिना हिन्दू समाजकी गाड़ी चल नहीं सकती। आज कर्नाटकमें कट्टरसे कट्टर पुष्टिमार्गी वैष्णव ब्राह्मण भी कनकदासके रचे हुअे भजन गाकर अपना भक्तिरस बढ़ाते हैं और अुन्हें संतके रूपमें स्वीकार करके अुनका चरितामृत गाकर अपनेको पावन हुआ मानते हैं। परन्तु कनकदासके जातिबन्धुओंको तो वे तिरस्कार और धिक्कारके पात्र ही मानते हैं!! हिन्दू धर्मकी रक्षा करनेवाले वादिराज स्वामी प्रत्येक हिन्दूके हृदयमें यदि अवतरित नहीं होंगे, तो हिन्दू धर्मका रथ चलेगा नहीं। और परमात्मा हिन्दू समाजसे विमुख ही रहेंगे।

२७–९–'२५

६१

भारत-शक्ति

कहा जाता है कि महाभारतके युद्धके आरंभमें धर्मराज युधिष्ठिरने प्रतिज्ञा की थी कि "यदि मेरे चार भाअियोंमें से अेक भी मारा जायगा, तो अुसी क्षण मैं भी अपने प्राण छोड़ दूंगा।" अैसे दृढ़ प्रेमके कारण ही युद्धमें पांडवोंकी रक्षा और विजय हुअी थी।

हिन्दू समाजने अैसी प्रतिज्ञा तो नहीं की है, फिर भी अुसकी भवितव्यता ही कुछ अिस प्रकारकी है कि अनेक जातियोंमें बंटे हुअे अुसके चार वर्णोंमें से किसी अेक वर्ण अथवा जातिकी अवनति होने पर समस्त हिन्दू जातिका अधः-पतन हुअे बिना नहीं रहता। न जाने कितने वर्षोंसे हम अपने छोटे भाअियोंकी —— हरिजनोंकी —— अवहेलना करते आये हैं। मानो हमारा प्रेमका झरना ही सूख गया है! वैसे देखें तो भारत कोअी निर्बल राष्ट्र नहीं है। परन्तु वह अिस बातको भूल गया है कि अुसकी शक्तिका संचय कहां है। जिन्हें भारत पतित कहता है, अुन्हीं लोगोंके हाथों अुसका अुद्धार होनेवाला है। जिन जातियोंको हम जंगली कहते हैं, वे ही जातियां हमारे राष्ट्रका रक्षण करनेवाली हैं। जिन स्त्रियोंको हम अबला कहकर अज्ञान और असहाय दशामें रखते हैं, अुनकी जागृतिसे ही भारतमें जागृतिका संचार होगा। अब भारतको अपनी आंखें खोलनी चाहिये और अपनी अकर्मण्यताको त्याग कर अविलम्ब राष्ट्रीय हितके कार्यमें अुत्साहपूर्वक जुट जाना चाहिये।

१९३१

६२

धर्म-विकास

हिन्दू समाजमें सामाजिक दोष दूर करनेकी जिम्मेदारी अृषि-मुनियोंकी और साधु-संतोंकी रही है। धर्मनिष्ठ धर्म-सुधारकों द्वारा ही यह कार्य होता आया है; अिसलिअे हिन्दू समाज गलत रास्ते नहीं गया और जड़तासे वह सड़ा भी नहीं। जब जब सुधारका यह कार्य शिथिल पड़ा है तब तब समाज क्षीणप्राण बना है; और बादमें धर्म-सुधारकोंको कठोर तपस्या करके समाजको जाग्रत करना पड़ा है।

विवाहके नियम जैसे आज हैं वैसे पहले नहीं थे। महाभारतमें लिखा है कि अेक समय अैसा था जब समाजमें विवाह-सम्बन्ध बहुत शिथिल थे। अिसके दुष्परिणामोंको देखकर अेक अृषिने आदेश निकाला कि आज तक जो हुआ सो हुआ, लेकिन अब आगेसे यह शिथिलता बंद होती है। वेदकालमें विधवायें नियोग-विधिसे अमुक समयके लिअे अपने देवरसे सम्बन्ध करती थीं। वैदिक कालसे चली आयी अिस प्रथाकी सीधे शब्दोंमें निन्दा करनेकी हिम्मत तो बादके लोगोंने नहीं की, परन्तु कलियुगमें यह प्रथा बंद होनी ही चाहिये अैसा आग्रह-पूर्वक कहकर अुन लोगोंने अिस प्रथाको बन्द कर दिया। प्राचीन लोग स्वतंत्रता-से मदिरा पीते थे। लौकिक रूढ़िके अनुसार धार्मिक विधियोंमें भी मदिराका अुपयोग किया जाता था। परन्तु मदिराके दुष्परिणामोंको देखनेके बाद अृषि-मुनियोंने मदिराका संपूर्ण निषेध करनेमें संकोच नहीं किया। अुन्होंने सुरापान-की गिनती पंच-महापातकोंमें करके सुरापान बंद करा दिया और समाजको सर्वनाशसे बचा लिया। संन्यास-धर्मका दुरुपयोग होते देखकर अेक समयके धार्मिक नेताओंने यह आदेश निकाला था कि कलियुगमें कोअी संन्यास न ले। परन्तु बादमें आद्य शंकराचार्यने देखा कि धर्म पर ही अचल रहनेवाले तथा धर्मकी ही सेवा करनेवाले त्यागी वैरागियोंकी परम्परा टूटनेमें समाजका बड़ा नुकसान है। अतः कलिवर्ज्यके प्राचीन आदेशको अेक ओर रखकर शंकराचार्यने संन्यास-धर्मकी संस्थाको फिरसे जाग्रत किया और अुसके दस विभाग करके अुसमें आवश्यक विविधता अुत्पन्न की।

जात-पांतके कड़े नियम हमारे कार्यमें विघ्नरूप हैं, यह देखकर सौम्य प्रकृतिवाले संतोंने चौदहवीं सदीसे यह छूट दे दी कि भक्तिमार्गमें जात-पांतका कोअी स्थान नहीं है।

वर्ण-व्यवस्था जन्मके अनुसार मानी जाय अथवा केवल संस्कारों, आजीविका आदि गुणोंके आधार पर मानी जाय, अिस बारेमें पहलेसे ही मतभेद चला आया है। जाति जन्मके अनुसार और वर्ण गुण-कर्मके अनुसार — अैसा मत रूढ़ बना हुआ मालूम होता है। हम यह भी देखते हैं कि जब धर्मके संस्कार प्रबल होते हैं तब जातिका प्रामाण्य अुतना महत्त्व नहीं रखता।

चार आश्रमोंमें सबसे अूंचा आश्रम कौनसा है, अिसका झगड़ा भी लम्बे समय तक चला। अंतमें धर्मबुद्धिने यह निर्णय दिया कि प्रत्येक आश्रम अपने अपने स्थान पर योग्य और श्रेष्ठ है। आहारके विषयमें भी लम्बे समय तक मतभेद बना रहा। महाभारतमें कदम कदम पर अिसकी चर्चा सामने आती है। यज्ञमें पशुहिंसा की जाय या नहीं की जाय, अिसका झगड़ा अितना अधिक चला कि महाभारत-कालीन अेक अृषिने तो वेदोंको धिक्कारनेकी हद तक अपना क्रोध व्यक्त किया है।

अिसी प्रकार स्मृतियोंमें भी समय समय पर परिवर्तन होता आया है। लोगोंके रीति-रिवाज तय करनेका काम पंडितोंका और शास्त्रियोंका नहीं रहा, क्योंकि वे तो केवल धर्मग्रन्थोंका अध्ययन ही करते हैं, बुद्धिकी कसरत करके अनुमान ही निकालते हैं। परन्तु जिन्हें धर्मका अनुभव है, धर्मको हृदयसे समझ कर अुसके पालनमें ही जिन्होंने जीवनकी सफलता मानी है, अुन सदाचारी, धर्म-परायण, सर्वभूत-हितकारी महात्माओंके वचनानुसार स्मृतियां निश्चित की जायं, अैसी प्राचीन परम्परा है। हमारे पास जितनी भी स्मृतियां हैं अुनके आरंभमें ही स्मृतिकारके गुणोंका वर्णन किया गया है। वैसे गुणोंका अपने भीतर विकास करनेके बाद ही अृषिगण जमानेको पहचान कर और धर्मके रहस्यको जीवनमें अनुभव करके धर्मकी व्यवस्था करते थे और अुसे बदलते भी थे।

अछूतोंकी अस्पृश्यता सामाजिक झगड़ोंका परिणाम है। अुसकी जड़को मजबूत बनानेके लिअे किसी दुर्भाग्यपूर्ण क्षणमें लोगोंने अुसे धार्मिक अस्पृश्यताके साथ जोड़ दिया। अुसी दिनसे हम नीचे गिरने लगे। जब समाजका अधःपतन बढ़ जाता है तब धर्मात्मा लोगोंका पुण्य-प्रकोप प्रज्वलित हो अुठता है। गत १०० वर्षोंमें अनेक धर्म-चिन्तकों तथा समाज-सेवकोंने अस्पृश्यताकी निन्दा की, परन्तु समाजने अपनी जड़ताके कारण अुसकी ओर ध्यान नहीं दिया। हिन्दू धर्ममें कहा गया है कि कोअी भी कार्य कठिन मालूम हो तो तुरन्त तपस्या आरंभ करो। मनु भगवानने कहा है:

यद्दुस्तरं यद्दुरापं यद्दुर्गं यच्च दुष्करम्।
तत्सर्वं तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्॥

आज अुसी परम्पराका अनुसरण करके धर्मप्राण, धर्म-सेवक और धर्मनिष्ठ महात्मा गांधीने अुग्र तप आरंभ किया है। अिस तपके फलस्वरूप अस्पृश्यताका

नाश होगा; अितना ही नहीं, समाजमें घुसी हुअी तथा धर्मका नाश करनेवाली अूंच-नीचकी भावना भी मिट जायगी। 'तपसा किल्बिषं हन्ति।' राष्ट्र-पुरुषके तपसे सामाजिक सड़ांध तथा धर्मकी ग्लानि दूर होनी ही चाहिये।

१४–५–'३३

६३

सर्वोदयकी तैयारी

गांधीजीके अुपवाससे लोगोंका चौंक अुठना स्वाभाविक है, रो पड़ना भी आसान है; किन्तु दोनोंमें से अेक भी बात गांधीजीको अथवा देशको मदद पहुंचानेवाली नहीं है। यह धर्म-संस्थापक अुपवास क्यों शुरू किया गया है, अुसकी गहराअीमें क्या क्या है, और अब प्रत्येक हिन्दूका, प्रत्येक भारतवासीका और मानव-जातिके कल्याणकी अभिलाषा रखनेवाले प्रत्येक मानवका क्या कर्तव्य है — अिन सब प्रश्नोंका विचार करनेके लिअे हृदयकी गहराअीमें अुतरनेकी आज खास जरूरत है। गांधीजीके प्राण धर्मके लिअे हैं। अुन प्राणोंका अुपयोग करना, अुन्हें निचोड़ डालना या अुनका बलिदान कर देना — ये तीनों क्रियायें गांधीजीके लिअे अेकसी हैं। कितने ही लोग साफ साफ कह देते हैं कि 'सामान्य मनुष्यका अब धर्ममें रस नहीं रह गया है।' धर्मके नाम पर अीसाअियोंने जो जुल्म किये हैं, धर्मके नाम पर हिन्दू-मुसलमान जिस तरह लड़े हैं, धर्मके नाम पर जहां-तहां जो दंभ और पाखण्ड आज चलता है, अुसे देख-सुनकर और अुसके अुदाहरण देकर लोग खुलेआम पूछते हैं: 'अैसे धर्मको टिकाये रखनेका प्रयत्न कौन करे? धर्मकी अिस बलासे तो समाजमें सड़ांध पैठती है। समाजकी हवाको शुद्ध करना हो, तो धर्मके पाखण्डको दूर करना ही होगा। अिसके बजाय गांधीजी धर्मको टिकानेके लिअे सारे विश्वका मूल्य रखनेवाले अपने प्राणोंको क्यों खतरेमें डाल रहे हैं?'

और हमारे नौजवान? रूसकी क्रांति पर मोहित हुअे ये नौजवान तो अेक ही बात कहते हैं: 'धर्मको कुचल डालो, धर्मका जड़मूलसे नाश कर डालो, तभी सामान्य जनता अपना सिर अूंचा कर सकेगी। धर्मका अर्थ है गुलामी। धर्मका अर्थ है अज्ञान। धर्मका अर्थ है अंधविश्वास, धूर्तोंकी पूंजी, जालिमोंकी ढाल, प्रगतिके मार्गमें खड़ी की हुअी दीवाल और पीड़ित लोगोंको जाग्रत न होने देनेके लिअे अुन्हें खिलाअी जानेवाली अफीम।' अैसे अैसे वाक्योंसे देशके नौजवान धर्मको सम्मानित करते हैं।

लेकिन ये लोग जानते नहीं कि जिस बातसे नौजवानोंको घृणा है अुसीसे गांधीजीको भी घृणा है। नौजवान कहते हैं: 'डाअुन विथ रिलीजन';

जब कि गांधीजी अिसी बातको व्यवहारकी भाषामें रखकर अिस प्रकार कहते हैं : 'अस्पृश्यताको दफना दो। अूंच-नीचकी भावनाको नष्ट कर दो। पाखण्डको अपने पास खड़े होनेकी भी जगह न दो।' नौजवान जब 'डाअुन विथ रिलीजन' कहते हैं तब यह आदेश वे हवामें छोड़ते हैं; वे देखते भी नहीं कि अिस आदेशको पालनेवाला कोअी है या नहीं। गांधीजी कहते हैं : 'पाखण्डका नाश करनेकी बात हम दूसरोंसे कहें अिसके पहले हम स्वयं ही अुसका नाश करें। हमारे भीतर जो पाखण्ड हो अुसीको हम पहले दूर करें, क्योंकि वह हमारी गोलीकी पहुंचके भीतर होगा। अुसके बाद आसपासके पाखण्डका नाश करना भी हमारा ही काम होगा।'

केवल शब्दोंके जालमें फंसकर नौजवान लोग यदि अैसा मान लें कि गांधीजी और अुनके बीच गहरा समुद्र फैला हुआ है, तो यह दुर्भाग्यकी बात होगी। हम जिसे समाज-हित कहते हैं अुसीको गांधीजी धर्म कहते हैं। हम जिसे चरित्रका तेज कहते हैं अुसीको गांधीजी आत्मबल कहते हैं। फर्क अितना ही है कि हम लोग जिस बातकी केवल चर्चा करते हैं अुसे गांधीजी आचरणमें अुतार कर दिखा देते हैं और स्वयं आचरणमें अुतारनेके बाद हमें भी अुस पर आचरण करनेका निमंत्रण देते हैं।

गांधीजीने अपने जमानेके खिलाफ अेक महान संघर्ष छेड़ दिया है। आजका जमाना युक्ति-प्रयुक्तिसे काम निकलवाना चाहता है। आजके दाव-पेंच जाननेवाले चतुर लोग दुनियाको हमेशा यह आशा दिलाते हैं कि हम कोअी अैसी हिकमत खोज निकालेंगे, जिससे हमारा अपना स्वार्थ भी बढ़ती हुअी मात्रामें सिद्ध होता जाय और जन-समाजका भी दिनोंदिन अधिक भला होता जाय। अिसीसे धीरे-धीरे समाजमें बेहद सड़ांध बढ़ती जाती है। निजी जीवनमें क्या और सार्वजनिक जीवनमें क्या, जीवनका आदर्श ही नीचे गिरता जाता है। अैसी स्थितिमें दंभी लोग और अुनके गुप्त पाप बढ़ें, तो आश्चर्यकी कोअी बात नहीं। गांधीजी अिस स्थितिसे लोहा लेकर वीरयुगकी स्थापनाका प्रयास कर रहे हैं। वे लोगोंके मन पर यह बात जमाना चाहते हैं कि किसी न किसीको तो बलिदान देना ही पड़ेगा; अिसके बिना लोग अूंचे नहीं अुठ सकेंगे, अुनका चारित्र्य टिक नहीं सकेगा। आज भले ही गांधीजीने हरिजनोंके लिअे अुपवास आरंभ किया हो, परन्तु हरिजनोंका प्रश्न तो अुपवासका केवल अेक मुख्य कारण है। सारी दुनियाके राजनीतिज्ञोंने धर्म पर जमी हुअी मनुष्य-जातिकी श्रद्धाको तोड़नेका जो धंधा शुरू किया है, अुसके खिलाफ गांधीजीने अेक प्रचण्ड विद्रोह कर दिया है। यह विद्रोह किसी देशके या किसी राज्यके खिलाफ नहीं है, परन्तु मनुष्यजातिके हृदयमें जो शैतान बैठा हुआ है और धर्मके नाम पर सर्वत्र अधर्म फैला रहा है अुसके खिलाफ है। भारतकी या किसी भी देशकी राजनीतिसे अिसका

कोअी सम्बन्ध नहीं है। यह तो शुद्ध हृदय-नीति है, समाज-नीति है, धर्मनीति है। अिस बातको यदि हम समय रहते समझ लेंगे, तो बहुतसा कार्य आसानीसे और तुरन्त कर सकेंगे।

यह बात हमें याद रखनी चाहिये कि गांधीजीके साथ रहकर प्रयत्न करेंगे, तो कम मेहनतसे और बगैर परेशानीके हम संकटको पार कर लेंगे। लेकिन यदि आज हम गांधीजीका साथ नहीं देंगे, तो हमें हाथ मलने पड़ेंगे और अनेक पीढ़ियों तक बलिदान पर बलिदान देनेके बाद ही हम किनारे पर पहुंच सकेंगे। भारतवर्षमें रहनेवाले हर आदमीसे गांधीजी यह कहते हैं कि वह शुद्धिके अिस यज्ञमें अपना हिस्सा दे, जो जहां बैठा हो वहीं खड़ा होकर सफाअी और शुद्धि करने लगे, अपने हृदयमें धूप जलाये और सर्वोदयकी तैयारी करे।

७–५–'३३

६४

भावनाका खतरा

गांधीजीके अुपवासके दैनिक समाचार जाननेके लिअे लोग अितने अुत्सुक हैं कि जिस दुःखके कारण गांधीजीने अुपवास किया है, अुसे तो मानो लोग भूल ही गये हैं। सितंबर माहके अुपवासके समय लोगोंने जो अुत्सुकता और अुत्साह बताया था, वह आज नहीं दिखाअी देता। यह सच है कि अुस समय गांधीजीके अुपवासको छोटा बनाना अधिकतर लोगोंके हाथमें था और अिसलिअे हर भारतवासीमें यह परिणाम लानेके लिअे यथाशक्ति सब-कुछ कर गुजरनेका अुत्साह था। अिस बार केवल आध्यात्मिक वृत्तिसे गांधीजीके अुपवासका आरंभ हुआ है। नतीजा यह है कि लोग गांधीजीकी तबीयतके समाचारोंमें ही डूबे रहते हैं।

आध्यात्मिक वातावरणमें लोगोंका अधिक मात्रामें अंतर्मुख होना स्वाभाविक है, बल्कि अुचित भी है। अंतर्मुख वृत्तिमें बाहरी दौड़धूप बहुत नहीं हो सकती और अुसकी आवश्यकता भी नहीं है। परन्तु सच्चा अध्यात्म, सच्ची धार्मिक वृत्ति ठोस सेवाके रूपमें प्रकट हुअे बिना रह ही नहीं सकती। जो वेदांत मनुष्यकी क्रियाशक्तिको नष्ट करे, वह सच्चा वेदांत नहीं है। अंतर्मुख होकर अपने दोष दूर करनेके समय दूसरोंके काजी बननेकी वृत्तिको छोड़कर अेक-दूसरेके भाअी बननेकी वृत्ति बढ़ानी चाहिये। २१ दिनके अुपवासके बाद जब गांधीजी देशकी स्थितिका निरीक्षण करें, तो अुस समय अुन्हें यह दिखाअी पड़ना चाहिये कि वैर-द्वेषका वातावरण शांत हो गया है; जो लोग पापके मोहमें फंसे हुअे थे

अुनमें न केवल पापके प्रति अरुचि बढ़ी है, किन्तु पापका विरोध करनेकी शक्ति भी आ गअी है; जो लोग केवल जिद पर चढ़कर अेक-दूसरेके विरुद्ध बातें करते थे अुनकी वह अुत्तेजना अब शांत हो गअी है; जो लोग हरिजनोंकी बुनी हुअी खादीके प्रति अुदासीन थे वे लोग अब खादी खरीद कर हरिजनोंके लिअे स्थायी जीविकाका प्रबन्ध कर रहे हैं; और संक्षेपमें कहा जाय तो हरिजन लोगोंको हिन्दू समाज-रूपी घरमें स्वतंत्रतासे चलते-फिरते देखकर किसीको आश्चर्य अथवा द्वेष नहीं हो रहा है।

भावनाओंके अुद्रेकके समय अेक-दो बातें विशेष रूपसे समझ लेना आवश्यक है। आज देशमें चारों तरफ लोगोंकी भावनायें अुत्तेजित हो अुठी हैं। अैसी भावनाओंके फलस्वरूप यदि कार्य तुरन्त न हो, तो ये भावनायें मादक सिद्ध होती हैं; और फिर तो मनुष्य अपनी भावनाओंका ही प्रशंसक बन जाता है। भावनाओंका अुत्तेजित होना ही मानो कोअी बहुत बड़ा काम हो, यह मानकर भावनाओंकी कोमलताका आनंद लूटनेमें ही मनुष्य लीन रहता है। यह काम विषय-भोग करने जैसा ही विषम हो जाता है। अिसके परिणाम-स्वरूप मनुष्यकी संकल्प-शक्ति क्षीण होती है, कार्यशक्ति नष्ट होती है और हर प्रकारके नशेके नियमके अनुसार मनुष्यका मन भावनाके अधिकाधिक नशेकी मांग करता है। अखबार और लेखक भी अिस भोजनको बढ़ाते ही जाते हैं, मानो वे यह भोजन मुहैया करनेके लिअे वचन-बद्ध हों। अिसके फलस्वरूप वातावरण बिजलीसे भरा हुआ, अुत्तेजनापूर्ण और अलौकिक मालूम होते हुअे भी जितना काम या सेवा होनी चाहिये अुतनी होती नहीं। और अिसके बाद समाज स्तब्ध भले न हो, परन्तु निराश और निरुत्साह तो हो ही जाता है।

बड़े बड़े जन-नायक और समाज-नेता अिस स्थितिको जानते हैं। अिसीलिअे व अैसी भावनाओंको छेड़ते अथवा जगाते नहीं, जिनसे हितकर कार्यको जन्म न दिया जा सके, लोगोंको काममें न लगाया जा सके और लोक-जीवनमें परिवर्तन न किया जा सके। भावनाओंको जगाना बहुत आसान है; परन्तु प्रत्येक भावना लोककथाके भूतके समान है। यदि हम अुससे काम न लें, तो वह हमें निश्चित ही खा जाती है।

अिसलिअे मनुष्य भावनाके वश भले ही हो, परन्तु अुसीके अुन्मादमें न फंसे। भावनाके प्रभावके नीचे अकर्मण्य बनकर मनुष्य लम्बे समय तक पड़ा न रहे। भावनाका रूपांतर कार्यमें, सेवामें, संकल्प-सिद्धिमें होना ही चाहिये।

२१–५–'३३

६५

भक्तिका प्रसाद

नम्रता धार्मिकताका लक्षण है। हममें सच्ची नम्रता हो तो हमें दूसरोंसे ज्ञान प्राप्त हो सकता है, हम बोध ग्रहण कर सकते हैं और अपने जीवनमें सुधार भी कर सकते हैं। जिस मनुष्यसे हम धर्मज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, अुसके प्रति हमारे मनमें विश्वास, निष्ठा और श्रद्धा होनी ही चाहिये; क्योंकि धर्म केवल बुद्धिका विषय नहीं है, परन्तु निष्ठाका विषय है।

अिस नम्रताको व्यक्त करनेके लिअे ही जिज्ञासुसे शुश्रूषाकी अर्थात् 'कही हुअी बातको सुनने और माननेकी' तैयारीकी अपेक्षा रखी गअी है। 'मैं आपका कहा मानूंगा। जीवनमें आवश्यक परिवर्तन करनेके लिअे मैं तैयार हूं। आपके सहवासमें रहकर, आपके जीवनमें ओतप्रोत होकर ही जीवन-रहस्य समझा जा सकता है, अतः मैं आपके कार्योंमें भी भाग लूंगा'—ये सब संकल्प प्रकट करनेके लिअे अुपनिषद्-कालके जिज्ञासु प्रतीक-रूप हवनकी सामग्री और समिधा लेकर गुरुके पास जाते थे।

अुसके बाद भक्तोंने अिस नम्रतामें और वृद्धि की। ज्ञानी मनुष्यके चरण जहां हैं वहां हमारा सिर पहुंचे तो भी हम अुन्नत ही होंगे—अैसी भावना व्यक्त करनेके लिअे पैर पड़नेका, पैरों पर सिर रखनेका रिवाज शुरू हुआ। अुसके बाद तो नम्रताकी स्पर्धा होने लगी। 'मैं आपके दासके दासका दास हूं, आपके गुलामका गुलाम हूं, आप गुरुके गुरु हैं,' आदि शिष्टाचार बढ़ने लगा। अिसके बाद चरणोंको छोड़कर लोग चरणोंकी रजसे चिपट गये। अीश्वर-में और अीश्वरके नाममें जो चमत्कारी शक्ति है वैसी शक्तिका आरोपण ज्ञानियों, भक्तों और पंडितोंके चरण-स्पर्शके बारेमें भी होने लगा। अेक शिष्यने तो अपने माने हुअे गुरुके पांवों पर लगी धूल रोज-रोज अिकट्ठी करके अेक थैली भर ली और अुस पर रेशमी तथा जरीके कपड़े सीकर रोज अुस थैलीको अपने सिर पर चढ़ाने लगा। लेकिन अितनेसे अुसे संतोष नहीं हुआ। घरमें पूजाके लिअे रखी हुअी भगवानकी मूर्तियां भी अुसे गुरुकी चरण-रजकी थैलीके सामने तुच्छ मालूम होने लगीं। अिसलिअे अुसने वे मूर्तियां थोड़ी दक्षिणाके साथ अपने पुरोहितको सौंप दीं और फिर वह केवल अुस थैलीकी ही पूजा करने लगा!

भक्ति अच्छी चीज है; परन्तु मनुष्यका जीवन यदि प्राकृत हो तो भक्ति-में निरी विह्वलता आ जाती है। चरण-स्पर्शकी योजना पहले-पहल नम्रता

प्रकट करनेके लिअे की गअी थी। अुसके बदले आगे चलकर यह अंधविश्वास पैदा हुआ कि चरण-स्पर्शमें कोअी चमत्कारी प्रभाव है, अुससे धार्मिकताकी बिजली बिना मेहनतके हमारे शरीरमें प्रवेश कर सकती है। और फिर तो मनुष्यकी लोभी वृत्ति अैसा मुफ्तका लाभ पानेके लिअे जहां तहां दौड़ने लगी। अेक ओर भक्तजन दिनोंदिन चरण-स्पर्शका महत्त्व बढ़ाने लगे। दूसरी ओर अिस सरल और सस्ती धार्मिकताके लिअे लोगोंका लोभ बढ़ने लगा। और जिसके प्रति मनमें पूज्य भाव हो अुसे परेशान करके भी लोग अैसा चरण-स्पर्श पानेकी स्पर्धा करने लगे।

पत्थर या धातुकी मूर्तिको हम पूजाके लिअे कितनी ही बार क्यों न स्नान करायें, कितनी ही बार क्यों न भोजन करायें और कितने ही पूजाद्रव्य अुस पर क्यों न लादें, फिर भी अुस मूर्तिको जुकाम, अपच या घबराहट नहीं होगी। अिसलिअे भक्तिकी प्रीति मूर्ति पर अुंड़ेलनेमें कोअी कठिनाअी नहीं होती। मंदिरके मुखिया जैसी चाहें वैसी पूजा मूर्तियोंकी हो सकती है। अितना ही ध्यान रखना होता है कि मंदिरमें भक्त अेक-दूसरेको परेशान न करें। परन्तु किसी देहधारीको हम अीश्वरका अवतार मानने लगें और अपने पागल-पनमें अुसके सुख-दु:खका या अुसकी भावनाओंका विचार न करें, तो यह अविवेककी पराकाष्ठा कही जायगी। स्पर्शमें और स्पर्शकी बिजलीमें मानवका जो विश्वास है, वह धार्मिक रिवाजोंमें घुसा हुआ अेक जड़वाद है। जब बहुत लोग अेक जगह अिकट्ठे होते हैं तो अेक-दूसरेकी देखादेखी अुनका पागलपन बढ़ भी जाता है। फिर तो पामर मनुष्य सत्पुरुषके अुन्नत जीवनका विचार करनेके बदले अुसके प्रति रही अपनी भक्तिकी ही कदर करने लगता है, और अंतमें अीश्वरके नाम पर वह अपनी निर्बल किन्तु अुत्तेजित बनी हुअी भावनाकी ही अुपासना करने लगता है।

गांधीजीकी हरिजन-यात्रामें अिस बातका अनुभव — अत्यन्त कड़वा अनुभव — कदम कदम पर होता है। लोग आधी रातमें भी स्टेशन पर गांधीजीको देखने आते हैं। वे रातके दो-तीन बजे भी अुन्हें नहीं छोड़ते। यदि कहा जाय कि गांधीजी सोये हैं, तो अुन्हें जगानेके लिअे वे अितनी अूंची आवाजमें 'गांधी-जीकी जय' बोलते हैं कि सुननेवालोंके कान फट जायें। गांधीजीकी तबीयत नाजुक है अैसा कहा जाय, तो दर्शनके लिअे कितनी दूरसे स्वयं आये हैं अिसकी कदर कराना चाहते हैं। यदि यह कहें कि 'अिस तरह गांधीजीको दिन-रात परेशान करोगे तो तुम अुन्हें खो बैठोगे,' तब तो आवाज कम करनेके और गांधीजीको आराम करने देनेके बदले यह वृत्ति बतानेवाले लोग भी हमारे देशमें मौजूद हैं कि 'अैसा हो तो हमें अिसी समय गांधीजीके दुर्लभ दर्शन कर लेने दीजिये!' अैसे धार्मिक लोभमें धार्मिकताका नाम भी नहीं है, यह बात ये

लोग कब समझेंगे ? सभाकी भीड़में से निकलते समय कितने ही लोग गांधीजीके चरणोंका स्पर्श करनेके लिअे दौड़ पड़ते हैं। गांधीजी ठोकर खा कर गिर पड़ेंगे, अिस तरह सोचने जितनी भक्ति-शून्यता अुनमें नहीं होती। अुनके भीतर केवल यही वृत्ति सर्वोपरि होती है कि पुण्य प्राप्त करनेका जो मौका मिला है अुसे हाथसे जाने देंगे तो हम बेवकूफ कहे जायंगे।

हजार बार चरण-स्पर्श करने पर भी मनका मैल नहीं मिटा, हृदय अुन्नत नहीं बना, अैसा अनुभव होनेके बाद भी मनुष्य अितना स्पष्ट नहीं समझता कि जब तक हृदयका परिवर्तन नहीं होगा तब तक स्पर्शकी यह बिजली अुसे शायद ही कोअी लाभ पहुंचा सकेगी।

भक्तोंके सामने कोअी मनुष्य अैसी बात करे, तो अुसे नास्तिक कह देनेमें अुन्हें जरा भी देर नहीं लगती। कविगण अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन लिखते हैं। सिद्धान्तवादी लोग ठेठ अंतिम छोर पर पहुंच कर अिन वचनोंका बचाव करते हैं। और सामान्य लोग अिन सब वचनोंके अक्षरार्थसे चिपटे रहनेमें ही धार्मिकता समझते हैं। लोग अपने संत-महंतों और धार्मिक सेवकोंसे भी कुछ न कुछ लाभ अुठा लेना चाहते हैं। अिस वृत्तिमें सच्ची धार्मिकता नहीं है, परन्तु हीनता अथवा जड़ता है। अिससे धर्मकी विजय नहीं होगी।

कुछ ही समय पहले सिन्धमें चरण-स्पर्श करनेके प्रयत्नमें लोगोंने गांधीजीके पैरोंमें खरोंचें पैदा कर दी थीं। अुनका अिलाज अभी भी चल रहा है। (सच बात तो यह लगती है कि भक्तिसे पागल बने हुअे लोगोंके हाथोंको हटानेके लिअे दौड़नेवाले किन्तु अुनके जितने ही भक्ति-दीवाने स्वयंसेवकों द्वारा ये खरोंचें पैदा हुअी थीं। लेकिन अिस सुधारसे भी मूल बात बदलती तो नहीं।) लोगोंकी अैसी दीवानी भक्तिका प्रसाद गांधीजीको अनेक बार चखना पड़ता है। जहां मिट्टीके रास्तों पर खुले पैर चलनेका रिवाज है वहां तो पैरोंकी खरोंचें अकसर गंभीर रूप ले लेती हैं। मिट्टीका जहर आदमीके खूनमें प्रवेश कर जाता है। अिससे भारी बीमारी भी हो जाती है, जिसके मिटनेमें बड़ी देर लगती है।

अेक बार आधी रातमें गांधीजीको न सतानेकी बात समझानेका प्रयत्न करने पर कुछ लोगोंने कहा : 'गांधीजी तो अीश्वरके अवतार हैं। अुनको थकान कैसी?' मैंने कहा : 'वे स्वयं ही कहते हैं कि मैं थक गया हूं। यदि वे सच नहीं कहते, तो वे महात्मा नहीं हैं। और यदि अुनका कहना सच है अैसा आप लोग स्वीकार करें, तो अिस तरहकी थकानसे आप अुन्हें जरूर बचायें।' मैंने मान लिया था कि अिस दलीलसे वे लोग समझ जायेंगे; और यदि समझे नहीं तो निरुत्तर जरूर हो जायंगे। परन्तु पुराणकारों और भाष्यकारोंकी तालीम पाये हुअे हमारे अिन लोगोंके पास अिसका जवाब भी तैयार था। वे बोले :

'गांधीजी तो लीला करते हैं। वे अवतारी पुरुष हैं यह बात अुन्हें छिपानी है, अिसीलिअे वे थकनेकी बात कहते हैं। श्री रामचन्द्रजी सीताजीके विरहमें अिधर-अुधर भटकते थे तब क्या वे जानते नहीं थे कि सीता तो अुनकी चित्-शक्ति है और गुप्त रूपमें अुनके पास ही है?'

अैसी दलीलका भला क्या जवाब दिया जाता? भगवानने स्वयं बुद्धका रूप धारण करके जगतको धोखा दिया, अिस प्रकार कहकर नवें अवतारका रहस्य समझानेवाले धर्म-वाचस्पतिके सामने बुद्धिके लिअे कोअी स्थान ही नहीं रह जाता। जहां किसीको यह लगता ही नहीं कि बुद्धिकी रक्षा करके धर्मका रहस्य समझा जा सकता है, वहां बेचारी दलीलें क्या करें?

दर्शनकी अभिलाषा होना स्वाभाविक है। जुलूसों, यात्राओं, सभाओं और सम्मेलनोंमें केवल विचारोंका आदान-प्रदान ही नहीं होता; ये सब विचारोंके प्रचारके अुत्तम प्रतिबिम्ब भी हैं। ये सब लोगोंकी भावनाओंको विकसित करने तथा लोक-मानसका निरीक्षण करनेके शक्तिशाली साधन हैं। हजारोंकी संख्यामें लोग अिकट्ठे हों, यह बुरा नहीं है। अैसे जन-समुदायोंमें ही विराट् जनताकी जागृतिका दर्शन होता है। बड़े समुदायोंमें सारे सात्त्विक अुदात्त भाव फूटने लगें, तो यह जितना स्वाभाविक है अुतना ही वांछनीय भी है। लेकिन अिसके साथ ही लोगोंमें कुछ अनुशासन अवश्य आना चाहिये। दूसरोंके सुख-दुःखके बारेमें, दूसरोंकी भावनाओंके बारेमें अैसे समय अधिक कोमलता प्रकट होनी चाहिये। और सामाजिक जीवनका शिष्टाचार तो अैसे अवसर पर सबका प्रधान कर्तव्य होना चाहिये।

हम पागल बन कर भक्तिका प्रसाद महात्माको चखायें, यह तो अत्याचार ही कहा जायगा।

२२-७-'३४

जीवन-व्यवस्था

पांचवां खण्ड

हृदय-धर्म

६६

संस्कृतियोंका जीवन-क्रम

संस्कृति कोअी तालाब नहीं है, जिसका पानी चारों तरफसे बन्द हो। संस्कृति तो अेक बड़ी नदी है, जिसे दोनों ओरके किनारे अेक सीमित पाटमें ही बांध रखते हैं और जिसमें अूपरसे चाहे जितना नया पानी आ सकता है तथा जिसका पानी आगे स्वेच्छापूर्वक अनुकूल और आवश्यक दिशामें जा भी सकता है। जैसे जैसे नदियां आगे बढ़ती हैं, अुनमें छोटे-मोटे अनेक स्रोत आकर गिरते हैं और कभी कभी अेक ही नदी अनेक स्रोतोंमें विभक्त होकर महासागरमें जा मिलती है। कअी नदियां अैसी भी होती हैं, जिनके अेक स्रोतके दो-तीन या अधिक स्रोत बन जाते हैं और आगे जाकर वे फिरसे अेक हो जाते हैं।

नदियोंका यह प्रवाह-क्रम या जीवन-क्रम पूरी तरह मानवके हाथमें नहीं होता। प्रकृतिकी अगम्य लीलासे ही यह जीवन-क्रम निश्चित होता है। मनुष्य अपने दृढ़ संकल्प और तपस्याके बलसे अिसमें थोड़ा-सा परिवर्तन कर सकता है। जैसा और जो कुछ थोड़ा-बहुत परिवर्तन वह कर सकता है, अुससे काफी लाभ भी अुठाता है।

हिन्दुस्तानमें दुनियाकी सभी मानवीय संस्कृतियोंका महासम्मेलन हुआ है। अिसमें कुछ भाग हमारे साधु-संतों, साहित्यकारों, नेताओं और तत्त्वज्ञोंका है और अिससे अधिक भाग अितिहास-विधाताकी लीलाका फल है।

संस्कृतिकी रक्षा करनेके लिअे हम अैसी कोशिश न करें, जिससे नदीका तालाब बन जाय। जिस जलकी हमें ज्यादा जरूरत हो, अुसके स्रोतका वेग बढ़ाकर ही हमें संतोष करना चाहिये।

दिसम्बर, १९४०

६७

प्राणदायी हवा

अेक गांवके लोग बहुत ही भोले और भले थे। वे अपने बड़ोंके वचनका आदर करते थे और बड़े कहें वैसा ही चलते थे।

अुस गांवमें पुराने जमानेका अेक बूढ़ा रहता था। वह हमेशा कहा करता था : "हेमंत अृतुकी हवा बड़ी स्वास्थ्यवर्धक होती है। वह जितनी शरीरमें जाती है अुतना ही मनुष्य अधिक स्वस्थ और बलवान बनता है। हेमंतकी हवा क्या है, शुद्ध प्राण है प्राण!"

कुछ समय बाद अुस बूढ़ेका स्वर्गवास हो गया। अब लोग अुसको ज्यादा याद करने और आदर देने लगे। अुसके श्राद्धके दिन सब लोग अेकत्र होते तब अुन्हें अुसके वचन याद आते थे।

अेक बार अेक आदमी बोला : "भाअियो, हमारे वृद्ध पुरुष जो कहते थे अुसके अनुसार हम चलेंगे तभी सुखी होंगे। हम अैसा करें कि हेमंत अृतु पूरी होनेसे पहले अुसकी हवाको घरमें भर लें और घरके खिड़की-दरवाजे बन्द करके अुस प्राणदायी हवाको बाहर न जाने दें। दूसरी हेमंत अृतुके आने तक वह हवा हमारे काममें आयेगी। घरसे बाहर हम यथासंभव कम जायं; जायं भी तो अेक छोटासा छेद करके अुसीसे बाहर जायं। मौका आने पर अुसे जरा खोलें और फिर तुरन्त बंद कर दें।"

यह सलाह सबके गले अुतर गअी और सब लोग अैसा ही करने लगे। अिस प्रकार रुकी हुअी हवामें रहनेका परिणाम लोगोंके लिअे क्या आया, यह कहना जरूरी नहीं।

रूढ़ियोंका अुपासक पुराण-प्रिय कट्टर सनातनी हिन्दू समाज अिस परिणामका अनुभव हमेशा ही करता रहता है।

१९२७

६८

धर्म बनाम धार्मिकता

अेक जमाना था जब बड़े बड़े सम्राट् भी अपने राज-मुकुट हाथमें लेकर धर्माचार्योंकी अदालतमें खड़े रहते थे। साहित्य, कला, विज्ञान —— सबको धर्मकी अदालतमें अपनी निर्दोषता और निष्ठा सिद्ध करनी पड़ती थी!

अब वे दिन चले गये हैं; क्योंकि धर्मोंसे मानो धार्मिकता ही रूठ गअी है। अब तो आर्य धर्म, ओसाअी धर्म, अिस्लाम, बौद्ध धर्म, यहूदी धर्म अित्यादि सबके सब धर्म मानवताकी अदालतमें अभियुक्त बनकर खड़े हैं। धर्मके नाम पर अितनी संकीर्णता फैलाअी जा रही है, अितना मनुष्य-द्रोह किया जा रहा है कि अब सबके सब धर्म न्यायाधीश न रहकर अभियुक्त बन गये हैं।

सबसे पहले सत्त्व जाता है, बादमें प्रतिष्ठा जाती है। फिर स्थानभ्रष्ट होते क्या देर लगती है? धर्मोंने धार्मिकता छोड़ दी और अपना नाश किया। अब धार्मिकताको ही धर्मोंके शिकंजेसे बचानेके दिन आ गये हैं।

अप्रैल, १९४०

६९

हृदयकी शक्ति

प्रश्न —— मन, बुद्धि, चित्त, मस्तिष्क और हृदय – ये सब क्या हैं और अिनके धर्म (functions) क्या हैं?

अुत्तर —— मस्तिष्क तो सिरकी खोपड़ीमें रहनेवाली मेधाशक्तिको कहते हैं। अुसकी सहायतासे ही सुप्त अथवा व्यक्त संवेदनायें अपना व्यापार करती हैं। अुसमें जो विचार-शक्ति है अुसे चित्त कहते हैं। अुसीकी विशिष्ट तरंगको मन कहते हैं। तरंगके सभी गुण-धर्म मनमें दिखाअी देते हैं। अिन तरंगोंके हेतुको स्थिर बनानेवाला जो निश्चयात्मक व्यापार है वही बुद्धि है। ये सब स्थूल व्याख्यायें जैसी सूझीं वैसी मैंने यहां लिख दी हैं।

हृदयकी व्याख्या करना बहुत कठिन है। लोग मानते हैं कि हृदयका अर्थ है भावनायें। यह माना जाता है कि अिन भावनाओंका सम्बन्ध आंतोंके साथ है अथवा रक्तके भंडार-रूप कलेजेके साथ है। लेकिन यह बात सिद्ध नहीं हुअी है। भावनायें भी शरीर-व्यापी होती हैं; और वे चित्तका अेक व्यापार

हैं। कहा जाता है कि शुभ-अशुभ रुचि-अरुचि, प्रेम, द्वेष अथवा अुपेक्षा — यह भेद हृदयका ही व्यापार है।

मैं तो मानता हूं कि प्रत्येक मानवमें आत्मौपम्य अथवा आत्मैक्यका अनुभव करनेकी जो भूख होती है वही हृदय है। भूख होनेके कारण वह क्रियारूपिणी है, प्रवाह-रूप है। अेक आत्माका दूसरी आत्माके प्रति जो आकर्षण या प्रवहण (attraction, response and flow) होता है वही हृदय है। यह व्याख्या बिलकुल नअी है, अिसलिअे शायद आप अिसे स्वीकार नहीं कर सकेंगे। लेकिन मुझे अिसीमें संतोष है। अुपनिषत्कारोंने हृदयकी निरुक्ति अिस प्रकार दी है: 'हृदि अयम्।' वे यह भी कहते हैं कि सत्यको जाननेका साधन बुद्धि नहीं, किन्तु हृदय है। वे लोग यहां तक भी कहते हैं कि हृदय ही आत्मा है।

जिस चीजको हम बुद्धिसे जान लेते हैं अुसीको जब हम हृदयसे स्वीकार करते हैं, तब अुस ज्ञानानुभवको साक्षात्कार कहते हैं। अंग्रेजी भाषामें साक्षात्कारको 'realisation' कहा जाता है। यह अेक सुन्दर शब्द है। जो कुछ बुद्धिको सत्य लगता है अुसे हृदयके द्वारा जीवनमें सत्य (real) बनानेकी क्रियाको 'realise कहते हैं। यह शक्ति हृदयकी ही है।

१९३१

७०

हृदय-धर्मकी दीक्षा

सब धर्मोंमें श्रेष्ठ धर्म है — हृदय-धर्म! संसारमें जितने धर्म, मजहब, पंथ, फिरके और सम्प्रदाय हैं, वे आज चाहे जितनी तंगदिली पैदा करते हों, किन्तु असलमें वे किसी न किसी मानव-प्रेमी संस्कृति-परायण हृदय-धर्मसे ही निकले हुअे हैं। 'धर्मशास्त्रं महर्षीणां अन्तःकरण-संभृतम्।' जिस अुदार हृदयकी प्रेरणासे वे निकले हैं अुस हृदयका जो व्यापक प्रेमधर्म है वही हृदय-धर्म है। हिन्दुस्तानमें दुनिया भरके करीब सभी धर्म अिकट्ठे हुअे हैं; क्योंकि अुनको पता चल गया है कि यहां हृदय-धर्मका साम्राज्य है। यहां जितने धर्म आये वे सब अपना अपना अभिमान लेकर आये। अुन्होंने, जितना भी अुनसे हो सका, भला और बुरा किया। लेकिन धीरे धीरे वे हृदय-धर्मकी प्रेम-लड़ीमें बंध गये। सबको प्रेमधर्मका भान हुआ। पर किसीको अुसकी दीक्षा नहीं मिली। अिसीलिअे वे आपसमें खींचतान करते हैं और अिस देवभूमिको भूतलका स्वर्ग बनानेके बजाय नरक बना रहे हैं। जिसके हृदयमें जितनी ही संकीर्णता और क्षुद्रता होगी अुतना ही वह दुःख

अुठायेगा और दूसरोंको भी अधिकाधिक दुःख देगा। किन्तु अंतमें (या अनन्तमें) विजय हृदय-धर्मकी ही होगी।

हे हृदयान्तर्यामिन्! हमें अुस हृदय-धर्मकी दीक्षा दो और हमारी श्रद्धाको अनन्त बनाओ, जिससे हम भारतके हृदय-धर्मकी सच्ची सेवा करें और अपने जीवन द्वारा और मरण द्वारा अुसीका साम्राज्य स्थापित हुआ देखें।

दिसम्बर, १९३९

७१

हृदय-शुद्धिकी याचना

अपना हित-अनहित तो पशु भी सोचते हैं। वे अितना तो जानते ही हैं कि 'संकटके समय हमें आपसमें मिलकर और संगठित होकर, अपनी सामूहिक संघशक्तिसे आनेवाले संकटका सामना करना चाहिये। यही मुक्तिका रास्ता है।' किन्तु जिस जातिमें लोग मुक्तिको ही संकट मानते हैं, अुसकी नीति कुछ और ही होती है! हमारे लिअे जब अेक होनेकी ज्यादासे ज्यादा जरूरत है अुस समय हमारा देश अनेक मतों, अनेक मार्गों और अनेक दुर्गुणोंसे पीड़ित है।

तो क्या यह विनाशकी निशानी है या सूर्योदयके पहले, अुषःकालके पहले और ब्राह्म-मुहूर्तके भी पहले जो घोर अंधकार होता है वही यह है? जब मनुष्य बड़ीसे बड़ी भूल कर बैठता है तभी वह चौंक कर जाग पड़ता है और अपना व्यवहार सुधारता है।

भगवन्! हमने बहुत सहन किया है, और भी सहन करेंगे। किन्तु अब हमें 'बुद्धिभ्रंश'की सजा या पीड़ा और ज्यादा सहन न करनी पड़े, यही अेक-मात्र हमारी प्रार्थना है। अगर हमारी बुद्धि शुद्ध रहे, हृदय अुदार रहे, दृष्टि निर्मल और दूरदर्शी रहे, तो हमें और कुछ नहीं चाहिये। बाकीके सब साधन हम अपने ही पुरुषार्थसे अिकट्ठे कर लेंगे। जहां हमारी नहीं चलती वहीं हम तुमसे प्रार्थना करते हैं। हे हृदयस्थ परमात्मन्! हमारे हृदयको शुद्ध करो, अुदार बनाओ, तेजस्वी और क्षमाशील बनाओ, जिससे हमारा अुद्धार हो जाय!

जनवरी, १९४०

७२

पवित्र संकल्प

पुरानी बाअिबलमें अेबल और केन नामके दो भाअियोंकी अेक कथा है। भाअी होते हुअे भी केनमें दुश्मनी जागी और अुसने अेबलका खून कर दिया। दुनियाकी यह पहली बंधुहत्या थी। अिन दो भाअियोंका अुदाहरण सामने रखकर दूसरे दुर्जन भी अपने भाअियोंकी हत्या करने लगे। अिस्लाममें कहा गया है कि 'केन' ही बंधुहत्याका आदि प्रचारक था, अिसलिअे जब कोअी मनुष्य अपने भाअीकी हत्या करता है तब अुसके पापका थोड़ा भाग 'रॉयल्टी' के रूपमें केनके नाम पर जमा होता है!

अिसी प्रकार जब कोअी मनुष्य किसी भी तरहकी भलाअी करता है और अुसके अिस सत्कृत्यका अनुकरण होने लगता है, तब अिस प्रकार बढ़नेवाली अुस भलाअीकी कुछ न कुछ 'रॉयल्टी' सदाचारके अुस प्रवर्तकको अवश्य मिलती है।

अितना जाननेके बाद भारतवर्ष निर्वैर बंधुताका पुण्य अेकत्र करनेका संकल्प क्यों न करे?

सितम्बर, १९४१

७३

कौनसा मार्ग स्वीकार करेंगे?

संस्कृतमें शत्रुको 'सपत्न' कहा जाता है। अेक ही पिताके पुत्र माताके अलग होनेसे अेक-दूसरेके साथ लड़ते-झगड़ते हैं और अेक-दूसरेके शत्रु बन जाते हैं। अुनकी अिस मूर्खताको प्रकट करनेके लिअे हमारी संस्कारी भाषाने शत्रुके लिअे 'सपत्न' शब्द रख दिया। अिसका अर्थ है 'सौतेला भाअी।'

परन्तु अेक ही माताके पुत्र भी शत्रु बनकर आपसमें लड़ सकते हैं। अेक ही नदीका पानी पीनेवाले लोग आमने-सामनेके किनारों पर रहने लगते हैं, तब अपने अपने खेतोंमें नदीका पानी खींचनेके लिअे आपसमें लड़ते-झगड़ते हैं! नदीके तीरको, किनारेको, 'कूल' कहा जाता है। जो लोग सामनेके किनारे पर रहते हैं वे हमारे 'प्रति-कूल' हैं और जो लोग हमारी ओर रहते हैं वे 'अनु-कूल' हैं। 'अनुकूल' लोग अेकसाथ मिलकर 'प्रतिकूलों' से हमेशा लड़ा करते हैं।

(नदीके पानीके लिअे) जिस प्रतिस्पर्धीके साथ झगड़ा होता है, अुसे अंग्रेजीमें 'राअिवल' कहा जाता है। 'राअिवल' का सम्बन्ध 'रिवर' यानी नदीके साथ है।

बुद्ध भगवानके समयमें अेक बार अनुकूल और प्रतिकूल नदी-पुत्र आपसमें लड़ने लगे। दोनोंमें घोर युद्ध होनेवाला था, अितनेमें बुद्ध भगवानको पता चला तो वे युद्धस्थल पर पहुंच गये। दोनों पक्षोंके नेताओंको बुलाकर अुन्होंने अेक सीधा-सादा प्रश्न अुनसे पूछा : "पानीकी कीमत ज्यादा है या मनुष्यके खूनकी?" दोनोंके मुंहसे अेक ही अुत्तर निकला : "बेशक, मनुष्यके खूनकी कीमत पानीकी कीमतसे कहीं ज्यादा है।"

"तो फिर पानीके लिअे मनुष्यका खून बहानेमें कोअी बुद्धिमानी है?"

बुद्ध भगवानके अिस प्रश्नसे दोनोंकी आंखें खुल गअीं और लड़ाअी टल गअी।

कितने भोले थे भगवान बुद्ध और कितने भोले थे अुस जमानेके लोग? सीधी बातको वे तुरन्त समझ गये और अुसे अुन्होंने मान भी लिया। आज राजनीतिशास्त्र बहुत आगे बढ़ गया है। आज यूरोप और अमेरिकाके लोगोंसे कोअी महात्मा पूछे कि "पेट्रोलकी कीमत ज्यादा है या मनुष्यके खूनकी?", तो वे लोग कहेंगे कि "थोड़ा सोचना पड़ेगा।" आजकल मनुष्यका खून बहुत ही सस्ता हो गया है। वे लोग जनसंख्याका शास्त्र खोज निकालेंगे और तर्क करेंगे कि युद्धके सिवा मानवका विकास ही नहीं हो सकता। अिस प्रकार वे अधर्मको धर्मका रूप देंगे और जोरोंसे बंधुहत्या करते रहेंगे।

आज राजनीतिका दिवाला निकल चुका है। बड़े बड़े धर्म अधार्मिक लोगोंके हाथोंमें पड़कर निस्तेज बन गये हैं। केवल अेक हृदय-धर्म ही आज बचा है, जो हमें माताकी गोदमें मिलता है। वैसे संपत्तिशास्त्र आज अर्थशास्त्रका नाम धारण करके अनर्थ कर रहा है। अब तो जगतका अुद्धार तभी होगा जब हम हृदय-धर्मको दृढ़तासे पकड़े रहेंगे और अपनी बुद्धिको विचलित नहीं होने देंगे।

अप्रैल, १९४१

७४

'समाना हृदयानि वः'

परमात्माका यह आदेश ॠग्वेदके अंतिम मंडलके अंतमें आया है। सब तरहका आध्यात्मिक ज्ञान देनेके बाद वेद भगवानने संगठनका मंत्र बताया है। जो लोग धर्मको नहीं जानते, असंस्कारी हैं, असंयत हैं, स्वार्थी हैं, द्रोही हैं, अुनका संगठन जगतके लिअे विनाशक ही होता है। अिसलिअे धर्म-रहस्यका पूरा ज्ञान देनेके बाद ही भगवानने संगठनका अुपदेश किया है।

यह वैदिक अुपदेश मनुष्य-जातिके लिअे अत्यन्त हितकारी है।

"हे धार्मिको, अीश्वर पर श्रद्धा रखकर तुम सब अेक ही दिशामें प्रगति करो। तुम्हारी वाणीमें परस्पर सामंजस्य हो। तुम अपने मनको अेक ही आदर्श-के लिअे संस्कारी बनाओ; और देवोंमें जैसा अपने-अपने कर्तव्योंका पालन करनेका आग्रह रहता है, अुसी तरह तुम भी अपने अपने हिस्सेमें आये हुअे कर्तव्योंका पालन करो।

"तुम लोगोंकी कार्यनीति (मंत्र) अेक ही प्रकारकी हो। अपना हित सोचने-वाली तुम्हारी सभा भी अेक ही हो। तुम्हारे मन और चित्त कभी भी परस्पर विरोधी न हों। अिस संगठनको अगर दृढ़ करना है, तो तुम्हें अेक ही विचारसे चलना होगा; और सब प्रकारके अुपभोगोंमें भी तुम्हारे बीच असमानता नहीं होनी चाहिये। अुपभोगोंमें असमानता आनेसे वैमनस्य पैदा होता है और अेक आदर्श भी नहीं बना रह सकता। अिससे संगठन टूट जाता है। अिसलिअे मेरा आदेश है कि अपना ध्येय तुम अेक रखो और रहन-सहनका दर्जा भी अेकसा रखो।

"तुम लोगोंका हेतु और ध्येय, सब अेकसा ही रहना चाहिये। तुम्हारे हृदय भी अेक हो जायें। तुम्हारे मन भी अेकसे हो जायं। अिसी मार्ग पर चलनेसे तुम्हारा संगठन अच्छी तरह टिक सकेगा और तुम्हारा कल्याण होगा।"

वेदके अिस अंतिम अुपदेशका हार्द क्या है? जीवन अेकसा हो, अुपदेश अेक हो, मंत्र अेक हो, प्रगतिकी दिशा अेक हो। यह सब तभी सिद्ध हो सकता है जब सबके हृदय अेकरूप होंगे, जब सब लोग अेक-दूसरेको मित्रकी नजरसे, भाअी-भाअीकी नजरसे देखने लगेंगे। विचारोंमें चाहे जितनी भिन्नता हो, लेकिन यदि हृदय अेक हैं तो अेक-दूसरेकी बात समझनेमें कोअी कष्ट नहीं होगा।

सबसे बड़ी शक्ति तो सत्यकी ही है। यह सत्य हृदयसे ही जाना जाता है। याज्ञवल्क्य कहते हैं:

'हृदयेन हि सत्यं जानाति। हृदयं हि अेव आत्मा।'

अिसलिअे यदि हृदय शुद्ध हों और हृदयोंका परस्पर मेल हो, तो बाकी सब कुछ आप ही आप सिद्ध हो जायगा। भगवानके आदेशका हार्द यह है कि तुम्हारे हृदय अैसे शुद्ध हों, अैसे अुदार हों, कि अुनमें आपसी मेल आप ही आप स्थापित हो जाय। तुम्हारे हृदय अेकरूप होकर मिल जायं, तो वही संगठन है, वही सामर्थ्य है, वही सिद्धि है।

जुलाओ, १९४१

७५

तत्त्व और व्यवहार

"आप तो आदर्श-लोकके वासी हैं। व्यवहारमें अैसे आदर्श नहीं चल सकते। मनुष्य परिस्थितियोंको स्वीकार करे और व्यवहारकी रक्षा करे, तो ही अिस दुनियामें वह टिक सकता है।" अिस तरह कहनेवाले लोग कदम कदम पर मिलते हैं। यह 'व्यवहार', ये 'परिस्थितियां' क्या चीज हैं, अिसे हमें जरा देखना चाहिये।

व्यवहार अेक सत्य वस्तु है, किन्तु वह हमेशा अच्छी वस्तु ही नहीं होता! बीमारीमें नुकसान करनेवाली चीज भी खानेका मन होता है। यह वासना सत्य तो है, परन्तु अिसके वश होनेमें न तो मनुष्यका श्रेय है और न पुरुषार्थ है।

बहुत बार तत्त्व अूपर अुठानेवाला होता है, जब कि व्यवहार नीचे गिरानेवाला सिद्ध होता है। अिन दोनोंके बीच सनातन संग्राम चलता आया है। अिन दोके बीच समाधान या समझौता करनेके अनेक प्रयत्न दुनियामें होते आये हैं। परन्तु व्यवहार अत्यन्त दुराग्रही है। तत्त्व-पक्ष समझौतेकी शर्तोंको स्वीकार करता है, लेकिन व्यवहार-पक्ष जैसे जैसे सुविधायें मिलती जाती हैं वैसे वैसे अधिक सुविधायें मांगता ही जाता है और अंतमें तत्त्वकी हत्या करके ही शांत होता है। अतः तत्त्व-पक्षको हमेशा सतर्क और जाग्रत रहना चाहिये और व्यवहारके साथ कभी स्थायी समझौता नहीं करना चाहिये।

तत्त्व और व्यवहारके बीच चलनेवाले अिस सनातन युद्धमें हमें कौनसा पक्ष स्वीकार करना चाहिये? किस पक्षके प्रति हमें सहानुभूति रखनी चाहिये? किस झंडेके नीचे हमें भरती होना चाहिये? — यह जीवनका बड़ेसे बड़ा सवाल है। जीवनमें व्यवहार-पक्षका अस्तित्व तो स्वीकार करना ही पड़ता है। किन्तु व्यवहार-पक्षके अस्तित्वको स्वीकार करना अेक बात है, और अुसके हिमायती बनना दूसरी बात है। व्यवहार-पक्ष आरंभमें सदा सौम्य, समझदार और सुन्दर स्वभाववाला दिखाअी देता है और यही कारण है कि हम अुसके वशमें हो

जाते हैं। परन्तु अेक बार व्यवहार-पक्षकी ओर हमने अपना मत दिया, हाथ अूंचा किया, कि अुसका साम्राज्य हमारे सिर पर लदा ही समझिये। और अेक बार अुसका साम्राज्य स्थापित हुआ, फिर तो व्यवहारका अत्याचार हम पर जोरोंसे बढ़ता ही जायगा।

व्यवहार अितना चतुर है कि तत्त्वकी हत्या करनेके बाद भी वह अुसके शवको सुरक्षित रखता है, ताकि तत्त्व-पक्षके लोग अिस भ्रममें पड़े रहें कि तत्त्व अभी भी जीवित है। व्यवहार हमेशा कहता है: "नामका राजा कोअी भी हो, मुझे अिसकी परवाह नहीं। सत्ता मेरी अपनी चले तो मुझे संतोष है।"

आज हमारे समाजमें तत्त्ववादी कितने हैं और व्यवहारवादी कितने हैं? तत्त्वनिष्ठ लोगोंकी संख्या राष्ट्रमें बढ़ती है तब देश अूपर अुठता है। व्यवहार-वादियोंसे कभी किसी समाज या राष्ट्रका अुद्धार नहीं हुआ है।

३–९–'२२

७६

यथार्थवाद बनाम ध्येयवाद

यथार्थवाद और ध्येयवादका झगड़ा केवल साहित्यमें ही नहीं, परन्तु राज-नीतिक क्षेत्रमें भी बढ़ गया है। जहां दो भिन्न वस्तुअें अिकट्ठी होती हैं वहां दोनोंमें परस्पर विरोध होना ही चाहिये, यह मान लेना अेक भारी भ्रम है। परिवारमें सत्ता किसकी चले: पिताकी या माताकी? अिस तरहका प्रश्न अुठाकर परिवारका नाश करना असंभव नहीं है।

यथार्थवाद और ध्येयवादके बीच विरोध कहां है? जिन लोगोंको कोअी पुरुषार्थ या प्रयत्न ही नहीं करना है, वे यथार्थवादके आधार पर ध्येयवादका विरोध करते रहते हैं। त्याग, बलिदान, आत्म-संयम, निर्भयता आदि चारित्र्यके अुज्ज्वल पहलुओंको नष्ट करनेके लिअे ध्येयवादका विरोध करना आसान है।

जिन लोगोंको केवल-कलाके नाम पर केवल विलास ही करना है और अपने जीवनमें जरा भी परिवर्तन किये बिना आदर्शकी बड़ी बड़ी बातें करनी हैं, अुनका ध्येयवाद नामका ही होता है। परन्तु जिन लोगोंने न्यायदानमें भाग लिया है, शिक्षणके क्षेत्रमें वर्षों तक अपने जीवनका अुत्तम समय बिताया है, जो लोग व्यापार-अुद्योगमें सफल रहे हैं और जिन लोगोंने राजनीति द्वारा देशको जाग्रत करके स्वतंत्रताका मार्ग दिखाया है, अुन लोगोंका ध्येयवाद आपके यथार्थवादको नहीं पहचान सकता यह आप कैसे कह सकते हैं?

सच बात तो यह है कि यथार्थवादके कीचड़से ही जीवनका कमल अुत्पन्न होता है। किन्तु ध्येयरूपी सूर्य-प्रकाशकी मददसे ही, अुसके आकर्षणसे ही, वह

कमल जीवनकी सतहसे अूपर अुठकर अपनी कल्याणमय प्रसन्नताको विकसित कर सकता है। यदि गंदे लेकिन पोषण देनेवाले कीचड़से कमलको अलग कर दिया जाय, तो पानीमें तैरते हुअे भी वह सड़ जायगा। परन्तु यदि सूर्य-प्रकाशसे अुसे हर तरह वंचित रखा जाय, तो कमलका अस्तित्व ही असंभव हो जायगा। फिर तो अुसके रंग, रूप, सुगंध, ताजगी और कोमल प्रसन्नताका प्रश्न ही खड़ा नहीं होगा। यथार्थवादकी स्वीकृति आवश्यक है, परन्तु अुसके साथ ध्येय-वादकी प्रेरणा भी प्राणरूप है। जिन्हें कीड़े बन कर कीचड़में ही रहना हो वे भले वहां रहें। परन्तु वहां पड़े पड़े ध्येयवादकी निन्दा करके वे देशकी स्वतंत्रता तथा भाषाके चैतन्यका द्रोह कभी न करें।

मार्च, १९३९

७७

बुद्धि और अुसका विकास

[प्रश्नोत्तर]

प्रश्न -- बुद्धि क्या है? वह मनुष्यमें जन्मसे ही कम-ज्यादा होती है या प्रयत्नसे बढ़ाअी जा सकती है? यदि प्रयत्नसे बढ़ाअी जा सकती हो, तो बुद्धि-को बढ़ानेके लिअे क्या क्या अुपाय करने चाहिये?

अुत्तर -- बुद्धि क्या है, अिसका अुत्तर देना कठिन है। परन्तु बुद्धिका अनु-भव और परिचय तो सबको होता ही है।

संभव है, बुद्धि असलमें विश्व-व्यवस्थाकी, मनुष्यके अंतरमें अुठनेवाली, प्रतिध्वनि हो। अीश्वरका स्वभाव और सृष्टिकी रचना, दोनोंके साथ मनुष्यका सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध शायद बुद्धिके द्वारा व्यक्त होता होगा।

मनुष्यका जन्म अुसकी जीवन-परंपराका आरंभ नहीं है। वह तो जीवन-परम्पराकी अेक बीचकी अवधि या दशा है, दो मुकामोंके बीचकी अेक मंजिल है। जब मनुष्य अपने पूर्वकर्मोंके अनुसार नया जन्म लेता है, तब वह अपने पूर्व-जन्मानुभवका सार-सर्वस्व, अुत्तम अंश, अपने साथ लाता है। अिसलिअे जन्मके समय ही बुद्धिधर्ममें भेद होता है। दो मनुष्योंमें बुद्धिधर्मका जो भेद मालूम होता है, अुसमें केवल मात्रा अथवा परिमाणका ही भेद नहीं होता, परन्तु प्रकारका भेद भी होता है। केवल 'degree' (मात्रा) का ही नहीं, परन्तु 'kind' (प्रकार) का भी भेद दिखाअी देता है। शरीर, आहार, स्वभाव, वासना, संगति वगैरा असंख्य बातोंका बुद्धि पर असर होता है।

गीताने बुद्धिके सात्त्विक, राजसिक और तामसी तीन प्रकारके भेद तो बताये ही हैं।

शरीरको नीरोग और शुद्ध रखनेसे, अपच और कब्जियतको टालनेसे, आलस्यके बिना बुद्धिका अुपयोग करनेसे तथा आत्म-परीक्षण द्वारा बुद्धिको शुद्ध और तेज बनानेसे अवश्य ही बुद्धिशक्तिका विकास होता है।

बुद्धिका जितना विकास ज्ञानेन्द्रियोंसे होता है, अुसकी अपेक्षा कर्मेन्द्रियोंसे अधिक होता है; अितना ही नहीं, कर्मेन्द्रियोंकी तालीमसे बुद्धिका अनिश्चय दूर होता है और वह निश्चयात्मिका बनती है। 'बुद्धिः कर्मानुसारिणी।'

शुद्ध हेतुसे, निःस्पृह और निर्विकारी जीवन जीनेसे बुद्धि तेज और दृढ़ होती है। हृदय-शुद्धि होनेसे बुद्धिमें अेकाग्रता भी आती है और अुसकी विकिरण-शक्ति, radiating शक्ति, भी विकसित होती है।

अिसके सिवा, अीश्वर-कृपासे भी बुद्धि बढ़ सकती है। गीतामें भक्तकी जो व्याख्या है वही स्थितप्रज्ञकी भी है। भगवान कहते हैं: 'सच्चे भक्तोंको मैं बुद्धियोग देता हूं, जिससे वे परम रहस्यको भी पा सकते हैं।'

यहां मुझे अितना स्पष्ट कर देना चाहिये कि मैं केवल तर्क-चातुर्यको बुद्धि मानता ही नहीं। कभी कभी तो वह बुद्धिका अेक विकार ही होता है।

अक्तूबर, १९३९

७८

मित्रता क्या है?

[प्रश्नचर्चा]

अेक बड़े आदमीके नौकरने अपने मालिकसे अेक दिनकी छुट्टी मांगी। अुसने मालिकसे कहा: "मेरा अेक मित्र मुझसे मिलनेके लिअे आनेवाला है। अिसलिअे मेरा घरमें रहना जरूरी है।" मालिकने पूछा: "क्या तेरा मित्र सच्चा मित्र है?" नौकरने अुत्साहसे कहा: "जी हां, वह मेरा बिलकुल सच्चा मित्र है।" यह सुनकर मालिकने तुरन्त अपने कपड़े पहन लिये। फिर वह बोला: "चल, मैं भी तेरे साथ आता हूं। अपनी जिन्दगीमें मुझे पहली ही बार सच्चा मित्र देखनेका सौभाग्य मिलेगा।"

बहुतेरे लोग यह मानते हैं कि सच्ची मित्रता जैसी कोअी चीज दुनियामें है ही नहीं। अंग्रेजीके अेक कविने मित्रताके बारेमें बहुत ही कड़वी पंक्तियां लिखी हैं:

"And what is friendship but a name;
A charm that lulls to sleep,
A shade that follows wealth and fame
And leaves the wretch to weep."

"मित्रता केवल अेक शब्द ही है। मित्रता अेक संमोहन मंत्र है, जो भोले-भाले लोगोंको भुलावेमें डालकर सुला देता है। सच पूछा जाय तो मैत्री धनवान और कीर्तिवान लोगोंकी खुशामद करती है और दीन-दुखियोंको अेक कोनेमें बैठकर रोनेको छोड़ देती है।"

जो लोग स्वार्थी हैं और स्वार्थी न भी हों तो जो अहंप्रेमी हैं, स्वार्थत्याग करते समय भी अपनी अिच्छाका खयाल रखते हैं, वे तो यही मानते हैं कि मित्रतामें कोअी सार नहीं है।

परन्तु महात्मा गांधी जैसे लोग, जिन्होंने सच्ची मित्रताका अनुभव किया है, जिन्होंने स्वयं अपनेको सच्चा मित्र सिद्ध कर दिखाया है, कहते हैं: "जो लोग मोक्षकी अिच्छा रखते हैं, जो लोग केवल अीश्वर-प्राप्तिके लिअे अपने जीवनका बलिदान देना चाहते हैं, अुनका कोअी मित्र नहीं होता। दूसरे प्रकारसे कहा जाय तो वे सारी दुनियाको अपना मित्र मानते हैं। अुनका कोअी खास मित्र नहीं हो सकता।"

मद्रासमें मुझे अेक अंग्रेज भक्त मिले थे। अुनसे मेरा अच्छा परिचय हो गया था। अुनके पास शरीर पर पहने हुअे कपड़ोंके सिवा अेक कमीज और अेक पायजामा ही था। (नहीं, अेक शाल भी थी)। अेक हाथ-थैलीमें अिन चीजोंको रखकर वे कहीं भी चल देते थे। रातको समुद्र-तट पर रेतमें ही सो जाते थे। अुनसे बातें करते करते मैंने मित्रताकी बात छेड़ी। अुन्होंने आवेशमें आकर मुझे मैकटेगार्टका यह वचन कह सुनाया: Friends! there are no friends; there are only accomplices."

"आप मित्रकी बात करते हैं? अिस दुनियामें कोअी किसीका मित्र नहीं है। जो होते हैं वे सिर्फ अपराधमें अेक-दूसरेकी मदद करनेवाले साथी, शागिर्द या यार होते हैं।

संस्कृत साहित्यमें मित्रका स्थान धोखेबाजोंमें नहीं आता। हमारे सुभाषितोंमें मित्रकी परिभाषा अिस प्रकार दी गअी है: 'अच्छी या बुरी दशामें जो मनुष्य समान भावसे हमारे साथ रहता है वही मित्र है।'

मित्रताका स्थान माता-पिता, भाअी-बहन, गुरु-शिष्य, पति-पत्नी आदिके पवित्र और अुत्कट सम्बन्धकी पंक्तिमें माना जाता है। गुरु-शिष्यका तथा मित्र-मित्रका सम्बन्ध स्वेच्छासे बंधता है। बाकी सब सम्बन्धोंमें नसीबका हाथ होता है। अिसलिअे अिन दो सम्बन्धोंकी कोअी निराली विशेषता मानी जाती है। यही कारण है कि मित्रके सम्बन्धको बनाये रखनेके लिअे बड़ी सावधानीसे काम लेना पड़ता है।

अूपरकी भूमिकाको ध्यानमें रखकर हम नीचेके प्रश्नोंकी चर्चा करेंगे:

"मित्र द्वारा हमारा अपमान हो तो अैसी स्थितिमें हम क्या करें?"

अिस प्रश्नका अर्थ यह होता है कि अपमान होने पर भी प्रश्न पूछनेवाले भाअी अपने मित्रको मित्र ही मानते हैं। अैसी स्थितिमें मित्रका व्यवहार अपमानजनक लगना ही नहीं चाहिये अथवा अुसे चुपचाप सहकर मनको बड़ा रखना चाहिये । जिस प्रकार बेचारी पत्नी पतिके हाथों होनेवाले अपमानको चुपचाप बरदाश्त कर लेती है, अुसी प्रकार मित्रके हाथों होनेवाले अपमानको भी चुपचाप बरदाश्त कर लेना चाहिये। मैत्री दोनों पक्षोंसे भक्तिकी अपेक्षा रखती है। प्रत्येक मित्र अपने मित्रका भक्त होना चाहिये। जब अेक अृषिने स्वयं ब्राह्मण होनेके कारण भगवान श्रीकृष्णकी छातीमें लात मारी तब श्रीकृष्णने अुस लातको बहुमूल्य अलंकार मानकर बड़े गर्वसे अुसका आदर किया और कहा: 'हम भक्तनके भक्त हमारे! ' अुसी समयसे भगवानका नाम श्रीवत्सलांछन पड़ गया। जिन मित्रोंमें परस्पर आदरका भाव नहीं होता, अुनकी मित्रता लम्बे समय तक टिकती नहीं । और जहां दोनोंके बीच आदरका भाव होता है वहां अपमान होना सर्वथा असंभव है।

*

अेक यह प्रश्न पूछा गया है: "कोअी व्यक्ति अेकसे अधिक व्यक्तियोंके साथ मित्रताका सम्बन्ध बांधे, तो अुन सब मित्रोंके साथ समानता कैसे रखी जाय?"

जो लोग मित्रोंके सम्बन्धको आशिक और माशूकका सम्बन्ध मानते हैं, अुन्हींको अिस कठिनाअीका सामना करना पड़ता है। सच बात तो यह है कि किन्हीं भी दो मनुष्योंके बीचका सम्बन्ध किन्हीं दूसरे दो मनुष्योंके बीचके सम्बन्ध जैसा होता ही नहीं। प्रत्येक सम्बन्ध अद्वितीय अथवा अनन्य (unique) होता है। बात अितनी ही है कि अैसे अनेक सम्बन्धोंको मित्रता या दोस्ती जैसा सर्व-सामान्य नाम दिया जाता है।

*

"मित्रता समान कक्षाके लोगोंमें ही संभव है, अिस कथनका क्या रहस्य है?"

दुनियाका यह सामान्य अनुभव है कि दो मित्रोंके बीच आयुकी, सामाजिक प्रतिष्ठाकी तथा बौद्धिक विकासकी स्थूल समानतायें भी न हों, तो अैसी मित्रता घनिष्ठ नहीं हो सकती। लेकिन अगर किसीका जीवन धन-दौलत, सामाजिक प्रतिष्ठा, आयु आदिकी बातोंसे अलिप्त रह सके, तो अिन बातोंमें अधिकसे अधिक असमानता होने पर भी मित्रतामें बाधा नहीं आती। परन्तु अिस स्थितिमें भी दोनों ही मित्रोंके मनमें अलिप्तता होनी चाहिये। वर्ना अेकका मन अधिकसे अधिक शुद्ध या अुदार होने पर भी दूसरेके दोषके कारण मित्रता टूटनेकी संभावना रहती है।

मानव-जीवन दो प्रकारका होता है: आंतरिक और बाह्य। जो लोग बाह्य जीवनका विचार छोड़ देते हैं, वे बाह्य असमानताके होते हुअे भी मित्रके रूपमें रह सकते हैं। किन्तु यदि आंतरिक जीवनमें संपूर्ण मेल न हो, तो दोनोंकी मित्रता टिक नहीं सकती।

कवियोंने श्रीकृष्ण और सुदामाकी मित्रताका वर्णन चाहे जितने स्वाभाविक और रोचक ढंगसे किया हो, परन्तु मेरी दृष्टिसे वह आदर्श मित्रताका वर्णन नहीं है।

*

अेक और प्रश्न अिस प्रकार है: "मनुष्य अपने सम्बन्धोंके बारेमें जब निराश हो जाय तब वह आश्वासन कैसे प्राप्त करे?"

जीवनका और जीवन-व्यवहारका स्वरूप ही अैसा है कि अुसमें अनेक लोगोंके साथ अनेक प्रकारके सम्बन्ध स्थापित होते रहते हैं। हर व्यक्तिके साथ हमारा सम्बन्ध अलग प्रकारका होता है। अैसे सम्बन्धोंके कारण मनुष्यमें जो विश्वास अुत्पन्न होता है, जो प्रेम बढ़ता है और जो आधार अुसे मिलता है, अुनकी मधुरता अुसके लिअे अुच्च प्रकारका भोजन सिद्ध होती है।

प्रत्येक सम्बन्धके साथ कोअी न कोअी आशा, अपेक्षा और अधिकार जुड़ा होता है। जब यह अपेक्षा टूट जाती है, आशा निराशामें बदल जाती है और अधिकार मंजूर करनेसे अिनकार किया जाता है, तब मनुष्य अस्वस्थ और अशांत हो जाता है। अुसे प्राणांतक दुःख होता है और चारों ओर अंधेरा ही अंधेरा दिखाअी देता है। अैसी स्थितिमें अुसे आश्वासन या समाधान कैसे मिल सकता है? मनुष्य अपनी सदाकी स्वाभाविक स्थितिको पुनः कैसे प्राप्त कर सकता है? वह कैसे स्वस्थ और शांत रह सकता है? यही हमारा प्रश्न है।

अितनी बात हमें स्वीकार करनी चाहिये कि मित्रताके सम्बन्ध बढ़ने पर हमारे कार्यका विस्तार बढ़ता है, हमारी शक्ति भी बढ़ती है और कभी कभी तो हमारा कर्तव्य भी अधिक कठिन हो जाता है। अिसके साथ यदि हमारा परावलंबन भी बढ़े, तब तो भारी खतरा पैदा हो जाता है। हमारा आंतरिक जीवन सदा स्वावलंबी, स्वयंपूर्ण और स्वतंत्र होना चाहिये। प्रेमकी वजहसे हमारे हृदयमें असहायता, परावलंबन और अपूर्णताकी भावना नहीं बढ़नी चाहिये। जो प्रेम दूसरेसे बदलेकी आशा रखता है, वह शुद्ध प्रेम नहीं होता। प्रेममें प्रतिफलकी यानी प्रत्युपकारकी भावना नहीं होनी चाहिये। जहां आशा ही नहीं रखी जाती वहां निराशा कैसे पैदा हो सकती है? जहां देनेके साथ मनमें लेनेकी बात ही नहीं अुठती वहां कृतज्ञताकी आशा कभी पैदा ही नहीं होती; तब फिर किसीकी कृतघ्नतासे वेदना तो हो ही कैसे सकती है?

अप्रैल, १९३७

७९

आत्माकी कल्पना

आत्माकी कल्पना करनेका काम बड़ा कठिन है। कहा गया है कि योग-युक्त परिव्राजक संन्यासी और रणमें विरोधीके शस्त्रसे घायल हुआ निर्भय वीर — दोनों सूर्य-मंडलको भेद कर जाते हैं। तो वे कहां जाते होंगे? अुन्हें तो आत्माका ही दर्शन होता होगा? प्रत्येक वीरकर्म आत्माका कुछ दर्शन — थोड़ी झांकी — मिलनेसे ही संभव होता है; क्योंकि वह आत्माकी ही शक्ति है। प्रियसे प्रिय जीवनको स्वेच्छासे खोनेकी शक्ति आत्मासे ही अुत्पन्न हो सकती है। केवल निराशाके कारण ही सर्वस्वका त्याग हो ही नहीं सकता। अथवा यदि भले निराशासे, किन्तु परिपूर्ण त्याग हुआ हो और फिर भी वह सच्चा त्याग हो, तो वह कभी विफल नहीं जायेगा; निराशाका रूपांतर करके वह शुद्ध आस्तिकताको ही जन्म देगा। जैसे हरअेक वाक्यके बाद पूर्ण-विराम आता है वैसे प्रत्येक सत्कार्यके फलस्वरूप आत्माका कमोबेश दर्शन होता ही है। भोजनके बादकी तृप्ति यदि आनंददायक हो, तो सत्कार्यके बादकी शांति आत्म-दर्शन करानेवाली होनी ही चाहिये।

अेक बार मुझे लगा कि सद्भाव ही आत्मा है, तटस्थता ही आत्मा है, परम श्रद्धा ही आत्मा है। परन्तु प्रत्येक मानवमें सद्भाव नहीं होता, यद्यपि आत्मा तो सर्वव्यापी है, सर्वान्तर्यामी है। सद्भावको ही आत्मा कैसे कहा जाय? आत्मा सर्वव्यापी है, परन्तु वह सर्वत्र समान रूपमें प्रकट नहीं हुअी है। अिसमें कोअी शंका नहीं कि वह सब जगह मौजूद है। जिसे हम सद्भाव-शून्य मानते हैं, जो दुर्जनतामें ही आनंद मानता है, वह मनुष्य भी दुर्जनताका पूजक नहीं होता। वह दुर्जनताका दास होता है, मित्र होता है। हम सहानुभूतिसे जांच करें तो मालूम होगा कि दुर्जन मनुष्यमें भी दुर्जनताकी मर्यादा होती है। 'अिससे आगे नहीं ही जाना चाहिये,' अैसा कोअी पैमाना अुसके पास जरूर होता है। 'मैं जितना (दुर्जन) हूं अुससे अधिक दुर्जन नहीं हूं,' अिसका आनंद या संतोष हरअेक मनुष्यके हृदयमें रहता है। यदि वस्तुस्थितिके क्षेत्रसे संभावनाका क्षेत्र अमर्यादित रूपमें बड़ा हो, तो प्रत्येक मनुष्य आत्म-कल्याण चाहनेवाला ही माना जायगा। और तब तो यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि सद्भाव ही आत्मा है।

शर्त अितनी ही है कि हमें सद्भावका व्यापक स्वरूप जानना चाहिये।

१९३१

अन्य लेखकोंकी विशिष्ट पुस्तकें

अभिनव रामायण	३.००
आशाका अेकमात्र मार्ग	२.००
अेकला चलो रे	२.००
गांधी और साम्यवाद	१.२५
गांधीजी : अेक झलक	१.५०
गांधीजी और गुरुदेव	०.८०
गांधीजीकी साधना	३.००
गांधी-विचार-दोहन	२.५०
गीता-मन्थन	३.००
ग्राम-संस्कृतिका अगला चरण	१.८०
ग्रामसेवाके दस कार्यक्रम	१.२५
जड़मूलसे क्रांति	१.५०
जीवन-शोधन	३.००
ठक्करबापा	३.००
नेहरूजी — अपनी ही भाषामें	३.५०
बापूकी छायामें	४.००
बापूकी विराट् वत्सलता	१.००
बिहारकी कौमी आगमें	३.००
बुद्ध और महावीर	१.५०
बुनियादी शिक्षामें अनुबंधकी कला	२.५०
महात्मा गांधी : पूर्णाहुति — १	८.००
राम और कृष्ण	२.००
विचार-दर्शन : १, २	३.००
विवेक और साधना	४.००
संसार और धर्म	३.००
सरदार वल्लभभाओी — १	६.००
सरदार वल्लभभाओी — २	५.००
सर्वोदय तत्त्व-दर्शन	६.००
स्त्री-पुरुष-मर्यादा	१.७५
हमारी बा	२.००

नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद — १४

काकासाहब कालेलकरकी कुछ अन्य पुस्तकें

अुस पारके पड़ोसी — रु० ३.५०

लेखक द्वारा किये गये पूर्व अफ्रीकाके दर्शनका, वहांकी प्रकृति तथा मानव-समाजके गहरे अध्ययन और निरीक्षणका तथा अफ्रीकाके विशाल भूखंडमें अफ्रीकी, एशियाअी और यूरोपीय संस्कृतियोंके समन्वयमें निहित मनुष्य-जातिके अुज्ज्वल भविष्यका रोचक वर्णन करनेवाली पुस्तक।

जीवन-लीला — रु० ३.००

भारतीय साहित्य अकादमी द्वारा भारतकी प्रमुख भाषाओंमें रूपांतर करनेके लिअे चुनी गअी भारतके नद-नदी, झील-सरोवर, प्रपात, समुद्र-तट तथा मृगजल आदिके रौद्र और सौम्य स्वरूपका सजीव तथा सुन्दर दर्शन करानेवाली पुस्तक।

बापूकी झांकियां — रु० १.२५

महात्मा गांधीके जीवनके अेक सौ अेक आकर्षक प्रसंगों द्वारा अुनके अुदात्त स्वभावके विविध पहलुओं पर प्रकाश डालनेवाली तथा गांधीजीका जीवन-चरित्र लिखनेके अिच्छुक लोगोंके लिअे बहुत कीमती सामग्रीसे भरी पुस्तक।

सूर्योदयका देश — रु० २.५०

लेखककी चित्रमयी भाषामें जापानी जीवनके सारे पहलुओंका — जापानके धर्म, कला, राजनीतिक स्थिति, प्रजाके पुरुषार्थ, प्राकृतिक सौन्दर्य तथा जापानी प्रजा पर अुसके प्रभाव, जापानके भविष्य आदिका — चित्रण करनेवाली पठनीय और संग्रहणीय पुस्तक।

नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद – १४